विरूप व्यङ्ग्यपूर्ण मेघाच्छन्न जीवनाकाश

की

रजत-रश्मि

को

आभार-संभार

जिन देशी-विदेशी लेखकोंकी रचनाओंसे प्रेरणा और व्याख्या-विवेचन एवं मत-निर्धारणमें सहायता मिली है तथा जिन कवियोंकी कृतियोंका विवेचन मैंने किया है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। उन कवियोंमें पुस्तक लिखनेके समयतक अप्रकाशित [अब 'सामधेनी-काव्य-संग्रहमें प्रकाशित] कविताकी विवेचना करनेकी अनुमति देनेवाले और बिहारके रस-सिद्ध कवि श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' और सौन्दर्यके कुशल शिल्पी डा० रामकुमार वर्मा विशेष उल्लेखनीय हैं। कई अलभ्य पुस्तकोंके प्राप्त करनेमें पटना कालेजके अध्यापक श्री दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी, एम०ए०ने तत्परतासे सहायता दी, उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। श्रद्धेय श्रीमान राजाबाबू और जननी-तुल्या श्रीमती रघुवंशी देवीकी सहृदयता और स्नेहका मोल आँकना मेरे लिए सम्भव नहीं, शक्य नहीं। अग्रज-तुल्य पण्डित काशिनाथ पाण्डेय, बी० ए०, एल-एल० बी० का इतना अधिक आभार मुझपर है कि वह शब्दोंके 'गागरमें' अँट नहीं सकता, अतः उन्हें धन्यवाद देनेकी धृष्टता मैं नहीं करूँगा। आलस्य-वश प्रेस-कापी तैयार न करने, अक्षरोंके अत्यन्त छोटे और अ-पाठ्य होने तथा असावधानीसे लिखी लिपिके कारण 'कम्पोजिटरोंको' अधिक असुविधाएँ हुई हैं, वैसे लेखके उद्धार करनेवाले 'कम्पोजिटर'-बन्धुओंका कम आभार मुझपर नहीं, इसलिए धन्यवादके साथ उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

रामखेलायन पाण्डे

विषय-सूची

गीति-काव्य

गीति-काव्यकी परम्परा

कविता जीवनका अन्तर्दर्शन और उसकी रागात्मक अभिव्यक्ति है। आदिम जीवनके प्रारम्भिक युगोंमें मानवताकी सुख-दुःखानुभूति वाणीके प्रसार-सङ्कोच एवं भङ्गिमाकी भिन्नताके अतिरिक्त और किसी रूपमें अभिव्यक्त नहीं होती रही होगी। पशु-पक्षीतकमें अनुभूति और उसकी अभिव्यक्तिकी क्षमता है। आनन्दके कारण जिस प्रकार मानवमें आत्म-प्रसारका भाव जाग्रत होता है, उसी प्रकार पशु-पक्षीमें भी। वाणी अथवा अन्य माध्यमोंद्वारा मनुष्यने अपनी अनुभूतियोंकी अभिव्यक्तिको स्थायित्व देनेकी चेष्टा की है किन्तु प्रकृतिके इन विवश प्राणियोंको कृत्रिमताके साधन उपलब्ध नहीं। रागात्मक अनुभूति और उसकी सहज अभिव्यक्ति इस प्रकार प्राकृतिक है। आध्यात्मिकता, दार्शनिकता एवं धार्मिकतासे प्रभावित सिद्धान्त इस जगत्को भी किसी अज्ञात शक्तिकी अभिव्यक्ति एवं आत्म-प्रकाश मानते हैं। उद्भिद् जगत्में भी राग-द्वेषात्मक अनुभूति है, यह सिद्धान्त वैज्ञानिकोंको भी अमान्य नहीं। कहा जाता है, क्रौंच-वध-कातर क्रौंचीकी करुण पुकारके कारण ही आदि-कवि वाल्मीकिकी विगलित करुणा अनुष्टुपके छन्दोंमें फूट पड़ी थी—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत् क्रौंच मिथुनादेकमवधिः काममोहितम् ॥

शास्त्रकारोंकी परम्परा स्वीकारकर इसमें करुणरस मान पंतकी भाँति—

वियोगी होगा पहला कवि
आहसे उपजा होगा गान
उमड़कर आँखोंसे चुपचाप
वही होगी कविता अनजान

कह .करुण-रसको ही आदि रस मानें अथवा शृङ्गारको। इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि क्रौंचीमें स्वभावज नैसर्गिक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति थी एवं उस अभिव्यक्तिमें संवेदनशीलता भी, जो वाल्मीकिका अन्तर छू सकी। छन्द, लय, ताल, स्वरैक्य और मेल, तारतम्य और सन्तुलनका विधान सहज शक्तिको सीमामें घेर रखनेका प्रयास है, जिसके द्वारा मनुष्यने देश-कालकी परिधिके अतिक्रमणकी चेष्टा की है। कला—कविता जिसका एक अङ्ग है—मानवीय सन्तुलन-प्रिय बुद्धिका फल है। जिस प्रकार व्याकरण भाषाको नियमित करनेके प्रयासका फल है उसी प्रकार सभ्यता, संस्कृति, आचार-नीति, धर्म आदि सामूहिक चेतनाको घेरेमें बाँधनेके उपक्रम। कविताके सम्बन्धमें विचार करते समय उसे इस भूमिकामें रखकर देखना, अतः, आवश्यक हो जाता है। विवश मानव-मनमें परिस्थितियोंके कारण सुख-दुःख, क्रोध-आक्रोश, आशा-निराशा, आवेश-उत्साहके क्षोभ उत्पन्न होते रहते हैं और उनकी अभिव्यक्ति वह उल्लासपूर्ण आवेश, करुणचीत्कार अथवा हास-अश्रुद्वारा करता रहा है, इस अभिव्यक्तिको सौन्दर्यिक चेतनाका आवेश और स्थायित्व देनेका प्रयास कलाद्वारा होता है। इस प्रकार कला स्वाभाविक अनुभूतियोंकी कृत्रिम माध्यमद्वारा अभिव्यक्ति है।

मानव-विकासके प्रारम्भिक युगमें अन्तर्दर्शनकी प्रवृत्ति नहीं रही होगी। वैयक्तिक अथवा सामूहिक जीवनमें अपेक्षाकृत विलम्बसे यह क्षमता आती है, कारण इसका विकास क्रमिक होता है। बच्चोंका प्रारम्भिक जीवन-काल मानव-जातिके जीवन-विकासकी संक्षिप्त पुनरावृत्ति उपस्थित करता है, इस प्रकार इतिहासकी पुनरावृत्तिद्वारा मानवीय चेतनाके विकासका संक्षिप्त संकेत उपलब्ध हो जाता है। जीवन-कालकी प्रारम्भिक अवस्थामें मानव-शिशु बाह्य-वस्तुओंसे प्रभावित एवं उनके प्रति आकृष्ट होता है, क्रमशः अपने शरीर, व्यक्तित्व और अनुभूतिका उसे ज्ञान होता है। भौतिक विज्ञानकी चरमोन्नतिके पश्चात् मनोविज्ञानका विकास इस कथनकी पुष्टि करता है। प्रारम्भिक विकास-युगमें मनोविज्ञान भी बाह्य अभिव्यक्तियोंसे अधिक सम्बद्ध था। मानसिक क्रिया और उसके अचेतन-प्रदेशमें प्रवेश करनेकी चेष्टा अपेक्षाकृत अत्यन्त आधुनिक है। सभ्यता एवं संस्कृतिके विकास-कालकी आदिम अवस्थामें मानवीय चेतना अपनेसे बाह्य अलौकिक शक्तियोंका प्रतीक बनाती थी अथवा किसी पूर्व पुरुषकी गाथाओंके प्रति भक्ति-विह्वल भावसे आकृष्ट थी। सम्भवतः उस समय उसे अपनी मानसिक शक्तियोंका ज्ञान नहीं था अतः उसके प्रति अनास्था भी थी। सामाजिक चेतनाके विकास-क्रममें प्रारम्भिक चेतना सामूहिक ही देखी जाती है। वैयक्तिक सुख-दुःख सामाजिक सुख-दुःख मात्र थे। जिसे हम वैयक्तिक सुख-दुःख, आशा-निराशा कहते हैं, उसकी चेतनाका विकास बहुत पीछे चलकर हुआ। धार्मिक कृत्योंके सामूहिक रूपका विकास इसीका स्वरूप-भेदभर है। वाल्मीकीय रामायणको आदि-काव्य स्वीकार करनेपर भी भरतका नाट्य-शास्त्र सूचित करता है कि रूपकोंकी रचना पहले हुई होगी अन्यथा रूपकोंके सिद्धान्त और उनकी विवेचनाकी आवश्यकता क्यों पड़ती?

नाट्य-शास्त्रके द्वारा पूर्वके कुछ शास्त्रकारोंकी भी सूचना मिलती है और उनका यत्किञ्चित् उल्लेख वहाँ प्राप्य है। दृश्य-काव्यके पश्चात् ही श्रव्य-काव्यकी रचना हुई होगी। रूपकमें अनुभूतिकी अपरोक्ष अभिव्यक्ति है और उससे आनन्द सामूहिक रूपसे प्राप्त किया जाता है। अपरोक्ष अनुभूतिके परोक्ष चित्रणके रूपमें महाकाव्योंका विकास हुआ, अतः महाकाव्योंमें नाटक-तत्त्वोंका विलक्षण मिश्रण मिलता है। महाकाव्यमें भी सङ्घर्ष—परिस्थितिगत और रागात्मक—उतना ही आवश्यक है जितना रूपकोंमें, यद्यपि इसे प्रत्यक्ष रूपसें भारतीय शास्त्रकारोंने स्वीकार नहीं किया है। जो साहित्यिक रूपक अथवा महाकाव्य मिलते हैं, उनके पूर्व-रूप कथा-काव्यके रूपमें, इनकी रचनाके पूर्व प्रचलित रहे होंगे और कवियोंने इन्हें साहित्यिक रूप दिया होगा। दृश्य और श्रव्यके रूपमें काव्यका विभाजन दोनोंके निकट सम्पर्ककी सूचना देता है। ऐसा संस्कार और परिष्कार भी सम्भवतः एक आदमीद्वारा नहीं हुआ होगा, कथाके रूपमें ही अनेक परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए होंगे, एवं अनेक व्यक्तियोंने साहित्यिक रूप देनेकी चेष्टा की होगी, उनके अत्यन्त विकसित रूप ही आज उपलब्ध हैं, अपेक्षाकृत अ-संस्कृत रूप काल-क्रमसे नष्ट हो गये, अतः अ-प्राप्य हैं। इस सामूहिकता एवं बहिर्दर्शनके विरोधमें वैयक्तिकता एवं अन्तर्दर्शनका उद्भव हुआ। महाकाव्यों एवं रूपकोंका इस दृष्टि-कोणसे अध्ययन करनेपर मालूम होता है कि किस प्रकार अन्तर्दर्शन और वैयक्तिकताका प्रभाव पीछे चलकर बढ़ता गया। उस युगमें भय-श्रद्धा-विस्मय-मिश्रित धार्मिक भावनाके कारण स्वानुभूति-प्रकाशके मार्गमें अनेक बाधाएँ थीं। अनेक प्रभावशाली कृत्योंका कवियोंने वर्णन किया, उन कृत्योंके कर्त्ताओंके महत्त्व-निदर्शनके लिए अनेक सम्भव-असम्भव अवस्थाओं एवं घटनाओंका आरोप किया, अपने हर्ष-शोक, उल्लास-विषादकी गाथाएँ

उन चरित्रोंके साथ जोड़ दीं ; और इस प्रकार काव्यकी प्रचलित परिपाटी के भीतर ही आत्म-तुष्टि लाभ किया अतः सङ्घर्ष केवल बाह्य न रहकर आभ्यन्तरिक भी हो उठा, फलस्वरूप रूपक और महाकाव्यके मूलमें सङ्घर्ष—बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों रूपोंमें—स्वीकृत हुआ।

प्राचीन काव्य-परिपाटीके भीतर किञ्चित् स्वरूप-परिवर्तनसे सामञ्जस्य उपस्थितकर विरोध प्रकट करनेके बदले जो स्वतंत्र रूपमें विरोध उठ खड़ा हुआ, उसके दर्शन सम्भव नहीं, क्योंकि लिखित साहित्यकी भाँति लिपि-बद्ध नहीं होनेके कारण उसकी रक्षा सम्भव नहीं हो सकी। किन्तु इतना स्पष्ट है कि सङ्गीतकी बँधी परिपाटी-युक्त सामूहिकता, तथा बहिर्दर्शन और चित्रण-प्रधान प्रबंध काव्यकी प्रचलित परम्पराके विरोधमें सङ्गीतात्मक, वैयक्तिक एवं अन्तर्दर्शन प्रधान गीतोंका प्रचलन हुआ। पीछे चलकर महाकाव्योंतकमें इन तत्त्वोंका मिश्रण हुआ। इस प्रकार प्रारम्भिक अनगढ़, अनेक अंशोंमें अकृत्रिम तथा सहज संवेदनशील गीतोंने महाकाव्यों, आख्यान-काव्यों एवं रूपकोंको नवोन्मेष दिया। नाटकोंपर इनका प्रभाव उस समय अधिक नहीं पड़ सका कारण काव्यत्व और सङ्गीततत्त्वकी रक्षाका साधन उन्हें उपलब्ध था एवं सामूहिक प्रदर्शनके कारण उनके रूपमें अधिक परिवर्तनकी गुञ्जाइश भी नहीं थी।

जिस प्रकार लोक-गाथाओं एवं कथानकोंका साहित्यिक रूप प्रबन्ध काव्यों एवं रूपकोंमें प्रकट हुआ उसी प्रकार व्यक्तिगत हर्ष-शोक, आशा-निराशा, राग-द्वेष, आवेश-भावकुतासे परिपूर्ण लोक-गीतोंका साहित्यिक रूप गीति-काव्यों या प्रगीत मुक्तकोंमें। लोक-गीत ही इन साहित्यिक गीतों और गीतियोंके अविकसित रूप हैं। इन लोक-गीतोंने इस प्रकार जहाँ महाकाव्योंमें वैयक्तिकता एवं अन्तर्दर्शनका आवेश दिया वहाँ स्वतन्त्र गीति-काव्योंकी रचना को उन्मेष भी।

गीति-काव्य

संस्कृत साहित्य-शास्त्रमें काव्यके दृश्य और श्रव्य दो भेद मानकर श्रव्य गव्यको महाकाव्य और खण्ड काव्य दो भेदोंमें विभक्त किया गया है। दूसरे पद्योंसे निरपेक्ष छन्दोबद्ध रचनाको मुक्तक कहते हैं। वस्तुतः गीति-काव्य और मुक्तक काव्यमें भारी अन्तर है। गीति-काव्य अनुभूतिकी अन्विति उपस्थित करता है, ऐसी अवस्थामें उसके पद्य अपने ही अन्य पद्योंकी आकांक्षा अवश्य रखते हैं। मुक्तक छन्दकी इकाई मात्र उपस्थित करते हैं। संस्कृत साहित्य-शास्त्रकारोंने इस प्रकार गीति-काव्य नामका कोई भेद नहीं माना है।

नीति, स्तोत्र आदि मुक्तकके अन्तर्गत आते हैं। ग्रीकोंने काव्यके दो भेद माना है—गीति-काव्य (melic or lyric) तथा सामूहिक काव्य (choric)। सामूहिक काव्य गेय था और अनेक लोग मिलकर वाद्य यंत्रोंकी सहायतासे किसी तीव्र सामूहिक भावनाको अभिव्यक्त करते थे। गीति-काव्यको 'लिरिक' इसलिए कहते थे कि उसे 'लायर' नामक वाद्य-यंत्रकी सहायता अपेक्षित थी, अनेक गायकोंकी सामूहिक अनुभूतिकी अभिव्यक्ति और उद्रेक नहीं होता था, बल्कि उसके द्वारा वैयक्तिक अनुभूतिके उद्रेकका प्रयास किया जाता था। सारङ्गी बजाकर राजा भरथरीके गीत गानेवाले गायकोंकी-सी परिपाटी सम्भवतः रही होगी। पीछे चलकर 'लिरिक' कविताको 'लायर' की अपेक्षा नहीं रह गयी एवं काव्यके दूसरे भेद 'कोरिक' कवितामें इसके तत्त्वोंका समावेश हो गया।

संस्कृतमें महाकाव्यके लक्षण इस प्रकार बने कि उसमें गीति-काव्यका प्रवेश सम्भव नहीं हो सका। महाकाव्यमें गीति-काव्यके समावेशका प्रयास अत्यन्त आधुनिक है, गीति-काव्यका आधार मात्र सङ्गीतात्मक होना नहीं छन्द-व्यवस्था किसी-न-किसी रूपमें सङ्गीतात्मकताका आग्रह स्वीकार कर ... गीतके विधानकी सीमाओंके कारण वहाँके गीति-काव्

लिए सङ्गीतात्मकता अपेक्षित नहीं। वाल्मीकीय रामायण गेय है और लव-कुशने रामके आगे उसका सस्वर गान किया था। नीति या स्तोत्र पद्य-बद्ध होकर भी गीति-काव्य नहीं, कारण आत्मनिष्ठताका अभाव है। खण्ड-काव्योंमेंसे अनेकमें गीति-तत्त्व प्रचुर मात्रामें विद्यमान हैं किन्तु वे शुद्ध गीति-काव्य नहीं। मेघदूतमें कालिदासने वैयक्तिक हर्ष-शोककी अभिव्यञ्जना की है किन्तु इसके आधार-रूपमें आख्यानका आग्रह भी कम नहीं। इस कारण इसमें गीति-काव्य और आख्यान-काव्यके तत्त्वोंका सम्मिश्रण है। 'मन्दाक्रान्ता'में एक ओर विषादकी जहाँ गंभीर अभिव्यञ्जना हुई वहाँ कथानकके विकासमें विरोध भी उत्पन्न हुआ। इस मिश्रणके द्वारा इसमें 'लिरिकल बैलड' (Lyrical ballad) 'प्रगीत-गाथा' का आग्रह अधिक है। मेघदूतका गीति-काव्यत्व देखने योग्य है—

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो—
लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्न सं दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां।
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति।

[प्रिये ! स्वप्नमें किसी तरह जब मैं तुझको पा जाता हूँ,
शून्य गगनमें आलिङ्गनको तब बाँहें फैलाता हूँ।
वनदेवियाँ दशा यह मेरी देख-देख दुःख पाती हैं;
आँसूकी मोती-सी बूँदें पत्तोंपर बरसाती हैं।]*

भित्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां।
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।

---

* केशवप्रसाद मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद।

आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥

[देवदारुकी नयी कोपलें चिटकाकर जो चली बयार,
हिमगिरिसे दक्षिणको लेकर उसके रसका सौरभ-सार ।
गुनवन्ती ! मैं उसे भेंटता अपने दोनों बाहु पसार,
क्या जाने तेरे अङ्गोंसे मिल आयी हो यही विचार ॥]*

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा ।
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
इत्थं चेतश्चटुल नयने दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥

[ऐसा क्यों न हो कि ये लम्बी रातें पल समान कट जायँ,
और दिवसके ताप पापमय सब प्रकार झटपट घट जायँ ।
मृगनयनी ऐसी अनहोनीके पीछे जल रहा शरीर,
तेरी विरह-वेदनाओंने मेरा मन कर दिया अधीर ।]*

इन पंक्तियोंमें गीति-काव्यके प्रधान तत्त्वोंका न्यूनाधिक मात्रामें समावेश है किन्तु उसका विशुद्ध विधान नहीं । जयदेवके गीत-गोविन्दके गीतोंकी गणना अनेक लोग गीति-काव्यके अन्तर्गत करते हैं । गीत और गीति-काव्यमें कलात्मकताके अतिरिक्त और भी अन्तर है। गीतमें एक ओर जहाँ सङ्गीतके निर्वाहका अधिक आग्रह है वहाँ आत्मानुभूतिकी अभि-व्यञ्जनासे अधिक वर्णनका मोह भी । गीत इस रूपमें अपने पूर्व रूप लोक-गीतसे अलग जा पड़ा है । जयदेवके गीतोंके लिए ताल और रागका

* केशवप्रसाद मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद ।

विधान है यद्यपि शास्त्रीय सङ्गीतकी दृष्टिसे उसकी रक्षा सब जगह नहीं हो सकी है। गीत-गोविन्दकी रचना बहुत नाटकीय ढंगपर हुई है अथवा उसमें नाटकीय दृश्योंका समावेश हुआ है यद्यपि पात्र-पात्रियोंकी संख्या कुल तीन है, कृष्ण, राधा और सखी। यह, अतः, गीति-काव्य और गीति-नाट्यके बीचकी रचना है। वर्णनका मोह और आग्रह प्रसिद्ध गीतोंमें लक्षित होता है—'

[वसन्त राग तितलाभ्यां गीयते]

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते नृत्यति
युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ॥ध्रुवम्॥
उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे।
अलिकुलसङ्कुलकुसुमसमूहनिराकुलवकुलकलापे ॥विह॰॥
मृगमदसौरभरभसवशंवदनवदलमालतमाले।
युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले ॥विह॰
मदनमहीपतिकनकदण्डरुचिकेशरकुसुमविकासे।
मिलितशिलीमुखपाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे ॥विह॰
विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे।
विरहनिकृन्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकदन्तुरिताशे ॥विह॰
माधविकापरिमलललितेनवमालतिजातिसुगन्धौ।
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ॥विह॰
स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भणमुकुलितपुलकितचूते।
वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते ॥विह॰

श्रीजयदेवभणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम् ।
सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम् ॥विह...

'सरस वसन्त समय वन वर्णनम्' द्वारा इसकी वर्णन-प्रियता प्रकट है; वसन्त राग, रूपक ताल और मध्य लय है एवं लय नामक छन्द भी। इस गीतमें विप्रलम्भाख्य शृङ्गारका वर्णन है। सङ्गीतके शास्त्रीय आग्रह और अपेक्षाकृत आत्म-निष्ठाके अभाव में इसे गीत-काव्यके अन्तर्गत न मानकर गीत मानना ही उपयुक्त होगा। 'गंगा-लहरी' आदिके सम्बन्धमें भी यह कथन अनुपयुक्त नहीं; यद्यपि पंडितराज जगन्नाथमें गीति काव्यत्वका उन्मेप अधिक है। इस प्रकार संस्कृत-साहित्यमें शुद्ध गीति-काव्यका अभाव-सा है और लोक-गीतोंका प्रभाव उसपर परोक्ष रूपमें पड़ा है। प्रारम्भिक कथाओंके आधारपर आख्यान काव्य बने किन्तु वैयक्तिक भावनाके प्रसारके अधिक अनुकूल न होनेके कारण लोक-गीतोंकी परम्परा-में साहित्यिकताका आग्रह लाकर नये रूप-विधानकी सृष्टि हुई और उसका विकास वैयक्तिक हास-अश्रु तत्त्वसे युक्त आख्यान काव्य और स्वतंत्र गीतों-के रूपमें हुआ और इन गीतोंकी परम्परामें क्रमशः गीति-काव्यका विकास हुआ।

क्रमिक विकास

प्राथमिक अवस्थामें गीत गेय थे। गीतोंमें भाव-प्रसारके लिए काव्यत्व का अधिक आग्रह न था। मिलन-विरह, हर्ष-शोक, आनन्द-विषादका चित्र भावुकताद्वारा नहीं बल्कि सङ्गीत और गेयताद्वारा उपस्थित किया जाता था। आनन्दकी रागात्मक अभिव्यक्ति विषादकी अभिव्यक्तिसे विभिन्न है और इस प्रकारके गीतोंमें केवल इनकी अभिव्यक्ति-का आग्रह था। इस अवस्थामें शब्दका कोई महत्त्व नहीं था एवं विषय-

विधानका विकास भी नहीं हो सका था। भाषा उस अवस्थामें थी, जिसमें भाव-प्रकाशनकी क्षमता और विस्तारके लिए वाद्य-यंत्रोंकी सहायता अपेक्षित थी। वाद्य-यंत्र भी अपने पूर्ण विकसित रूपमें न थे, वल्कि साधारण वाद्य-यंत्र ही काममें आते थे। इस अवस्थामें अनेकांश रूपसे मानव चेतना प्रकृतिकी अनुकृतिमें संलग्न थी। बर्बर जातियोंकी कविता अथवा गीतोंके अध्ययनसे इसका सङ्केत मिलता है यद्यपि अधिक सहायता नहीं मिलती। कारण युगोंके इस अन्तरालमें उनके स्वरूपका भी विकास होता रहा है अतः उनके गीतोंका भी आज वह रूप नहीं रहा जो पूर्वकालमें था। इस कालतक सामूहिक और वैयक्तिक भावनामें अधिक अन्तर नहीं आ सका होगा। समाजकी उस अवस्थामें व्यक्तिपर गीतोंमें प्रकट भावनाओंसे अधिक सङ्गीतात्मक अभिव्यक्तिका प्रभाव पड़ता था। प्राचीन जातियोंके इतिहासमें—जिसका अधूरा ज्ञान ही आज उपलब्ध है—इसका सङ्केत मिलता है। प्रारम्भिक कालके इन गीतोंके स्वरूपका विकास होता रहा और उसकी दो शाखाएँ हो गयीं। एक शाखाका विकास संगीतके शास्त्रीय विधानके रूपमें हुआ और दूसरीका विकास काव्यके रूपमें। काव्यमें सङ्गीतात्मकता और चित्रात्मकता दोनोंके सामञ्जस्य और सन्तुलनका आवेश है। काव्यका मूर्त-विधान चाक्षुष है किन्तु सङ्गीतके कारण श्राव्य-मूर्त-विधानका आग्रह कम नहीं। कविकी सफलता दोनों प्रकारके मूर्त्त-विधानमें समन्वय और सामञ्जस्य उपस्थित करनेमें है। प्रारम्भिक गीतोंका नमूना नहीं मिलता केवल उनके द्वारा प्राप्त साहित्यिक उन्मेषका आभास ही यत्र-तत्र मिलता है। अतः इसके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता।

गीति-काव्य-परम्पराकी दूसरी अवस्था वहाँसे शुरू होती है, जहाँ सङ्गीत और गीतका अन्तर स्पष्ट होने लगता है। सङ्गीतमें जहाँ शास्त्रीय

विधान-रक्षाका आग्रह आता है वहाँ गीतोंमें भावुकता और आत्माभि-व्यञ्जनका। सङ्गीतमें शब्दोंका महत्त्व नगण्य है केवल उनके माध्यमसे स्वर-विस्तार और सङ्कोच होता है; शब्द अर्थकी परिधिको स्पर्श मात्र करता है, स्वर-प्रसार ही उसका लक्ष्य है। गीतोंमें स्वर और लय, स्वर-सामञ्जस्य और ताल-पद्धतिका शास्त्रीय आग्रह नहीं। शब्द केवल स्वरके विस्तार-सङ्कोचके लिए नहीं आते। अर्थ-परिधि विस्तृत होने लगती है। सङ्गीतके लिए जहाँ वाद्य-यंत्रोंकी अपेक्षा है, वहाँ गीतोंके लिए उनकी अनिवार्यता स्वीकृत नहीं। गीत काव्य और संगीत दोनोंके शास्त्रीय विधान-के विरोधमें वैयक्तिक आत्मनिष्ठताका आधार लेकर चला। लोक-गीतोंका उन्नत रूप इस अवस्थामें मिलता है, जिसमें शब्द और अर्थ दोनोंकी प्रधा-नता है किन्तु सङ्गीतकी नहीं वल्कि सङ्गीतात्मक एवं रागात्मक अनुभूति-का प्रबल आग्रह है। लोक-गीतोंकी स्वाभाविकतामें काव्यके स्वीकृत मानोंकी कृत्रिमताके प्रति विरोधका भाव है। जो आत्मीयता, आत्मनिष्ठता और संवेदनशीलता उनमें है, वह शास्त्रीय काव्य-विधानमें नहीं। कविताका प्रभाव अनेक अंशोंमें वैयक्तिक संस्कार और रुचिके कारण है इसलिए जो काव्यत्वपूर्ण काव्यके पोषक हैं, वे नवीन कविताका आस्वादन नहीं कर पाते, यद्यपि उनके मानको ही कविताका अन्यतम मापदण्ड स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके सामने काव्यका परम्परागत स्वरूप-विधान रहता है और उसी कसौटीपर वे काव्यको कसते हैं। लोक-गीतोंमें काव्यत्वका अभाव माननेवाले काव्यकी कृत्रिमताको ही महत्त्वपूर्ण मान बैठते हैं। गीत यदि रागात्मक क्षणोंकी आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति है, ग्राम-गीत निश्चय ही कलात्मक हैं। उनमें भावना और सङ्गीतात्मकताका समन्वय है।

"हे सुन्दरि! तुमपर यह मेरा कैसा अनोखा मोह है जिसका पारा-वार नहीं। जबसे तुम्हारा वियोग हुआ है, जिसको देखता हूँ, वही तुम्हारा

रूप बन जाता है। चित्तमें जिसका विचार करता हूँ, वही तुम्हारे प्रेमका विचार बन जाता है। जो कुछ मैं लिखता हूँ, वही तुम्हारा सुन्दर आकार प्रतीत होता है। नाम लेकर किसीको बुलाने लगता हूँ, तो मुँहसे तुम्हारा ही नाम निकल पड़ता है।"

एटुवंटि मोह मो कानि ओ एलनाग इंतति अनग रादे।
मट्टु माय दैवमी मनसु देलियग लेक मनल नेड़ वाये।
नय्यो-ओ मगुवा ॥

कलिकि निन्नेड़ वासिनदि मोदलु नीरूप कनुल कट्टिनट्टुलुंडने।
चेलिय ने नोकटि दलचेद् वन्न नीसेपु चोलिमि तलये चुंडुने ॥
सोलसि ने नेमैन व्राय नीयाकार शोभन मै कनुपिंचुने।
पिलिचि पेरुन नो कटि विलच बोलचिन नीट्टु पेरु मुंदुग ॥
दो चुने-ओ मगुवा ॥

[तेलगूका एक लोक-गीत, कविता कौमुदी (ग्राम-गीत) पृ० ३८]

कारिक पियरि बदरिया झिमिकि दैव वरसहु।
बदरी जाइ वरसहु उही देस जहाँ पिय कोड़ करैं ॥
भीजै आखर बाखर तम्बुआ कनतिया।
अरे भितरासे हुलसै करेज समुझि घर आवैं ॥

इन गीतोंमें कल्पनाकी विशद उड़ान नहीं; सङ्गीतका शास्त्रीय विधान नहीं; छन्द और अलङ्कारका कृत्रिम आग्रह नहीं, बल्कि साधारण शब्दोंमें अन्तर्दशाकी सहज, स्वाभाविक, मार्मिक अभिव्यक्ति है।

सङ्गीत और काव्यके इस विच्छेद-युगके कला-गीतोंमें सङ्गीतका अधिक आग्रह देखा जाता है यद्यपि भावोन्मेषके लिए भी कम स्थान

नहीं। यहाँ भाव और सङ्गीतमें पारस्परिक सम्बन्ध है। सङ्गीत लय-विस्तारद्वारा भावना प्रसारमें सहायता देता है। राग-ताल-लय विशेष द्वारा विशिष्ट अनुभूति और भावनाकी अभिव्यक्तिका प्रयास इसकी सूचना देता है। इस अवस्थामें सङ्गीतका, किन्तु, मोह छूटा नहीं है, सङ्गीतकी प्रधानता क्रमशः कम होती गयी और भावाभिव्यक्तिका प्राधान्य हो चला। वर्णन-विधान अलङ्कृत रूप-विधानका हेतु न रहकर आत्माभिव्यक्तिका साधन हुआ। सङ्गीतशास्त्रका विरोध ऐसी अवस्थामें न हुआ किन्तु उसकी रक्षामें सतर्कता भी कम नहीं हुई।

विकास-क्रमकी तीसरी अवस्थामें भाव और सङ्गीत समान स्तरपर आ गये, एकके लिए दूसरेकी हत्या नहीं की जा सकी। भाव और सङ्गीत, विषय और विधानके एकीकरणद्वारा गीतोंकी कलात्मकताका विकास हुआ। इस अवस्थामें गीति-काव्य अपनी प्रकृत भूमिपर आता हुआ दीख पड़ता है। दूसरी अवस्थामें सङ्गीत और काव्यकी दो विभिन्न शाखाओंका रूप मिलता है। काव्य छन्द-बन्धन स्वीकारकर सङ्गीतका आग्रह मान लेता है किन्तु इस अवस्थामें सङ्गीतात्मकताकी भावना परम्परागत और सांस्कारिक है। छन्दोंका सङ्गीत अपने बँधे नियमोंके अन्तर्गत चलता है जैसा सङ्गीतका विकास अपने शास्त्रीय नियमोंके आधारपर। तीसर अवस्थामें सङ्गीत और काव्य एक दूसरेकी सीमामें साधिकार प्रवेश पा हैं। वैसे काव्यमें भाव-प्रसारणकी योजनाके साथ सङ्गीतकी रक्षाका आग्र भी रहता है। शब्द-मात्र लय-विस्तारके साधन न रहकर अर्थाभिव्यक्ति माध्यम बनते हैं। मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्यका इतिहास इसका साक्षी है सूर, तुलसी, मीराके पद एक ओर जहाँ भाव-भूमिके प्रसारमें सचेष्ट वहाँ सङ्गीतात्मकताकी पूर्ण रक्षामें भी। गवैयोंद्वारा 'क्लासिकल' सङ्ग लिए इन पदोंकी स्वीकृति इसका प्रमाण है। सङ्गीतकी रक्षाके लिए काव

से पृथक नहीं हुई है। काव्य और सङ्गीत एक दूसरेके हित हैं अवश्य, किन्तु ऐसा लगता है, जैसे सङ्गीतकी प्रमुखता कम-सी हो रही है यद्यपि सङ्गीतकी हत्या नहीं की गयी। [illegible] सवैयोंके विरुद्ध [illegible] कारण सङ्गीत-तत्त्वकी व्यापक उपेक्षा नहीं। वर्णिक भाषा और छन्दका विरोधी तत्त्व था। [illegible] प्रथम प्रकाशित संग्रहमें भी काव्य उस अवसर [illegible] ही था। अंग्रेजी कवियोंके कारण कविताके अन्य रूपोंके साथ उसका पाठ रूप सामने आया। कविता-पाठकी जगह गीत-पाठका प्रचलन हुआ। इस प्रकार सङ्गीतकी अधिक प्रधानता उसके चित्र अथवा विचारको मिली। इस तथ्यने कविता और विशेष रूपसे गीति-काव्यके स्वरूप-विधानमें अन्तर उपस्थित किया। चाक्षुष होना काव्यगत परिवर्तनों-के कारणोंमें एक प्रमुख कारण है। जहाँ पहले कवि मुख्यतया श्राव्य एवं-चाक्षुष-बिम्बोंके समन्वयमें संलग्न था वहाँ उसका मूर्त विधान अधिका-धिक रूपोंमें चाक्षुष होने लगा। अतः सङ्गीत-तत्त्वकी प्रमुखताका कम होना स्वाभाविक हो गया। छन्द-विधान-त्यागमें यही प्रवृत्ति परिलक्षित हुई यद्यपि मुक्त छन्दोंमें भी कवि छन्द-बन्धनसे पूर्ण मुक्ति-लाभ नहीं कर सका।

इस प्रकार गीत-काव्यके विकासकी परम्पराकी चौथी अवस्थामें आकर गीति-काव्य सङ्गीतके शास्त्रीय विधानका पल्ला छोड़ देता है यद्यपि सङ्गीतात्मकताका आधार वह छोड़ नहीं सकता। सङ्गीत वहाँ अनुभूतिका अनुचर मात्र है। राग-ताल विशेषमें ही विशेष प्रकारकी अनुभूतिकी अभिव्यक्ति नहीं की जाती। सङ्गीतके शास्त्रीय विधानकी उपेक्षाके साथ ही उसी अनुपातमें आत्मनिष्ठा, आत्मानुभूति और आत्माभिव्यञ्जनका आग्रह बढ़ता जाता है। गीति-काव्य परम्पराकी तीसरी अवस्थामें भावानुकूल सङ्गीतकी योजना की जाती थी। छन्द और राग विशेषद्वारा भावप्रकाशन-की क्षमता प्रदर्शित की जाती थी। अतः छन्दशास्त्रके आचार्योंने इसका

विचार रखकर विशिष्ट रसोंके लिए तदनुकूल छन्दोंकी व्यवस्था की। शृंगार के लिए शार्दूल विक्रीड़ित, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, द्रुत विलम्बितः छन्दोंका विधान किया गया। विरह-वर्णनके लिए मन्दाक्रान्ता अपनी रुक-रुक कर चलनेवाली गतिके कारण अद्वितीय है। सवैया और कवित्तके अत्यधिक प्रचारके मूलमें स्वर-विस्तारकी शक्तिके साथ विषयोंका सीमित होना भी है। सङ्गीत-विधानकी रक्षाका प्रयत्न तीसरी अवस्थामें रहा किन्तु प्रत्येक स्थानमें इसकी रक्षा सम्भव न हो सकी। चौथी अवस्थामें आकर सङ्गीतके शास्त्रीय-विधानका मोह एकदम छूट जाता है, शब्दोंमें अपना सङ्गीत-तत्त्व है और शब्दोंके पारस्परिक सङ्घटन और मेलद्वारा उनके अन्तर्निहित सङ्गीतका समन्वय अनुभूतिकी अभिव्यञ्जनाके साथ होता है। ऐसी अवस्थामें सङ्गीत-विधान, काव्य-विधानसे भिन्न कुछ नहीं रह जाता बल्कि शब्दोंका स्व-संगीत ही भावना-प्रसारकी उपयुक्तता ग्रहण कर लेता है। मौन-पाठका अर्थ है मन-ही-मन आवृत्ति। इस प्रकार विचार करते समय भी मनुष्य उच्चारण-प्रक्रियामें संलग्न है, कारण मानसिक बिम्बोंके साथ उनका ध्वन्यात्मक साहचर्य भी लगा रहता है। शब्दोंके उच्चारणमें प्रयुक्त वाक्-क्रिया और तदनुरूप भावोंके चित्रोंके समन्वयसे ही विचारोंकी स्थिति जान पड़ती है। गीति-काव्यके पाठमें भी यह प्रक्रिया कार्य करती है। संक्षेपमें मन-ही-मन पढ़नेके समय भी सङ्गीतात्मकताका आग्रह बना रहता है, इस प्रकार गीति-काव्य सङ्गीतके शास्त्रीय-विधानसे विभिन्न सङ्गीतात्मकताका आवेश ग्रहण करता है। उसमें सङ्गीत नहीं सङ्गीतात्मकता है जिसके द्वारा विशिष्ट प्रभावकी योजना होती है और उसमें तीव्रता आती है। सङ्गीत यहाँ बाह्य आरोप नहीं अन्तर्निहित प्रवाह है। यह गीति-काव्यकी चरम परिणति है। गीति-काव्यको राग-तालके घेरेमें डाल कवि-सम्मेलनोंके गायक कवि गीति-काव्यकी प्रकृतिका अपमान करते हैं। सजीव

भाषामें व्यक्तिके आन्तरिक भावोंकी सघन अभिव्यञ्जना सङ्गी-तात्मकताके आग्रहके साथ जिसमें होती है, वह गीति-काव्य है।

गीति काव्यकी भारतीय परम्परा

गीति-काव्यकी प्रकृति और उसके स्वरूप-भेद-निरूपणमें भारतीय गीति-परम्पराका संक्षिप्त परिचय सहायक होगा। वैदिक युग सामूहिक संस्कृति और सभ्यताका युग था। आनन्द-विषाद सभी सामाजिक थे, अतः उनकी अभिव्यक्ति भी सामूहिक थी। वैयक्तिकताके क्रमशः विकासके लक्षण उसी समय प्रकट होने लग गये थे। यज्ञ आदि क्रियाएँ सामूहिक थीं। जिसे एकान्त साधना कह हिन्दू धर्मकी विशेषताकी व्यवस्था दी जाती है, उस एकान्तिक धर्म, साधना और पूजाका उस समय अभाव दीखता है। दुःखवादी बौद्ध धर्म-में वैदिक अवैयक्तिकताके विरुद्ध वैयक्तिकताका विकास दीख पड़ता है। 'बहु जन हिताय बहु जन सुखाय' श्रवण करनेपर भी भिक्षुकोंमें ऐकान्तिक साधना दीख पड़ती है। इतिहास-क्रमसे वैदिक और बौद्ध युगोंका वर्गी-करण सुविधा-जनक होनेपर भी वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। युगान्त और युगारम्भकी स्पष्ट विभाजक रेखाएँ नहीं खींची जा सकतीं। दुःखवादी, नियतिवादी बौद्ध दर्शनका मूल आनन्दवादी मध्यदेशीय आर्योंकी दार्शनिकताके साथ ही साथ स्थित था। सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक एवं भौगोलिक कारणोंसे प्रतिक्रियाके रूपमें बौद्ध दर्शनका स्वरूप स्पष्ट हो गया किन्तु ऐसा समझना भूल है कि काल-क्रमके अनुसार इन भावनाओंका जन्म हुआ। बहुत सम्भव है बौद्धोंके इस दर्शनपर मगध देशीय अनार्योंका, जिन्हें 'व्रात्य' कहकर याद किया गया है, प्रभाव पड़ा हो। मध्यदेशीय आनन्दवाद जहाँ सामूहिक चेतनाका फल है वहाँ दुःख-

वादमें वैयक्तिकताका समावेश अनेक अंशोंमें हो जाता है, चाहे दुःख सामाजिक कारणोंसे ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो।

वैदिक ऋचाओंमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित उच्चारणोंका विधान है। यास्कने अपने निरुक्तमें इनकी व्याख्या की है। वैदिक ऋचाएँ सामूहिक रूपमें सम्भवतः वाद्य यंत्रादिके साथ गायी जाती थीं। सामवेदमें संगीतपूर्ण पाठके लक्षण स्पष्ट हैं। ऋग्वेद और वेदानुयायी ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थोंमें भी यज्ञों और संस्कारोंके अवसरपर वीणा-वादन-गायन और विशिष्ट स्वरोंका विधान है। अपस्तम्भने अपने गृह-सूत्र (१४-४) में 'सीमान्तम् संस्कार' के लिए 'गायमिति वीणा गाथिनौ सग्शास्ति' की व्यवस्था दी है। यजुर्वेद-कालमें भी वेदगायकोंके अस्तित्वका पत चलता है—

उदकुंभानधिनिधाय दास्या मार्जालीयं
परिनृत्यन्ति पथो निघ्नतीरिदं मधु
गायन्त्योमधु वै देवानां परममन्नाद्यं
परमेवान्नाद्यमवरुंधे पथोनिघ्नन्ति महीयामेवैपु दधति ॥

यजुः संहिता (७-५)

स्त्रियाँ इन गायकोंके प्रति अधिक आकृष्ट होती थीं—

"अगायन्देवस देवाग् गायत उपावर्तत तस्माद्गायन्तग् स्त्रिय कामयन्ते कामुका एनग्गूं स्त्रियो भवन्ति ॥"

यजुः संहिता (६-१)

सामवेदका सम्बन्ध संगीतसे है, एवं ऋक् और यजुर्वेदोंमें अर्थका अधिक। वेदोंमें आर्योंके अनेक वाद्ययंत्रोंका वर्णन मिलता है, ग गर्गरी, आडम्बर, भूमि-दुन्दुभि, वनस्पति, अघाटि, कंधवीणा, द

गीत गाया सुनकर, नहि नारद स्वयं । सामवेदका उपवेद गंधर्ववेद है जिसमें नाट्य और संगीतका विवेचन है । सामवेदमें उदात्त और अनुदात्त स्वरोंका प्रयोग है, क्रमशः इनके योगसे स्वरोंकी कल्पना हुई । ऋक् प्रातिशाख्यमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्वरका उल्लेख मिलता है । मंद्र और अतिस्वरका भी आगम हुआ । तैत्तिरीय प्रातिशाख्यमें 'क्रुष्ट' का नाम आया है और इस प्रकार नारदीय शिक्षाके अनुसार सामगानके स्वरोंका संगीत-शास्त्रके सात स्वरोंसे सम्बन्ध है—

यस्सामगानां प्रथमस्स वर्णोमध्यमस्स्मृतः ।
योऽसौ द्वितीयो गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभस्स्मृतः ।
चतुर्थष्षड्ज इत्याहुः पञ्चमो धैवतो भवेत् ।
षष्ठो निषादो विज्ञेयस्सप्तमः पञ्चमस्स्मृतः ।

साम संहिताकी प्रथम ऋचा इस प्रकार गायी जा सकती है—

ओग्न इ । आयाहि इवो इतो या आयि । तो या आ इ ।
सा सा स । गा गा म रि मा म मा मा गा ग । गा मा गा ग ।

इस विवेचनका इतना ही अर्थ है कि सामूहिक रूपसे वाद्य-यंत्रोंके साथ वेदोंके गाये जानेके प्रमाण मिलते हैं । वेदोंको अपौरुषेय कहकर मानवीय तत्त्वोंका निराकरण नहीं किया जा सकता । वैदिक ऋचाओंके पाठ द्वारा सामूहिक रागात्मिका अनुभूतिका उद्रेक होता था, उनके बहुदेववादके भीतर एकत्व स्थापितकर पुष्ट दार्शनिक आधार देनेका प्रयास बादमें चलकर हुआ । संगीतका यह प्रभाव प्रत्येक साहित्य अथवा जातिके उद्भव-कालमें देखा जाता है । प्राचीन ग्रीक अपने उत्सवोंमें धार्मिक गीत गाते थे । इलियडके पाठके समय संगीत एवं वाद्य-यंत्रका साहाय्य अनिवार्य था । चीनी, तातारी यहाँतक कि नीग्रो

जातिके लोग उत्सव अथवा धार्मिक समारोहमें नृत्य और गीतका उपयोग करते हैं। वाद्य-यन्त्रों और संगीतके द्वारा धार्मिक कृत्योंका विस्तार सम्भव था, एवं सामूहिक रागात्मिका चेतनाके विकासमें इनसे सहायता मिलती थी। बौद्ध-युग दुःखवादी है अतः व्यक्तिगत आचरणपर अधिक जोर देकर नैतिकताके अधिक आग्रहका प्रदर्शन उसमें होता रहा। निवृत्ति-मार्गका अवलम्बन करनेके कारण नैतिक आचारोंका जो निरूपण हुआ उसमें संगीत, नाट्य आदि सामाजिक आचारसे विच्छिन्न हो पड़े। बौद्ध और जैन वाङ्मयमें अतः गीत अथवा गेय काव्यकी रचनाको प्रेरणा नहीं मिली। यद्यपि पीछे चलकर महाकाव्योंकी परम्परामें बुद्ध-चरित्रका आधार लेकर रचनाएँ हुईं किन्तु इस युगकी सबसे बड़ी देन वैयक्तिक चेतनाका विकास है। भिक्षुणियाँ सौन्दर्यकी नश्वरताका उल्लेख कर आत्म-निष्ठाका परिचय देती हैं जिसमें गीति-तत्वका उन्मेष मिलता है—

'कालका भमरवरणसदिसा वेलितग्गा मम मुद्धजा अहु,
ते जराय सालवाक सदिसा सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा।
काननस्मि वनखण्डचारिणी कोकिला व मधुरं निकूजितं
तं जराय खलितं तहिं तहिं सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा।

(थेरी गाथा, २५२-६१)

[भ्रमरावलीके समान सुचिक्कण काले और घुँघराले मेरे अलक-गुच्छ जराके कारण आज सन और वल्कल-जैसे हो गये हैं। परिवर्तनका चक्र इसी क्रमसे चलता है। सत्यवादीका यह कथन मिथ्या नहीं।]

इस प्रकार इसमें वैयक्तिक भावनाके विकासके लक्षण दीख पड़ते हैं।

वेद-गानकी विकसित परम्पराके रूपमें ही सङ्गीतके शास्त्रीय विधानकी ओर ध्यान गया। इस प्रकार सङ्गीत और काव्यके स्वरूप-विधानमें

अन्तर आने लगा। ग्रीसमें पिथागोरसने सप्त ग्रहोंकी संख्याके आधारपर सङ्गीतके सप्तस्वरोंकी कल्पनाकर सङ्गीत-शास्त्रको गणित-शास्त्रकी पद्धतिके अनुकूल बनाना चाहा, एवं इस कल्पनाके साथ ग्रहोंकी गतिके सङ्गीतका समन्वय उपस्थित करनेकी चेष्टा की। भारतीय परम्पराके अनुसार नट-राज शङ्कर स्वरोंके आदि स्रोत हैं। डमरू (ढक्का) के शब्दसे ही भाषाके स्वरों और सङ्गीतके 'सुरों'की उत्पत्ति हुई है। हिन्दू शास्त्रकारोंके अनुसार वाणीके साथ वीणा—विद्याके साथ संगीत—की परिकल्पना हुई। बौद्ध—और जैन—आगमोंके अतिनैतिकतावादका विरोध अवश्यम्भावी था। बौद्धमतकी विकृति एवं नव हिन्दू-धर्मके उत्थानके साथ ही सङ्गीत-की पुनः प्रतिष्ठा होती है और इस प्रकार नवीन काव्य और सङ्गीतका उन्मेष भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्रमें होता है। नाटकोंके अन्तर्गत सङ्गीतका जो विधान है, उसके भीतर यही भावना कार्य कर रही थी। भरतने नाट्य-शास्त्रमें नृत्य और वाद्यकी विवेचना की है। नाटकीय गीतोंकी भाषाके सम्बन्धमें जो व्यवस्था है, उससे स्पष्ट होता है कि गीतोंका जातीय जीवनपर विशिष्ट प्रभाव था। दूसरी, प्राकृतके कालसे अपभ्रंशोंके कालतक गीत और काव्यका पार्थक्य देखा जाता है। हिन्दी-साहित्यके प्रारम्भिक कालमें ही वीर-प्रबन्ध-काव्य और वीर-गीतों (ballads) की परम्परा मिलती है। प्रबन्ध-काव्योंमें भी यत्र-तत्र गीतात्मकता बिखरी पड़ी है। वीर-गीत गाथाओंका आधार लेकर चले। आल्हा-ऊदल खण्डके प्रारम्भकी सरस्वतीकी प्रार्थना किसी महाकवि-कृत ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिके लिए की गयी प्रार्थना जैसी लगती है बल्कि अनेक अंशोंमें ग्रीकोंके Innovation of the Muse जैसी जान पड़ती है। जगनिकके गीत विभिन्न स्थानीय रूपमें गाये जाते हैं। स्थान-विशेषका इसके स्वरूपपर रङ्ग होता है। इसके साहित्यिक रूपका पता न रहनेपर भी अनेक अंशोंमें सङ्गीत-तत्व

और काव्यत्वकी इसमें रक्षा हुई है। इसके गीतोंपर ग्राम-गीतोंकी छापके स्पष्ट लक्षण हैं। वीर-प्रबन्ध-काव्यके मूल वर्ण्य-विषय हैं—प्रेम और युद्ध। आगे चलकर केवल प्रेमका आधार लेकर गीतोंकी रचना हुई जिसके रचयिताओंमें विद्यापति विशिष्ट स्थान रखते हैं। लोगोंने विद्यापतिको जयदेवकी परम्परामें माना, यहाँतक कि उन्हें 'अभिनव' जयदेवकी उपाधितक दे डाली। जयदेवके गीतोंके सम्बन्धमें विचार करते समय देखा गया है कि वस्तुतः वे गीत वर्णन-प्रधान और गीति-नाट्य एवं गीति काव्यके बीचकी कड़ियाँ हैं। विद्यापतिमें भी नाटक-तत्त्वका नितान्त अभाव नहीं है किन्तु गीतोंकी स्वतन्त्र परम्पराका आरम्भ विद्यापतिके गीतों द्वारा अवश्य हो जाता है। वर्णन-मोह विद्यापतिमें उतना नहीं जितना जयदेवमें है, एवं शुद्ध रागात्मक आवेशकी अभिव्यक्ति विद्यापतिने की है। मुक्तककी भाँति गीति-काव्यके पदों अथवा पद्योंका निरपेक्षमात्र होना ही पर्याप्त नहीं बल्कि एक रागात्मक आवेशकी सङ्गीतात्मक अभिव्यक्ति भी अपेक्षित है। अपभ्रंश कालके अन्य लेखकोंमें इसकी विभिन्नताका आभास मिलता है। विद्यापतिके पद इस अवस्थामें आकर शुद्ध गीतोंके उपयुक्त हो जाते हैं।

जयदेवमें एक ओर जहाँ वर्णनका विशेष आग्रह है, वहाँ विद्यापतिमें रागात्मक आवेशकी अभिव्यक्ति। अतः विद्यापतिके गीत गीति-काव्यके अधिक समीप हैं। वैष्णव कवियोंमें शृङ्गारकी यह भावना आदर्श बनकर उपस्थित हुई जिसे मनोवैज्ञानिकोंकी भाषामें उन्नयन (Sublimation) कहते हैं। सगुण शृङ्गारके मूलमें मानवीय सौन्दर्यका आग्रह है। इस प्रकार मानवीय वृत्तिके प्रकाशके माध्यम और प्रतीकके रूपमें राधा-कृष्णका चित्रण साहित्य-क्षेत्रमें हुआ। राम-काव्यके भीतर आदर्शकी भिन्नताके कारण यह सम्मिलित नहीं हो सका। साहित्यमें राधाका प्रादुर्भाव अपेक्षा

कुल आधुनिक है। श्रीमद्भागवतमें राधाका कहीं उल्लेख नहीं। ब्रह्म-वैवर्त पुराणमें राधाका वर्णन मिलता है। इस प्रकार संस्कृतके ग्रन्थोंमें राधाकी चर्चा प्राकृतमें आ जानेके बाद आयी, इससे अनुमान किया जा सकता है कि राधाकी कल्पना लोक-गीतों एवं कथाओंके आधारपर आयी जो आभीरोंकी जातिके साथ आयी। ऐतिहासिकोंने कल्पना की है कि राधा आभीरोंकी प्रेम-देवी थीं और बाल-कृष्णका चरित्र उनसे ही सम्बद्ध था। पीछे चलकर साहित्यिक एवं धार्मिक-क्षेत्रमें इनका प्रवेश हो गया। राधा-कृष्णकी वृत्तियोंका पीछे चलकर परम्परागत वर्णन होने लगा एवं रूढ़ि (convention) का आग्रह बढ़ता गया। निर्गुण उपासकोंमें मानवीय वृत्तिके सहज प्रकाशपर जोर रहा यद्यपि सिद्धान्त-निरूपण एवं आत्मा-परमात्माके रूढ़िगत सम्बन्धकी चर्चामें वैयक्तिक भावनासे अधिक उपदेश-का भाव है। हार्दिक वृत्तिके प्रकाशके कारण जहाँ सूरमें तीव्रता, गम्भीरता, मार्मिकता, विदग्धता है वहाँ तुलसीके गीतोंमें नहीं। तुलसी वैयक्तिकता एवं निजी व्यक्तित्वको अलग रखकर सामूहिक भावनाका चित्रण करना चाहते हैं। जहाँ नैतिकताका तीव्र आग्रह नहीं रह गया वहाँ तुलसीके गीत भी भावोन्मेषी हो उठे हैं। तुलसीमें भावुकताका अभाव नहीं बल्कि सामाजिकताका नैतिक आरोप अधिक है, अतः जहाँ उनका काव्य लोक-संग्रही, जन-कल्याणकारी, धर्ममर्यादाका संरक्षक, पाण्डित्य-एवं विवेकपूर्ण है, वहाँ वैयक्तिक रागात्मक अनुभूतिकी अभिव्यञ्जना करनेवाला कम है। सूरदासने ऐसा बन्धन स्वीकार नहीं किया। तुलसीकी भाँति प्रबन्धकता सूरने भी स्वीकार की किन्तु तुलसी जहाँ प्रबन्धको खण्डित नहीं होने देते, छोटे-छोटे काव्योंमें भी इसका कम-बेश ध्यान रखते हैं, वहाँ सूर अपनेको धारामें छोड़ देते हैं, चाहे वह जहाँ ले जाय। अशोक-वनमें बन्दिनी सीता हनुमानसे कहती हैं—

कबहूँ, कपि ! राघव आवहिंगे ?
मेरे नयन-चकोर प्रीति-बस राकाससि मुख दिखरावहिंगे ॥
मधुप मराल मोर चातक ह्वै, लोचन बहु प्रकार धावहिंगे ।
अङ्ग-अङ्ग छबि भिन्न-भिन्न सुख निरखि-निरखि तहँ-तहँ छावहिंगे ॥
बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपा-दृष्टि जल पलुटावहिंगे ।
निज-वियोग-दुःख जानि दयानिधि मधुर वचन कहि समुझावहिंगे ॥
रावन-बध रघुनाथ-विमल-जस नारदादि मुनि-जन गावहिंगे ।
यह अभिलाप रैन-दिन मेरे राज-बिभीषन कब पावहिंगे ॥
तुलसीदास प्रभु मोहजनित भ्रम भेद बुद्धि कब बिसरावहिंगे ॥

—गीतावली, सुन्दरकाण्ड [१०]

सीताके इस विरह-निवेदनमें भक्तकी भावना है । आत्मा-परमात्मा-का पार्थक्य मोह-जनित भ्रमके कारण है जिस प्रकार सीता-रामका विरह क्षणस्थायी रामके प्रति सीताका प्रेम गम्भीर तो है किन्तु अपार्थिवताके कार चञ्चलता एवं विदग्धताका अभाव-सा है । रामके महत्त्वके प्रति उत्सु सीता मनकी निर्बलता प्रकट नहीं होने देना चाहतीं । तुलसीदास राधामें यह महत्त्व-बोध नहीं, उनमें हृदयकी निर्बलता है, प्रेममें विदग्ध एवं तल्लीनता है ।

बिछुरत श्रीब्रजराज आजु इन नयननकी परतीति ग
उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि, है न गये सखि स्याम र
रूप-रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौ न भ
साँचेहु क्रूर, कुटिल सित मेचक, वृथा मीन-छवि छीनि
अब काहे सोचत मोचत जल, समय गये चित सूल
तुलसीदास तब अपहुँसे भये जड़, जब पलकनि हठि दगा

मीराकी भाँति सत्त्व-बोध नहीं, इस प्रेममें तल्लीनता है किन्तु विरह-आसक्ति एकदम लोप नहीं होता। प्रेमाधिक्य इतना नहीं कि सूरकी गोपियोंकी भाँति जीवन भार मालूम पड़ने लगे, और न यही अवस्था आ गयी है कि 'निस दिन बरसत नयन हमारे' जिनसे इन नयननके नीर सरित भी, सेज भई घर नाऊँ' और 'चाहति हौं ताहीपै चढ़िकै स्याम मिलनको आऊँ' में बह उठे। एक ओर सूरकी यह विह्वलता इन गोपियोंकी ज्ञान-हीनताका परिचय देती है, वहाँ उनकी तल्लीनताका भी। ऐसी अवस्थाके ही लिए कालिदासने कहा है—

'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।'

सूरकी गोपियाँ इधर कहती हैं:—

अब यह तनहिं राखि का कीजै!
सुन री सखि! स्यामसुन्दर बिन बाँटि विषम-बिस पीजै॥
कै गिरिये गिरिपै चढ़ी सजनी! स्वकर सीस सिव दीजै;
कै दहिये दारुन दावानल जाइ जमुन धँसि लीजै।
दुसह बिजोग बिरह माधवके कौन दिनहिं दीन छीजै;
'सूरदास' प्रीतम बिन राधे सोचि-सोचि मन खीजै।

विरह-भावना इतनी अधिक हो गयी है कि उसके आगे मृत्युकी यन्त्रणा भी अधिक नहीं जान पड़ी। तिल-तिलकर मरना कौन मरे। जीवनका यह मधुर गरल अनुभव-गम्य मात्र है। कबीरमें साहित्यिकता कम, भावावेश, रागात्मक अनुभूतिकी तीव्रता और गम्भीरता अधिक है। धार्मिक भावनात्मकता गीति-काव्यका मात्र आवरण है। इस बालुका-राशिके भीतर मार्मिकताकी अन्तःसलिला सरस्वतीकी निर्मल जल-धारा है,

प्रेम-पूर्ण एवं जीवनके सुख-दुःख, विरह-मिलन, हास-रोदनके स्वादसे पूर्ण, हृदयके संवेगसे उच्छल ।

साईं बिन दरद करेजो होय ।
दिन नहीं चैन रात नहीं निदिया, कासे कहूँ दुख रोय ।
आधी रतियाँ पिछले पहरवाँ, साईं बिना तरस-तरस रही सोय ।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय ॥

वैयक्तिक हास-रोदनकी सीमाको स्पर्श करती हुई सामाजिक अनुभूतिको वाणी मिली। इस वेदनाको प्रतीकात्मक (symbolic) भी कहा जा सकता है, कारण धार्मिक भावनाका आधार सामाजिक है और साधनाका वैयक्तिक। व्यष्टि और समष्टिका समन्वय यहाँ हमें मिलता है। इस अवस्थामें आकर सङ्गीत और अनुभूतिका समान प्रभाव लक्षित हो रहा है। सूर, तुलसी और मीराके पदोंमें शास्त्रीय सङ्गीतका विधान हुआ है। गायक इन पदोंको शास्त्रीय रागों और रागिनियोंमें गाते हैं, किन्तु इनमेंसे अनेकके राग परिवर्तित कर दिये गये हैं। सङ्गीतके स्वर और छन्दकी मात्राका समन्वय यहाँ देखनेकी आवश्यकता नहीं। गायकको स्वरोंके सङ्कोच-विस्तारका पूर्ण अवसर राग-रागनियोंके भीतर है, किन्तु छन्दके प्रवाहमें यह सम्भव नहीं। मात्रिक छन्दोंमें यह स्वतन्त्रता कुछ अंशोंमें है। ह्रस्वको दीर्घ अथवा दीर्घको ह्रस्व करके पढ़ा जा सकता है किन्तु मात्रा-कालका अन्तर एकसे अधिक नहीं हो सकता। तुलसी, सूर आदिने जो रागोंका निर्देश किया है, उसमें अनेक राग नहीं अपितु रागिनियाँ हैं। इतना होनेपर भी भाव और साहित्य यहाँ अपने स्वतन्त्र रूपमें प्रतिष्ठित हैं। रीति-कालमें दोहे, कवित्त और सवैया कवियोंके अधिक प्रिय रहे। कवित्त-सवैयाकी गणानुसारिणी गति है और बँधे शास्त्रीय विधानके भीतर

उपयोग गायक करते हैं, किन्तु गीति काव्यका विकास रुक-सा गया। सत्य यह है कि इस युगमें आकर हिन्दी-कविता परम्परागत और रूढ़ हो गयी। वाह्य-रूप वर्णनमें कवियोंने जितना श्रम किया उतना आन्तरिक वृत्तियोंके उद्घाटनमें नहीं। विद्यापतिकी श्रृङ्गारिकता और काम-वासना-का शोध भक्तिकालमें हुआ, रीति कालीन काव्यको श्रृङ्गारी काव्य कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि इसमें नायक-नायिका, उद्दीपन-सञ्चारीका वर्णन अधिक मिलता है। बँधी परिपाटीके भीतर रूप-वर्णन कर कवि सन्तोष-लाभ करता रहा। श्रृङ्गार-रसका पूर्ण परिपाक भी उसमें कहीं नहीं दीख पड़ता। संस्कृत शास्त्रकारोंने जिन्हें रीति कहा है, उनका भी इन कविताओं-से सम्बन्ध नहीं। अलङ्कार और उनके द्वारा चमत्कार उत्पन्न करनेका शौक कवियोंको इतना रहा कि हार्दिक वृत्ति, रागात्मक अनुभूतिके प्रकाशनकी समस्या उनके सामने खड़ी नहीं हुई। मेरे विचारमें हिन्दी-साहित्यका यह अलङ्कार-युग था कारण अलङ्कारका उदाहरण उपस्थित करनेके लिए ही कवियोंने काव्य-रचना की। फलतः गीति-काव्यकी रचनासे काव्य-जगत् वञ्चित रहा। भक्ति-कालकी रचनाओंके आदर्शपर कुछ पदोंकी रचना हुई किन्तु उनका कोई विशिष्ट स्थान साहित्यिक दृष्टिकोणसे नहीं। काव्यके इस अधःपतनके वाद ही हिन्दी-साहित्यके आधुनिक कालकी सूचना देनेवाले भारतेन्दुका उदय होता है। भारतेन्दुने प्राचीन परिपाटीके अनुरूप कवि-ताएँ लिखीं, फलस्वरूप भक्त कवियोंकी परम्परानुसार और कुछ श्रृङ्गारपरक गीतों अथवा पदोंकी रचना की। काव्य-दृष्टिसे इनमें कोई नवीनता नहीं किन्तु मनोभावोंके चित्रणकी पुनर्स्थापनाके रूपमें गीति-काव्यके विकासमें भारतेन्दुका स्थान निश्चित है। स्वतन्त्र पदों अथवा गीतोंको रचनाके अतिरिक्त नाटकोंमें गेय गीतोंके रूपमें इनको रचना मिलती है जिसमें देश-

क्तिका राग है। यद्यपि शुद्ध गीतियोंके अन्तर्गत इनकी गणना हीं हो सकती किन्तु गीति-काव्यको नयी दिशाकी सूचना मिली। सूर और तुलसीके गीतोंकी भाषा कृत्रिम रूपमें साहित्यिक है, तुलसामें संस्कृतका और सूरमें व्रजभाषाके परम्परागत रूपकी रक्षाका प्रबल आग्रह है। तुलसीकी भाषा, कहना चाहिये, अधिक पण्डिताऊ है। फल यह हुआ कि रामायण अपनी कथा, सरलता एवं जीवनके व्यापक रूप-निर्देशनके कारण जितनी जनादृत हुई, उतनी उनकी अन्य रचनाएँ नहीं। विनय-पत्रिका जो भक्ति-निरूपण, सिद्धान्त-दिग्दर्शनके रूपमें रामायणसे श्रेष्ठ है, भाषाके व्यवधानके कारण जन-समादृत नहीं हो सकी। भारतेन्दुमें भाषाकी इस कृत्रिमतासे छुटकारा पानेका प्रयास देखा जाता है। गानेके लिए लावनियाँ और ख्यालकी तथा देश-दशा आदि सम्बन्धी होली या वसन्तकी भी रचना इन्होंने की। भारतेन्दुका उदय इस प्रकार नये मार्ग-का संकेत देता है।

पाश्चात्य प्रभाव

अंग्रेजी राज्यकी स्थापनाके साथ ही भारतवर्षमें अंग्रेजी भाषा और साहित्यकी शिक्षाका क्रम प्रारम्भ हुआ एवं क्रमशः भारतीय चिन्ता-धाराको नव-प्रेरणा मिली। जिस क्रमसे अंग्रेजीकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका विकास हुआ, उससे ध्यान हटकर उनके परिपक्व रूपपर ही जाना स्वाभाविक था। अंग्रेजी साहित्यमें गीति-काव्य स्वतन्त्र रूपसे विकसित हो रहा था फलस्वरूप उसके विकसित रूपका प्रभाव कुछ तो सीधे और कुछ बङ्गला होता हुआ हिंदी गीति-काव्यपर पड़ा। अंग्रेजीके विकसित गीति-काव्य सामान्य दृष्टिसे विचार कर लेना आवश्यक है; कारण आधुनिक गीति काव्यकी भूमिकाके रूपमें पाश्चात्य-धाराका प्रभाव अधिक पड़ा है। पहले

इसका संकेत दिया जा चुका है कि पाश्चात्य विचार-धाराका उद्गम ग्रीक साहित्य और विशेषकर अरस्तूकी साहित्य सम्बन्धी चिन्तनाएँ हैं। प्लेटोने अपने आदर्श प्रजातन्त्रसे कवियोंके निष्कासनका विधान किया है। सेफोके गीतोंका अध्ययन करनेसे पता चलता है कि उस प्रारम्भिक युगके गीतोंमें विकासकी सभी सम्भावनाएँ थीं। गायकके अन्तरमें उठनेवाली भावनाके साथ सामूहिक रागात्मक वृत्तिका सामञ्जस्य उसमें है। विचारकी गौणता एवं कल्पनाके उद्रेकके लिए भी स्थान है और है उसमें प्रभावके सामञ्जस्यका विधान भी। शब्द और सङ्गीतके समन्वयकी चेष्टा भी है। विकास-क्रममें बीज रूपमें उपस्थित वस्तुओंकी विशिष्टता एवं प्रधानताके कारण इसके स्वरूप-विधानमें अन्तर आता गया। वैयक्तिक अन्तर्दर्शनके विशिष्ट आग्रहके कारण गीति-काव्य सामूहिक संसर्ग छोड़ समाज एवं वर्ग-विशेषका बनता गया यहाँतक कि आत्म-निष्ठा गीति-काव्यकी अन्यतम कसौटी-सी बन चली। गीति-काव्यके कल्पना-तत्त्वपर क्रमशः अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा और इसे गीति-काव्यका अन्यतम अङ्ग स्वीकार करनेमें किसी प्रकारकी द्विविधा या सङ्कोच नहीं रह गया। प्रभावकी इकाई (Unity of impression) लम्बे और मिश्रित गीति-काव्योंके लिए भी आवश्यक समझी जाने लगी। प्राचीन कालमें गीति-काव्यका सङ्गीतके साथ अन्यतम साहचर्य था बल्कि यह कहना उचित होगा कि सङ्गीत-तत्वको प्रमुखता और भावना एवं विचार-तत्त्वोंको गौणता प्राप्त थी। क्रमशः भावों और विचारोंको इतनी प्रधानता मिलने लगी कि सङ्गीत ही गौण हो उठा। उत्तरोत्तर सङ्गीत इतना गौण होता गया कि काव्यका लयात्मक—सङ्गीत-संयुक्त नहीं—होना ही आवश्यक रहा और शब्द-सङ्गीतकी प्रतिष्ठा हुई जिसके अनुसार शब्दोंमें अपना सङ्गीत है और शब्दोंका समुच्चय विशेष प्रकारके सङ्गीतात्मक प्रभावकी सृष्टि करता है। अंग्रेजी

साहित्यके एलिजावेथ-युग (Elizabethan Age) में यह प्रवृत्ति लक्षित हुई, जिसमें सङ्गीतात्मकताका आग्रह नहीं रहा वल्कि लयपर कविका ध्यान रहा। रोमांटिक युगमें इस प्रवृत्तिके दर्शन होते रहे। शेली, कीट्ससे लेकर स्विनबर्नतकमें यह प्रवृत्ति लक्षित होती है। जिसमें भाग्यवादिता एवं निराशाकी प्रमुखता है, जिसकी काल्पनिक सामूहिक व्यथाएँ वैयक्तिक सुख-दुःख-प्रकाशनके मार्गमें बाधक थी, जिसमें रागात्मक अनुभूतिकी अभिव्यक्तिके उपयुक्त अवसर न था वैसे ऐंग्लो-सैक्सन युगके गीति-काव्यका—आकस्मिक परिवर्त्तन ईसाई धर्मके लैटिन गीत और फ्रेंच साहित्य द्वारा हुआ। इंग्लैण्ड नारमन विजयके पश्चात् गीतोंसे भर गया किंतु ये गीत फ्रेंचमें थे। प्रारम्भिक युगमें फ्रेंच-पद्धतिपर ही गीतोंकी रचना होती रही। फ्रेंच गीतोंका अंग्रेजीपर सीधा प्रभाव कम पड़ा। चासर (Chaucer) पर इसके प्रभाव पड़नेके पूर्व ही फ्रेंच-गीत आल्प्स पार इटलीमें पहुँच चुके थे। पेट्रार्क (Petrarch) से इटालियन गीति-काव्यका नवोन्मेष अथवा नव-जागरण प्रारम्भ होता है। सानेट (Sonnet) का वह सिद्धहस्त रचयिता था जिसके स्वरूप विधान को अंग्रेजीमें शेक्सपियर द्वारा लोक-प्रियता प्राप्त हुई। शेक्सपियरके पू[illegible] इस प्रकारका काव्य बौद्धिकतासे बोझिल अतः रागात्मक अभिव्यक्तिव [illegible] माध्यम कम रहा। ग्रीक और लैटिनके कवि प्रेमके गीत गाते रहे, किन[illegible] प्रेमके इस वर्णनमें अनुभूतिके स्थायित्वकी ओर इनका ध्यान न था जिस प्रकार भारतीय कवि प्रेमको स्थायी, जाग्रत् और दैनन्दिन प्रभा बोधक मानता रहा, प्रेमके वैसे व्यापक रूपसे इनका सम्बन्ध अधिक [illegible] था अपितु इन्होंने प्रेमके क्षणिक आनन्द और अपनी प्रेमिकाके [illegible] सौन्दर्यका चित्रण किया। इनके विचारमें सौन्दर्य शीघ्र नष्ट होने[illegible] [illegible]—कारण आन्तरिक सौन्दर्य देखनेका इन्होंने प्रयास नहीं किया—

मृत्यु सौन्दर्य और द्रष्टामें व्यवधान उपस्थित करने वाली। अंग्रेजी साहित्यका नव-जागरण काल सौन्दर्यकी इस भावनासे ओत-प्रोत है किन्तु आवश्य-कतानुसार कविने इनका शोध कर दिया। नारी, शराब और पुष्पके सौन्दर्यका चिन्तन, कोमल और उदार वस्तुएँ एवं भावनागत ऐन्द्रिय प्रभावोंका सामञ्जस्य तथा शब्दकी सङ्गीतात्मक शक्तिका अद्भुत् समन्वय इस कालके कवियोंमें है। कलात्मक अनुभूतिको सन्तुष्ट करनेवाले गीति-काव्योंका अतः जन्म हुआ जिसमें जीवनके हास-अश्रुके क्षणोंका मोहक चित्र उपस्थित किया गया। कल्पनाके विस्तारको स्थान मिला। प्रकृतिके सौन्दर्य एवं उसके प्रभावसे कवि प्रभावित हो अपनी रागात्मक अनुभूतिका आरोप उसपर करने लगा। वर्ड्सवर्थने रहस्यवादीकी भाँति प्रकृतिके अन्तस्तलमें पैठनेकी शिक्षा दी जो परमात्माका अन्यतम निवास स्थल है। 'लिरिकल वेलैड्स'में उसने गाया—

Of some thing for more deeply interfused,
Whose dwelling is the light of setting suns,
And the round ocean and the living air,
And the blue sky, and in the mind of man:
A motion and a spirit, that impels
All thinking things, all objects of all thought,
And rolls through all things.

परम्परा और रूढ़िका इतना प्रबल प्रभाव था कि स्वतन्त्र चेतना मर-सी गयी थी अतः इसके प्रति बाइरन, शेली आदिने विद्रोह किया। सौन्दर्य-प्रेमी बाइरनने ऐन्द्रिय अनुभूतिकी तीव्र अभिव्यक्ति की एवं मानव-जीवनकी व्यर्थताके शोक-विह्वल भाव अभिव्यक्त किये। शेलीके अस्पष्ट

आदर्श सुन्दर और आकर्षक थे। उसके काव्यत्वकी आत्माकी पुकार 'एशिया'के गीतमें मिलती है—

"Lamp of Earth! where'rer thou movest
Its dim shapes are clad with brightness,
And the souls to whom thou lovest
Walk upon the winds with lightness,
Till they fail, as I am failing,
Dizzy, lost, yet unbewailing!"

अस्पष्ट आदर्शोंकी अव्यावहारिकता अतः प्रभावहीनताके कारण निराशा-जन्य भावोंका उद्गम मिलता है और वह शोकके आकर्षणका वर्णन करता है—

Out sincerest laughter
With some pain is fraught;
Our sweetest songs are those that
tell of saddest thought.

कीट्समें सौन्दर्यने अपना अन्यतम पुजारी पाया था। सौन्दर्यका महत्त्व उसके मूर्त्त-विधान एवं सौंदर्यिक सामञ्जस्यका चित्र उसने दिया त' ऐसे चित्रोंके अंकित करनेकी उसकी अभिलाषा उसे सदा बनी रही।

इन गीति-काव्योंके अन्तर्गत एक और भावना कार्य कर रही थ मम्मटने काव्यको 'कान्ता-सम्मित-उपदेश' कहा है। कला और प्रच इतना ही अन्तर रह जाता है कि प्रचार खुले शब्दोंमें अपने म ढिण्ढोरा पीट लोगोंको अपना मतानुयायी बनाना चाहता है एवं अपने मतको ठीक उसी भाँति रखती है जिसके लिए कविने क 'झीन वसन महँ झलकत काया'। प्रचार जब अपने मतको इसी

प्रच्छन्न रूपमें रखना है, कलाको गंगा प्राप्त कर लेना है। कवियोंने भी अपने मतका प्रचार किया है यद्यपि उनके मतवादने सौन्दर्यको नष्ट नहीं होने दिया। काव्यत्वका आग्रह इस सौन्दर्यिक प्रभावमें है। वर्ड्सवर्थके निष्कर्ष बौद्धिक एवं रागात्मक अनुभूतिको विजड़ित करनेवाले हैं और बायरन एवं शेली स्वातन्त्र्य-सिद्धान्तके प्रचारमें दत्तचित्त हैं। इतना होनेपर भी कल्पना-तत्त्वकी प्रधानता रही। कवि प्रातिभ-क्षणोंमें नवीन किरणोंका आलोक देखता है और अपनी आत्मानुभूतिको वाणी देनेका प्रयास करता रहा। इस प्रकार प्रकृतिने नवीन रूपमें उसे प्रभावित किया। इसके साथ ही छन्द-बन्धनकी मुक्तिका सन्देश भी मिला। छन्दोंके नवीन प्रयोग नवीन प्रभाव व्यक्त करनेके लिए इन्होंने किये। वर्ड्सवर्थने मिल्टनके समयसे प्रायः त्यक्त 'सानेट'को उसके पूर्ण महत्त्वके साथ उपस्थित किया और उसके बादसे इसकी लोक-प्रियता कभी कम नहीं हुई। कालरिजने प्राचीन रोमांसोंके छन्दोंको नवीन स्फूर्ति और सौन्दर्य प्रदान किया। स्पेंसरियन स्टांजामें कीट्स और बायरनने नवीन प्रभाव भर दिया। शेलीने अंग्रेजी, फ्रेंच और इटालियनके प्राचीन छन्दोंको नवीन सौन्दर्य और प्रभावके साथ उपस्थित किया। प्राचीन छन्दोंका नव-विधान इन कवियोंने संस्कार एवं परिवर्तन-परिवर्द्धनके द्वारा उपस्थित किया। केवल छन्दोंके निर्वाचनमें इनकी स्वतन्त्रता नहीं बल्कि छन्दोंके संस्कार और गठनमें इनकी प्रतिभाका पूर्ण विकास हुआ। विक्टोरियन युगमें रागात्मक अनुभूतिकी गम्भीरता अधिक न रही और साधारण वस्तुओंका प्रवेश हुआ। अति भावुकता (sentimentalism) का प्रभाव अधिक इस युगमें दीख पड़ा। इस युगके प्रतिनिधि कवियोंने युग और युगकी समस्याओंको व्यापक दृष्टिसे देखने और अपने विश्वास और मतको पुष्ट रूपसे प्रत्यक्ष रखनेका प्रयास किया। आरनल्डने

अपने चतुर्दिक् फैली भौतिक उन्नतिके प्रति अवहेलना प्रकट की। ब्राउनिंग जीवनकी विविधता एवं संघर्षमें आनन्द पाता रहा। सत्यकी विजय और महापुरुषोंके जाग्रत् क्षणोंके चरित्र-चित्रण एवं भाव-प्रकाशनमें उसकी अद्भुत् क्षमता है। इंग्लैण्डकी कवि-परम्पराकी भावनाओंको अपने आत्मसात् करनेकी चेष्टा की है। 'टेकनीक'का वह अद्भुत् कलाकार है। अंग्रेजीकी इस उन्नत परम्पराके साथ हिन्दी कवियोंका सम्पर्क होता है। हिन्दीके कवि वर्ड्सवर्थ, शेली और कीट्ससे जितना अधिक प्रभावित हैं, उतना अधिक और किसीसे नहीं। प्रगतिवादी बननेके पूर्व पन्तके गीतोंमें प्रकृति-दर्शन और जीवनकी सरलताका मोह है, यद्यपि रहस्यात्मकताका यत्र-तत्र संकेत भी मिलता है। चित्रमयी भाषामें कल्पनाके सुन्दर चित्र पन्तजीने खींचे हैं। सौन्दर्य और उसके आह्लादकारी रूपके वर्णनमें कविका विशेष आग्रह दीख पड़ता है। सौन्दर्य केवल बाह्य अथवा शरीरी न रहकर अशरीरी अथवा छायात्मक हो गया है। जीवनका सौन्दर्य नवीन रूपसे उन्मेष देता है।

एक ही तो असीम उल्लास
विश्वमें पाता विविधाभास,
तरल जलनिधिमें हरित विलास
शान्त अम्बरमें नील विकास
वही उर-उरमें प्रेमोच्छ्वास;
काव्यमें रस, कुसुमोंमें वास;
अचलतारक पलकोंमें हास,
लोल लहरोंमें लास!
विविध द्रव्योंमें विविध प्रकार
एक ही मर्म मधुर झंकार!

आधुनिक युगके गीतमें सौन्दर्यके प्रति आकर्षण, प्रणय-निवेदन, अतृप्त आकांक्षा, वेदनाकी व्यञ्जना, जीवनके अवसाद-विषाद एवं रहस्यात्मकताका उन्मेष है। प्रसाद जहाँ जीवनको दार्शनिक भूमिकामें रख आनन्दवादकी ओर चलते हैं, वहाँ महादेवीकी करुण मधुरता जीवनको नवीन मार्मिकताका सन्देश देती है। निरालाका उग्र दर्शन जहाँ जीवनको बौद्धिक रूपमें हलचल देता है, वहाँ पन्तकी सौन्दर्य-भावना हमें भावाकुल बनाती है। प्रसादके गीतोंमें प्रातिभ चमत्कार और जागरूक भावुकताके साथ बौद्धिक विकासकी भावना है। शब्द-सौन्दर्य और शब्द-सङ्गीतकी झङ्कार अपरिमित है। प्रेमके मधुर विलास, यौवनके उन्मद सम्भारकी कलात्मक अभिव्यञ्जना है। अतीतकी स्मृतियोंका मोहक चित्र 'आँसू'में अंकित है, उसमें जलन है, विषाद है और हैं उन्माद तथा बेसुधपन। प्रकृतिके मूर्त-विधानमें प्रसादको कम सफलता नहीं मिली है। 'सरल शब्दविन्यास द्वारा भावाकुलताकी दशाका चित्र 'बच्चन'के गीतोंमें है। महादेवीकी कल्पना इतनी सूक्ष्म हो उठती है कि उसका चित्र साधारणतया पाठकके मानस-चक्षुओंके सामने नहीं उतरता। शब्दोंकी झंकार समाहित प्रभाव व्यक्त कर मौन हो जाती है। महादेवीके गीतोंमें शेली-जैसी अस्पष्टता है। महादेवीके चित्र जहाँ स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रेखाओंमें बँध पाते हैं, वहाँ उनकी मधुर पीड़ा व्यञ्जक कल्पना सङ्गीतके माधुर्यके साथ मिल नवीन लोककी सूचना देती है। महादेवीकी भाव-तन्मयता मीरा-जैसी है किन्तु दार्शनिक आधार भिन्न है। मीरामें ऐन्द्रियताकी जहाँ रेखाएँ स्पष्ट हैं, वहाँ महादेवी शरीर-धर्म और शारीरिकतासे ऊपर उठ गयी हैं। केवल शृङ्गार और प्रेम, विरह और मिलनसे ही परिपूर्ण नहीं बल्कि देश-प्रेम, मानवता-प्रसार, मानवीय दृष्टिकोणमें क्रान्तिके गीत आजके कवि गाते हैं। हिन्दीके गीति-काव्यका यह बहुमुखी प्रसार अपेक्षाकृत

नवीन है। इस प्रकार उस भूमिपर हम पहुँचते हैं, जहाँ गीति-काव्यके तत्त्वोंका विश्लेषण निरूपण आवश्यक हो उठता है। विकास-क्रमकी इस स्थितिमें वैयक्तिक अनुभूतिकी संवेदनशील सङ्गीतात्मक अभिव्यक्ति ही गीति-काव्य है। गीति-काव्यके उद्भव और विकासके संक्षिप्त इतिहास द्वारा गीति-काव्यके इन तत्त्वोंकी ओर हमारा ध्यान जाता है—

१. संगीतात्मकता !

२. जीवनके एक पहलूका कलाकारके मनपर पड़नेवाले कल्पना-गत प्रभावका सौन्दर्य-और कला-पूर्ण चित्रण।

३. रागात्मक अनुभूतिकी इकाई और समत्व।

४. अन्तर्दर्शन और आत्म-निष्ठता—सुख-दुःख, राग-द्वेष, आशा-निराशा जिसके आधार हैं।

५. लयात्मक अनुभूति।

६. समाहित प्रभाव।

सङ्गीतात्मकता

काव्य चित्र और सङ्गीतका समन्वित चित्रण है। काव्यका आधार शब्द, अर्थ, चेतना और रसात्मकता है। शब्द एक ओर जहाँ अर्थकी भाव-भूमिपर पाठकको ले जाते हैं, वहाँ नादके द्वारा श्राव्य मूर्त्त-विधान भी करते हैं। शब्दका महत्व उनके द्वारा प्रस्तुत मानसिक चित्र और ज्ञापित वस्तुके सामञ्जस्यमें है। जो वस्तु देखी नहीं गयी है उसका चित्र जो 'मानस-चक्षुओंके सामने उतरता है, वह काल्पनिक है और अनेक अंगोंमें वास्तविकतासे भिन्न; कारण ज्ञात वस्तुओंके आधारपर ही उसकी कल्पना हुई है। मानव-विकासके आदिक्रममें अभिव्यक्ति नादात्मक रही। वैयक्तिक एवं सामूहिक अभिव्यक्तिका यह नादात्मक आधार पीछे चलकर

दो शाखाओं—स्वर और नाद—में विभक्त हो गया। नादकी प्रधानता इस प्रकार प्रदर्शित की गयी है—

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनं मतं जगत्॥

भारतीय वाङ्मयमें नाद और ध्वनिकी उत्पत्तिका जो प्रतीकात्मक वणन मिलता है, उससे इस कथनकी पुष्टि होती है। नन्दिकेश्वरकारिकामें ध्वनिकी उत्पत्तिका वर्णन इस प्रकार मिलता है :—

नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्
उद्धर्तुकामस्सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।

इसी प्रकार माहेश्वर सूत्रका उद्भव नटराज (महेश्वर) के नृत्योपरान्त चौदह बार ढक्का अथवा डमरूके बजानेसे हुआ और इस चौदह सूत्रोंकी उत्पत्ति हुई।

१. अइउ ण्	८. झभ ञ्
२. ऋऌ क्	९. घढध ष्
३. ए ओ ङ्	१०. जबगडद श्
४. ऐ औ च्	११. खफछठथचटत व्
५. हयवर ट्	१२. कप य्
६. ल ण्	१३. शषस र्
७. ञमङणन म्	१४. हल्

रुद्र डमरूद्भव-सूत्र-विवरणमें शङ्कर नादके पिता एवं व्याकरण और सङ्गीत शास्त्रके जन्मदाता माने गये हैं। सृष्टि गतिशील है, इसकी गति नियमबद्ध अतः लय-ताल-अनुबद्ध है। प्रभामण्डलके द्वारा सृष्टिकी एवं

शङ्करकी इस ताण्डव नृत्य—सृष्टिके लयात्मक गीतिका प्रतीक उपस्थित किया गया है। नादका माध्यम स्वीकारकर सङ्गीत सदासे मानव-मनको आकृष्ट करता रहा है। भाषाका स्वरूप विभिन्न होनेपर भी रागात्मक अभिव्यक्तिका मूल साधन प्रारम्भिक कालमें सङ्गीत ही था। प्राचीन धर्मोंकी धार्मिक क्रियाओंमें सङ्गीतकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। सामगानके सात स्वरोंका क्लासिकल (संस्कृत) सङ्गीतके सात स्वरोंके साथ सम्बन्ध नारदीय शिक्षामें दिखलाया गया है :—

यस्सामगानां प्रथमस्स वेणोर्मध्यमस्स्मृतः।
योऽसौ द्वितीयो गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभस्स्मृतः।
चतुर्थष्पड्ज इत्याहुः पञ्चमो धैवतो भवेत्।
षष्ठो निषादो विज्ञेयस्सप्तमः पञ्चमस्स्मृतः॥

सामगान	संस्कृत सङ्गीत
स्वर (१)	मध्यम (म)
,, (२)	गान्धार (ग)
,, (३)	ऋषभ (रि)
,, (४)	षड्ज (स)
,, (५)	धैवत (ध)
,, (६)	निषाद (नि)
,, (७)	पञ्चम (प)

ध्वनिके मूलकी कल्पना नादात्मक अभिव्यक्तिकी सूचना देती है—

षड्जं मयूरो वदति गावो रम्भति चर्षभम्
अजाविके तु गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्

पुष्पसाधारणे काले कोकिलो वक्ति पञ्चमम्
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः ॥

एक दूसरेने कहा है—

स्वर 'षड्ज' को केकी कहैं, पुनि 'ऋषभ' चातक जानिये ।
'गन्धार' मानहुँ छाग बोलत, 'क्रौञ्च' 'मध्यम' मानिये ॥
स्वर 'कोकिला' 'पञ्चम' कहैं, ध्वनि होत 'धैवत' दादुरैं ।
मातङ्ग गरज निषादको सुनि, चतुर जन सब आदरैं ॥

ऊपरके श्लोकमें ऋषभको गायका रम्भाना कहा गया है ।

ध्वनिके इस प्रभावको व्याकरणने 'स्फोट' और काव्यने 'अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जना'—मूल मानकर नवीन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया । तन्त्र ग्रन्थोंमें सङ्गीतके इस महत्त्वका पूर्ण वर्णन मिलता है । यामलाष्टकतन्त्रमें लिखा है :—

गान्धर्ववेदः षट्त्रिंशत्सहस्रग्रन्थसम्मितः
यत्र सप्तस्वरोत्पत्तिकथनं परिकीर्त्यते ।
वीणातन्त्रं कलातन्त्रं रागतन्त्रमनुत्तमम्
मिश्रतन्त्रं तालतन्त्रं गीतिकात्तन्त्रमेव च ।
लासिकोल्लासिकातन्त्रं मेलतन्त्रं महत्तरम्
जातिग्रहलयस्थानं मार्गाङ्गप्रक्रिया क्रिया ।
कालज्ञानं वाद्यावल्लीत्रिभिन्नाध्याय एव च
तुरङ्गगतिसारङ्गसिंहलीलाविजृम्भणम् ।
अङ्गहारप्रविक्षेपाध्यायस्संक्षोभणक्रियाः
एवमादीनि गान्धर्ववेदे सन्ति सहस्रशः ॥

छन्दशास्त्रने 'वर्णप्रस्तार' के रूपमें संगीतका ध्वनि-तत्त्व स्वीकार किया है :—

दाम्पत्यवृत्त—

कालविशेषे कोकिल उच्चैः कूजति काकस्सन्तमेव ।
कूजन्तं पिकमालोक्यार्याः सन्तुष्यन्ति न काकं दृष्ट्वा ॥

सङ्गीतके इस व्यापक प्रभावका वर्णन साहित्यमें कम नहीं—

The man that hath no music in him
Nor is moved with concord of sweet sounds,
Is fit for treasons, stratagem and spoils
The motions of his spirit are dull as nigtht:

शेक्सपीयर : मरचेण्ट आफ वेनिस

जब मुरली हरि अधर धरत
खग मोहे मृगयूथ भुलाने निरखि मदन छवि छरत ।
पसु मोहे सुरभीहु थकीं तृण दंतहि टेक रहत
शुक सनकादि सकल मन मोहे ध्यानिउ ध्यान वहत ।—सूर
किती न गोकुल कुलवधू, काहि न केहि सीख दीन ।
कौंने तजी न कुल गली ह्वै मुरली सुर लीन ॥—विहारी
सुन पड़ा ज्यों स्वर वेणुनिनादका सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा
हृदय-यन्त्र निनादित हो गया तुरत ही अनियन्त्रित भावसे
वयवती युवती बहु बालिका सकल बालक वृद्ध वयस्क भी
विवशसे निकले निज गेहसे स्वदृगका दुख मोचनके लिए ।

—हरिऔध

भारतीय काव्य सङ्गीतका साहचर्य लेकर चला । काव्य और सङ्गीत-का शास्त्रीय विकास स्वतन्त्र रूपमें होता रहा, फलतः काव्य काव्यत्वको

और सङ्गीत सङ्गीत-तत्त्वके शास्त्रीकरणमें लगे रहे, इस प्रकार सङ्गीत और काव्य निज-कृत कृत्रिम बन्धनोंमें बँधते हुए लोक-भावनासे दूर पड़ते गये। किसी भी नयी धाराका प्रारम्भ आकस्मिक नहीं होता। युग-विभाजनकी रेखाएँ भी स्पष्ट नहीं हो सकतीं। एक धाराके अन्तके बहुत पहले नयी धाराका बीजारोपण हो चुका रहता है अथच् प्राचीन परम्परा ही नवीन रूप धारणकर सामने आती है। गेय काव्य और गीत काव्यके पारस्परिक सम्बन्धकी चर्चा अन्यत्र की गयी है, यहाँ इतना ही कहना अलम् होगा कि लोकप्रचलित, शास्त्रीय सङ्गीत-कलाके विरोधी, स्वाभाविक लय-तान समन्वित, लोक-गीतोंके काव्यात्मक रूपका विकास गीति-काव्यका आधार बना।

अरे अरे श्यामा चिरइया झरोखवै मति बोलहु
मोरी चिरई ! अरी मोरी चिरई ! सिरकी भीतर बनिजरवा,
जगाइ लाइ आवउ, मनाइ लइ आवउ॥

सहज, स्वाभाविक गीत-धाराका जो आग्रह है उसमें अतल-स्पर्शिनी क्षमता है, गायकोंके शास्त्रीय विधान द्वारा अलंकृत नाद-विधान और भावाभाव नहीं। संगीत प्रारम्भिक अवस्थामें जहाँ मानवीय हर्ष-उल्लास अश्रु-रोदनकी अभिव्यक्ति था, वहाँ शास्त्रीय बनकर, अनेक कृत्रिम बन्धनोंमें बँध सामूहिकता एवं मानव-वृत्तियोंका आधार खो बैठा। संगीत संस्कार एवं शिक्षाका आधार ग्रहण कर वर्ग-विशेषका अतः शास्त्रीय बन गया। गीति-काव्यका प्रारम्भिक युग सम्भवतः इसी मुक्त सङ्गीतका आधार लेकर चला। कबीरके पदोंमें इसी मुक्त सङ्गीतकी धारा है, स्वच्छन्द और निर्बन्ध। कबीरके गीतोंका सौन्दर्य उसके संगीतमें नहीं बल्कि भावात्मकतामें है। संगीत वहाँ केवल रागात्मक आवेशके उन्मेषके

लिए है भावको मार्ग दिखलानेके लिए। सङ्गीत गौण है, भाव प्रमुख। कबीरके गीतोंकी सरसता मीराकी तल्लीनतामें है। सङ्गीतका अनुबन्ध स्वीकार करनेपर भी जो मार्मिकता, स्नेह-पिच्छल रस-धारा है, उसका समाहित प्रभाव मानवीय वृत्तिपर पड़े बिना नहीं रह सकता। कबीरके गीतोंमें काव्यत्व—शास्त्रीय अर्थमें—कम है और मीराने भी अपने काव्यको अलंकृत करनेका प्रयास नहीं किया। जो निश्छलता कबीरके मार्मिक उद्‌गारोंमें है, उसकी पूर्ण परिणति मीरामें है क्योंकि कबीरकी सरलता बुद्धिमूलक है और मीराकी भावाकुलता मिश्रित। मीराकी प्रेम-पीड़ा, भावोन्माद, मिलनोत्कण्ठा, आत्म-समर्पण, आत्म-विस्मृति अनुभूतिकी ठोस भूमि पार लोकोत्तर हो उठी है। सहजानुभूतिके क्षणोंमें मीरा गा उठती है:—

जो मैं ऐसा जानती, प्रेम किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रेम न कीजै कोय॥

गीति-काव्य और लोक-गीतके सम्पर्कका उदाहरण इनमें मिलता है—

कागा नैन निकाल दूँ, पिया पास ले जाय।
पहिले दरस दिखायकै, पीछे लीजौ खाय॥

—भोजपुरी ग्राम-गीत

कागा नैन निकारके, ले जा पीके द्वार।
पहले दरस दिखायके, पीछे लीजो खाय॥

—मीरा

कागा सब तन खाइयो, चुन-चुन खइयो मास।
दो नयना मत खाइयो, पिया मिलनकी आस॥

—ग्राम गीत

कागा सब तन खाइयो, चुन-चुन खैयो मास ।
दो नयना मत खाइयो, पिय देखनकी आस ॥

—मीरा

ग्राम-वधू आकाशमें उड़ते मेघ-मालाको देख कहती है:—

कारिक पियरि बदरिया झिमिक देव बरसहु,
बदरी जाइ बरसहु उही देस जहाँ पिय कोड़ करैं ।
भीजैं आखर-बाखर तम्बुआ कनतिया,
अ रै भितराँसे हुलसै करेज समुझि घर आवैं ॥

—ग्राम गीत

[काली प्यारी बदली रिमझिम कर बरसो, बदली उस देशमें जाकर बरसो जहाँ मेरे प्रिय केलि कर रहे हैं । घर-द्वार; तम्बू-कनात आदि गीले हो उठें । कलेजेमें उल्लास जग जाय और समझकर वे घर लौट आवें ।]

.द्मावतमें बागमती कहती है—

नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं हेवन्त बसन्त ।
ना कोकिल ना पपीहरा, जेहि सुनि आवै कन्त ॥

—जायसी

अवस्थाका मार्मिकतापूर्ण स्वाभाविक वर्णन है । शायद इसी प्रकार-के गीतोंके मेघोंका ध्यान कालिदासको मेघदूतकी रचनाके समय था । सूर और तुलसीके गीतोंमें यह स्वाभाविकता नहीं । सूरमे अनुभूतिका भावात्मक वर्णन है । रामचन्द्र शुक्लके कथनानुसार भले गोपियोंका विरह-

निवेदन बैठे-ठालोंका व्यापार हो, किन्तु उसकी मार्मिकतामें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। इतना मानना पड़ेगा कि सूरमें काव्यत्वकी प्रतिष्ठा और सङ्गीत-तत्त्वकी रक्षाका आग्रह है। तुलसीकी अ लंकृत-प्रियताने इस भावनाको और अधिक प्रभावित किया। अलङ्कार-विधान जहाँ अनुभूतिका चित्र उपस्थित कर उसे रसास्वादनके उपयोगी बनाता है, वहाँ कृत्रिमताका आरोपकर सहज अनुभूतिको सीमित भी करता है। अनेक स्थानोंमें अलङ्कारोंका मोह अनुभूतिके अभाव अथवा छिछलेपनकी सूचना देता है। तुलसीके काव्यत्वके आग्रहके भीतर अनुभूतिकी अपेक्षाकृत कम गहराईकी सूचना मिलती है और सङ्गीतके शास्त्रीय विधान उसकी पूर्त्ति-के लक्षण हैं, यद्यपि इनका शास्त्रीय निर्वाह शायद सर्वत्र सम्भव नहीं हो सका है। सङ्गीत और काव्यत्वका सम्यक् निर्वाह किया गया है। सहज स्वाभाविक सङ्गीतके स्थानमें शास्त्रीय संगीत-विधानके कारण लोक-भावनाके साथ सामञ्जस्यका वह अवसर नहीं रहता। तुलसीके भक्ति-मूलक गीत लोक-कण्ठमें बसते हैं किन्तु प्रेम और विरहके गीतोंके रूपमें मीरा और सूरके पद ही अधिक आदृत हैं। अनुभूतिके इसी तत्त्वके लिए मीरने कहा है—

> 'कब और गजल कहता मैं इस जमींमें लेकिन,
> परदेमें मुझे अपना सुनाना था अहवाल।'

सङ्गीतकी शास्त्रीय राग-रागनियोंकी संख्यामें नवीन राग-रागनियोंका समावेश यथासमय होता रहा। तानसेनने कई नवीन राग-रागनियोंकी योजना की किन्तु चिन्ता-धारा और प्रवृत्ति एक ही रही। परिवर्तनका क्रम अङ्गरेजी सभ्यता और संस्कृतिके साथ ही कलात्मक भावनाके कारण आया। भारतीय और पाश्चात्य सङ्गीत-पद्धतिमें आकाश-पातालका अन्तर

है। भारतीय सङ्गीत-चेतनाका मूलाधार लय और माधुर्य है और पाश्चात्य संगीतका तारतम्य (harmony)। प्रथममें रागोंके स्वरोंका सम्बन्ध निश्चित है और पाश्चात्य सङ्गीतका विधान अनेक सन्धानोंमें होता है। भारतीय सङ्गीतकी स्वरमैत्रीमें जो वर्जित स्वर हैं, उनका प्रयोग भी पाश्चात्य सङ्गीतमें होता है। भारतीय सङ्गीत-पद्धतिमें भाव-प्रकाशनके लिए अधिक अवसर नहीं था किन्तु स्वरोंकी स्वतन्त्रता और मैत्रीके कारण भावना-प्रकाशका अवकाश अंग्रेजी प्रणालीमें है। भारतीय राग-पद्धतिके भीतर लयकी समानता और एक ही 'नूट' की अभिव्यक्तिका विधान है, उसमें विभिन्नताकी गुञ्जायश नहीं। पाश्चात्य संगीतमें सम्पूर्ण गीतके सन्तुलित लयात्मक प्रभावका आग्रह है। भारतीय स्वर-मैत्रीमें इसलिए गानेका समय, रागोंके चित्र और उनकी रागात्मक अभिव्यक्तिका स्वरूप निर्धारित है, उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं हो सकता। राग, ताल, लय और स्वरमैत्रीका विधान परम्परागत है और उसमें अन्तर नहीं आ सकता। कलाकारको इस प्रकारकी स्वतन्त्रता नहीं। पाश्चात्य कलाकार स्वर-मैत्रीका निर्माता है अतः वह स्वरैक्यका अपना विधान खड़ा करता है, कलाकारको नवीनताके प्रयोगके लिए अवसर वहाँके संगीतमें है अतः स्वर-मैत्रीके समाहित प्रभावकी अभिलाषा कलाकार रखता है। भारतीय सङ्गीतमें गमक, श्रुति और मूर्च्छनाकी अपेक्षा है। भारतीय सङ्गीत जहाँ पूर्णता (accuracy)और निर्वाह (execution)पर जोर देता है वहाँ पाश्चात्य सङ्गीत नाद (tone) और (timbre) स्वर-कम्पनपर। भारतीय पद्धतिमें सङ्गीतके प्रभावका निश्चय उसके द्वारा उद्भूत रागात्मक वृत्तिसे नहीं होता बल्कि उसकी पूर्णता और प्रभविष्णुताके प्रमाणके लिए नियमोंका अपरिवर्तनीय परिपालन ही यथेष्ट और आवश्यक समझा जाता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुरने पाश्चात्य और भारतीय सङ्गीतकी तुलनामें कहा है—

"मुझे ज्ञात होता है कि भारतीय सङ्गीत धार्मिक व्याख्यासे परिपूर्ण मानवी अनुभवसे, दैनन्दिन अनुभूतिसे अधिक सम्बन्ध रखता है। सङ्गीतका आध्यात्मिक मूल्य है। यह दैनन्दिन घटनाओंसे आत्माको मुक्त करता है और आत्मा एवं परमात्माके सम्बन्धका गीत गाता है। दिनका संसार पाश्चात्य संगीतकी भाँति है जिसमें तालैक्यका निरन्तर प्रवाह चल रहा है जो स्वर-मैत्री और स्वर-भङ्ग तथा असम्बद्ध अंशोंका समूह है और रात्रिकालीन संसार भारतीय संगीत है, एक शुद्ध, गम्भीर और कोमल राग। दोनों हमें प्रभावित करते हैं तद्यपि दोनोंकी आत्मामें विरोधमूलक हैं। किन्तु कोई चारा नहीं। प्रकृतिका मूल दिन और रात, एकत्व और अनेकत्व, अनन्त और सान्त में विभक्त है। हम भारतीय रात्रिके साम्राज्यमें वास करते हैं। हमलोग एकत्व और अनन्तकी भावनासे आविष्ट हैं। हमारा संगीत श्रोताको दिन-दिनके मानवीय सुख-दुःखसे दूर हटाकर विश्रान्ति और त्याग, जो सृष्टिका मूल है, की ओर ले जाता है और पाश्चात्य संगीत मानवीय हर्ष-शोकके उत्थान-पतनके विभिन्न नृत्यकी ओर उन्मुख करता है।"

भारतीय संगीतको जाति, राग और रागिनीमें विभक्त करनेका आधार उनकी बनावट (structure) था। ठाटकी अनिवार्यताके रूपमें लयका संकेत है और उसका विरोध अशास्त्रीय माना जाता है; यद्यपि एक ही ठाटके भीतर समान रागोंके मिश्रणका विधान है। ध्वन्यात्मक शक्तिकी परिसीमाके कारण ऐसी स्वतन्त्रता मिली, इसके साथ ही कृत्रिम बन्धनोंके तिरस्कारके साथ सहजानुभूति-प्रकाश और रागात्मक संवेदनाकी स्वीकारोक्ति थी। दरबारी कानडा और बहारके ठाटोंका अन्तर पाटनेकर नेता 'तान' द्वारा हुई। शास्त्रकारोंको पीछे चलकर वास्तविकताका ज्ञान हुआ और इस प्रकारके मिश्रणकी छूट गायकोंको मिली। दरबारी

प्रभावमें आकर गायकोंके झिंझिटकम्बोज, गौड-सारङ्ग, नट-केदार, पुरिया-धनश्रीके मिश्रण लोक-प्रिय हुए। रवीन्द्रनाथके प्रभावमें आकर नये मिश्रणका प्रचार बङ्गला संगीतमें हुआ। शास्त्रीय संगीतके साथ ही 'देशी'-का अस्तित्व बना रहा। यह लोक-गीतोंसे यथासम्भव अधिक प्रभावित रहा। संगीतकी पूर्ण परिणति शब्द और अर्थके विस्तारमें थी। जीवन, और उसकी वास्तविकता, प्रेम और पुलकके प्रति जागरूकता और चेतना इसमें थी। इसमें वैयक्तिक और सामूहिक प्रेरणाका विकास था। इसके साथ ही इन गीतोंमें जीवनका दर्शन समाहित था जो टाकुरीय मनोदशाके अधिक अनुकूल था अतः भावावेश और अर्थका उन्मेष नवीन संगीत-धाराके साथ उनके गीतोंमें हुआ। पश्चिमसे आयी हुई संगीतात्मक चेतना और भारतीय वैशिष्ट्यका मिलन हुआ। प्राचीन परम्पराके शास्त्रीय संविधानके अन्तर्गत भी रागात्मक आवेशका सन्निवेश हुआ। टोड़ी और मल्हारमें गम्भीर रागात्मक अनुभूतिकी अभिव्यक्ति, और कम्बोज और पीलूमें कुछ चलते गीत आये किन्तु भाव और अर्थकी भूमि लेकर। प्रसादकी संगीत-चेतनाने लय-प्रसार और राग-विस्तारके भीतर अर्थभूमि की प्रतिष्ठा की। यहाँ काव्य और संगीतके सन्तुलनकी चेष्टा है। प्रसादके गीत शायद संगीतके शास्त्रीय विधानकी कसौटीपर कसे जानेपर शुद्ध नहीं उतरें किन्तु भाव-प्रसारकी सामर्थ्य उनमें अधिक है। रागात्मक अनुभूतिके विशिष्ट प्रभावको 'मूड' के साथ लयात्मक आवेश देनेकी चेष्टा प्रसादने की है। पाश्चात्य संगीत-धाराका प्रभाव उनपर नहीं पड़ा है। 'चन्द्रगुप्त' नाटकमें सुवासिनी गाती—

तुम कनक किरणके अन्तरालमें
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?

नत-मस्तक गर्व वहन करते
यौवनके घन रसकन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य ! बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?

अधरोंके मधुर कगारोंमें
कल-कल ध्वनिकी गुञ्जारोंमें
मधु सरिता-सी यह हँसी तरल
अपनी पीते रहते हो क्यों ?

इस गीतमें लाज-भरे सौन्दर्यका चित्र है। लाज-भरा सौन्दर्य इन पंक्तियोंमें मूर्त्तिमान हो उठा है। सौन्दर्य कनक-रेखा-सा उज्ज्वल और प्रकाशमान है किन्तु यह सौन्दर्य खुलकर आविष्ट नहीं कर पाता, बल्कि इस सौन्दर्य ने लज्जा-मिश्रित लालिमाका बन्धन स्वीकार कर लिया है। मधुर स्मित रेखाओंमें अभिव्यक्त लाज-भरा सौन्दर्य अपने-आपमें मग्न और बेसुध है। लज्जाभारावनत नवोढ़ा किशोरी जैसा चित्रण है यहाँ। कुछ अंशोंमें कल्पनाके आग्रहके कारण रेखाएँ सुस्पष्ट और दृढ़ नहीं हैं फिर भी चित्रको स्पष्ट करनेवाले संकेत पर्याप्त मात्रामें है। कवि यहाँ पूर्ण चित्र नहीं देता, उसका कार्य अनेक अंशोंमें रेखा-चित्रकारकी भाँति है, जो कुछ रेखाओंके द्वारा ही भावनाकी अभिव्यञ्जना करता है। लाज भरे सौन्दर्यके मौनके साथ कलकल ध्वनिकी गुञ्जारवाली मधु-सरितासे साम्य खोजनेके लिए कल्पनाको स्वतंत्र छोड़नेको बाध्य होना पड़ता है, फिर भी सौन्दर्यका यह अद्वितीय चित्र है। इसके साथ ही शास्त्रीय संगीतकी रक्षाका प्रयास भी है। कविने स्वयं जो स्वर-लिपि दी है, वह चन्द्रगुप्त नाटकके परिशिष्ट भागसे दी जाती है:—

×				२											
म	—	प	प	—	प	म	ग	म	म	प	प	प	ध	सं	सं
अ	ऽ	न्त	रा	ऽ	ल	से	ऽ	लु	क	छि	प	क	र	च	ल
नि	ध	प	म	ग	—										
ते	ऽ	हो	ऽ	क्यों	ऽ										

अन्तरा

								०				३			
						ग	म	ध	—	ध	ध	ध	—	ध	ध
						न	त	म	ऽ	स्त	क	ग	ऽ	र्व	व
×				२											
ध	नि	ध	नि	प	—	ग	—	म	म	प	—	प	ध	सं	ध सं
ह	न	क	र	ते	ऽ	यों	ऽ	व	न	के	ऽ	घ	न	र	स सं
नि	ध	प	म	ग	—										
क	न	ढ	र	ते	ऽ										

[स्वरके आगेकी बेड़ी पाई '—' और अक्षरके आगेके अवग्रह 'ऽ' दीर्घ-मात्रा-कालके सूचक हैं । × समका चिह्न, अङ्क तालका सूचक और ० खालीका द्योतक है, एवं विभाजन खड़ी लम्बी रेखाओंसे दिखाया गया है ।]

प्रसादजीके इस गीतमें एक बड़ी विशेषता है कि अन्य गीतोंमें

मात्रा-कालकी पूर्त्तिके लिए गायकको एक ही वर्णके लिए दो-दो तीन-तीन मात्राओंकी कल्पना करनी पड़ती है—आलापसे यहाँ तात्पर्य नहीं है—वहाँ प्रसादके गीतोंमें ऐसी स्वतन्त्रता नहीं ली गयी है, छन्दके मात्रा-काल और गीतके मात्रा-कालमें अन्तर नहीं आया है। गीति-काव्यका अतः निखरा रूप हमें मिलता है, भाव-गाम्भीर्य, कल्पनाका मूर्त्त-विधान, अनुभूतिकी इकाई एवं विस्तारके साथ संगीतका यहाँ पूर्ण सामञ्जस्य है एवं संगीत और छन्दका लयात्मक मात्रा-काल समान है। अंग्रेजी पद्धतिपर इसका निरूपण करनेपर इसकी सारी कोमलता नष्ट हो जाती है। गीति-काव्यकी संगीत धारापर विचार करते समय खड़ी बोलीकी प्रवृत्तिपर थोड़ा विचार करना आवश्यक होगा। खड़ी बोलीमें आकर छन्दकी लयात्मक गति कृत्रिम रूपसे बँध गयी। छन्दोंके मात्रिक होनेके कारण स्वर-प्रसार-का सुयोग छन्दकी गतिके भीतर नहीं रहा, संगीतके द्वारा चाहे उस बन्धनमें शिथिलता लानेकी चेष्टा जितनी की जाय। फिर उच्चारणके नियमोंकी कठोरता भी साथ थी। बँगला और हिन्दीके उच्चारण और छन्द-गतिकी भिन्नताके कारण स्वर-मैत्री द्वारा कोमलता-सञ्चारका जो अवसर बँगलाको था वह हिन्दीमें नहीं। संस्कृत रूपोंकी शुद्धता स्वीकार कर हिन्दी छन्दोंके स्वरैक्यमें कठिनता उपस्थित हुई। संस्कृतके छन्दोंमें समास और सन्धिके नियमके कारण शब्द निजत्व खो सामूहिक संगीतात्म-कताके भीतर प्रसार पा जाते हैं किन्तु हिन्दीमें ऐसा हो नहीं पाता। एक ओर छन्द और भाषाकी प्रतिभामें वैषम्य होनेके कारण जहाँ कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं वहाँ हिन्दीके स्वाभाविक संगीत और छन्दकी गति मात्रिक अनुबन्धपर चलनेके कारण मेल, आसानीसे हो सकता था। मात्रिक छन्दमें लघु-गुरुके उच्चारणमें जितना काल लगता है अथवा जितना विस्तार मिलता है उतना स्वाभाविक उच्चारणमें भी। संगीत और काव्य-

में संगीत-तत्त्व स्वरका आधार लेकर चलता है किन्तु अर्थाभिव्यक्तिके लिए काव्य अभिव्यञ्जनका आधार ग्रहण करता है। संगीतके शास्त्रीय विधान एवं रवीन्द्र-कृत भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धतिके मेल द्वारा उपस्थित संगीतात्मक पद्धतिपर निरालाने प्रयोग किया। निरालाके निर्भीक व्यक्तित्व-जैसा व्यक्तित्व हिन्दी काव्य-जगत्‌में नहीं, परम्पराके पोषक इससे भयाक्रान्त कम नहीं हुए। निरालाने गीतिकाकी भूमिकामें लिखा है—

"यद्यपि मुझे पश्चिमके किसी प्रसिद्ध देशमें अधिक कालतक रहनेका सुयोग नहीं मिला, फिर भी मैं कलकत्ता और बङ्गालमें उम्रके बत्तीस सालतक रह चुका हूँ और कलकत्तामें आधुनिक भावनाके किसी आकारसे अपरिचित रहनेकी किसीके लिए वजह न होगी अगर वह अपने कामसे ही काम न रखकर परिचय भी करना चाहता है। चूँकि बचपनमें औरोंकी तरह मैं भी निष्काम था, इसलिए सब प्रकारके सौन्दर्योंको देखने और उनसे परिचित होनेके सिवा मेरे अन्दर दूसरी कोई प्रेरणा ही न उठती थी। क्रमशः ये संस्कार बन गये। जिस तरह घरके अहातेमें घरके अवधी, बैसवाड़ी या कनौजिया संस्कार तैयार हो रहे थे, उसी तरह बाहर, बाहरी संस्कारके। अन्तमें वे मेरे अपने संस्कार बन गये। **वे मेरे साहित्यमें प्रतिफलित हुए, जिनसे हिन्दी-साहित्य और हिन्दू-संस्कृतिको मेरे साहित्यके समझदारोंके कथनानुसार गहरा धक्का पहुँचा।**" प्रसादके गीतमें जैसा हमने देखा है छन्द और सङ्गीतके मात्रिक विधानमें समत्व अधिक है। निरालाने इस कठोरतासे छन्द और सङ्गीतका पिण्ड छुड़ाया और शुद्ध सङ्गीतके ढङ्गपर मात्राओंके विस्तारका अवसर गायकोंको दिया। दादरामें छः मात्राओंकी ताल पड़ती है। निरालाका एक गीत है—

—"सखि, वसन्त आया
भरा हर्ष वनके मन,
नवोत्कर्ष छाया।
किसलय वसना नव वय लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका
मधुप-वृन्द बन्दी—
पिक-स्वर नभ सरसाया।"

छः मात्राओंका विभाजन स्वयं निरालके अनुसार इस प्रकार है—

"सखि, वसन्त। आया—।
भरा हर्ष। वनके मन।
नवोत्कर्ष। छाया—।
किसलय वस। ना नव नय। लतिका—।
मिली मधुर। प्रिय-उर तरु। पतिका—।
मधुर-वृन्द। बन्दी, पिक—।
स्वर नभ सर। साया—।

पहले चरणके 'आया'में चार मात्राएँ हैं और स्वर विस्तार द्वारा उन्हें छः मात्रा-काल मिल सकेगा। इस प्रकार 'छाया' 'लतिका' 'पतिका' और 'साया'के साथ भी। 'पिक'में एक मात्रा-काल बढ़ाना पड़ेगा। 'वनके मन' में छः मात्राएँ हैं, किन्तु सङ्गीतात्मक लयके लिए 'के'का मात्रा-काल कम करके 'न'के मात्रा-कालको बढ़ाना पड़ेगा। इन गीतोंमें आकर छन्दके स्वतन्त्र लयको विस्तार मिलता है और सङ्गीत भावनाका अनुवर्त्ती होकर चलता है। छान्दस सङ्गीतसे इसे भिन्न समझना चाहिए। वसन्तके उल्लास-का चित्र केवल अर्थ-चित्र द्वारा ही नहीं, बल्कि सङ्गीतके रूपके कारण

भी है। तीन तालके चौखटेमें फिट करनेपर इसके सङ्गीतका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जायगा। हिन्दी गीत-काव्यके क्षेत्रमें निरालाने यह सफल प्रयोग किया। हिन्दीके इस आधुनिक कालके पूर्व ही नवाबी दरबारोंमें गजल और ठुमरीका विशेष आदर था। बंगला साहित्यके क्षेत्रमें गजलका प्रभाव अपेक्षाकृत पीछे चलकर हुआ। इस पद्धतिपर आजके अनेक गीतिकार रचना कर रहे हैं. इसका सफल प्रयोग बच्चनकी 'निशा-निमंत्रण'में मिलता है।

रात आधी हो गयी है।
जागता मैं आँख फाड़े
हाय, सुधियोंके सहारे,
जब कि दुनिया स्वप्नके जादू-भवनमें खो गयी है!
रात आधी हो गयी है!

सुन रहा हूँ, शान्ति इतनी
है टपकती बूँद जितनी,
ओसकी, जिनसे द्रुमोंका गात रात भिगो गयी है!
रात आधी हो गयी है!

दे रही कितना दिलासा,
आ झरोखे से जरा-सा
चाँदनी पिछले पहरकी पासमें जो सो गयी है!
रात आधी हो गयी है!

गजलमें कई शेर होते हैं, साहित्य-शास्त्रियोंने उनकी संख्या सातसे बारह तक मानी है। शेर सममात्रिक (हम वजन) मिसरोंका संयोग है। प्रथम शेरके दो मिसरों को समतुकान्त होना चाहिये। गजलमें शेरोंकी

वज़न और काफियाका एकरहना चाहिये। शेर 'मुक्तक' की भाँति होते हैं और इनमें शृङ्गारका विशिष्ट वर्णन रहता है। गज़लका स्वरूप बदला हुआ है मगर तत्त्व वही है।

जागता मैं आँख फाड़े, हाय, सुधियों के सहारे
=२८ मात्राएँ

जब कि दुनिया स्वप्नके जादू-भवनमें खो गयी है।
=२८ मात्राएँ

'खो,' 'हो,' 'सो' रदीफ और 'गयी है' काफिया है। 'रात आधी हो गयी है', चौदह मात्राओंकी यह टुकड़ी 'टेक' जैसी है।

दिनकरके "शेष गान"में भी यह प्रवृत्ति लक्षित होती है—

सङ्गिनी, जी भर गा न सका मैं।
गायन एक व्याज इस मनका
मूल ध्येय दर्शन जीवनका
रँगता रहा गुलाब पटीपर अपना चित्र उठा न सका मैं।
इन गीतोंमें रश्मि अरुण है
बाल उर्म्मि, दिनमान तरुण है
बँधे अमित अपरूप रूपपर इनमें स्वयं समा न सका मैं॥

इसमें 'उठा' और 'समा' रदीफ एवं 'न सका मैं' काफ़िया है। इसके प्रत्येक चरणमें १६ मात्राओंके विरामके साथ बत्तीस मात्राएँ हैं। इसे सोलह मात्राओंके तीन तालमें गाया जा सकता है। छन्द और सङ्गीत की गतिके समन्वयका इसमें आग्रह है; पर गजलके तर्ज स्पष्ट छाया है। यहाँतक गीति-काव्यकी भावना और सङ्गीतके सन्तुलनकी चर्चा होती

रही किन्तु गीति-काव्यकी पूर्ण परिणति सङ्गीतमें न होकर शब्दोंके सङ्गीतात्मक निबन्धमें है। प्रत्येक शब्दका अपना नाद-सौन्दर्य है जो सङ्गीत-बन्धनसे मुक्त और सहज है। अन्य शब्दोंके मेलमें आकर उसका सङ्गीत समन्वितरूप धारण करता है। शब्द और शब्द-मैत्रीकी प्रबल, जाग्रत एवं परिपूर्ण रागात्मक शक्तिके साथ हृदयके गम्भीर स्पन्दनकी अभिव्यक्ति गीति-काव्यका परम ध्येय है। ऊपरकी अवस्थाओंमें सङ्गीत भावका समकक्ष होकर चलता है अथवा भावोंको किसी-न-किसी रूपमें उत्तेजना देता है। निरालाने सङ्गीतको भावका अनुवर्ती बनाया है, किन्तु वहाँ भी सङ्गीत अपनी सत्ता खो नहीं सका। शब्दोंकी इस शक्तिसे परिचित कवि छान्दस गीतका त्याग नहीं करता बल्कि शब्दोंकी झङ्कारसे ध्वनित रागात्मक अभिव्यक्तिको पकड़नेकी चेष्टा करता है; उसके भाव जहाँ अस्पष्ट और सीमा-हीन हो जाते हैं वहाँ शब्दोंका अन्तर्निहित सङ्गीत उनका आभास देकर स्वरूप-दान करता है। ऐसी अवस्थामें सङ्गीत अपना 'सङ्गीतत्व' खो बैठता है, वह 'मूर्त्त'का प्रकाशकमात्र है। इस अवस्थामें आकर शब्दकी प्रकृत सङ्गीतात्मक शक्ति और गीति-काव्यकी इस शक्तिमें अभिन्नता उपस्थित हो जाती है।

दूरवासी मीत मेरे !
पहुँच क्या तुमतक सकेंगे काँपते ये गीत मेरे ?
आज कारावासमें उर
तड़प उट्ठा है पिघलकर
बद्ध सब अरमान मेरे
फूट निकले हैं उबलकर
याद तेरी को कुचलनेके
लिए जो थी बनाई—

वह सुदृढ़ प्राचीर मेरी
हो गयी है क्षार जलकर
प्यारके प्रिय भारने हैं सजल नैन विनीत मेरे !
दूर वासी मीत मेरे ।

—[illegible]

'दूरवासी मीत मेरे'=१४ मात्राएँ

'पहुँच क्या तुमतक सकेंगे काँपते ये गीत मेरे' =२८ मात्राएँ

'मीत', 'गीत' 'विनीत'में स्वरैक्य और 'मेरे'में तालैक्य आता है। 'आज कारागार...क्षार जलकर'में मात्राओंका बड़ा रूप [illegible] है किन्तु गायक अथवा पाठकका ध्यान इस छन्द-बन्धकी ओर नहीं जाकर मात्र स्वाभाविक गीति-प्रवाहकी ओर जाता है। शब्दोंकी प्रकृत संगीतात्मक शक्ति द्वारा रागात्मक वृत्तिको स्फूर्ति मिलती है। यह गीति-काव्य वाद्य-यन्त्रकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता। आवृत्ति, प्रकृति और अभिव्यक्ति-के द्वारा सहज अन्तस्थित सङ्गीतकी धारा फूट पड़ती है। सङ्गीत इसकी आत्माके साथ घुला-मिला है। 'दूरवासी मीत मेरे' में जो मन्द्र-ध्वनि उसकी परिणति 'बद्ध सब अरमान' में जाकर होती है। 'बद्ध'तक पहुँचनेपर साँस क्षणभरको रुक जाती है, ठीक जैसे अरमानें रुद्ध हो गयी हैं। 'फूट निकले' की द्रुतता 'सुदृढ़ प्राचीर' की कठोर चाहारदीवारीसे टकराने लगती है। सङ्गीत यहाँ केवल स्वर भरता है, वह काव्य और काव्यत्वको आच्छन्न नहीं कर लेता। सङ्गीत स्वरूपात्मक न रहकर आत्मिक बन जाता है ! तालैक्यकी दो श्रेणियाँ हैं—एक आन्तरिक और दूसरी बाह्य। छन्दके बन्धन इस बाह्य तालैक्यकी अपेक्षा रखता है। शब्दोंकी रागात्मक शक्ति समूह-विशेषमें आकर विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करती है; शब्द

वहाँ स्वतन्त्र नहीं रह जाते वल्कि सङ्ग-बद्ध होकर अपनी स्वतन्त्र चेतना और सत्ता खोकर एकाकार हो जाते हैं अतः गीति-काव्यका सम्बन्ध उस अन्तर्तालैक्यसे है जिसमें सङ्गीतकी आत्मा काव्यसे अन्वित हो उठती है। इस विधानके कारण शब्द-योजना, काव्यके अन्य विधानोंसे भिन्न हो जाती है। अन्तर्तालैक्यके निर्वाह और अविच्छिन्न आन्तरिक धाराका सफल निर्वाह गीति-काव्यका लक्ष्य होता है। गीति-काव्यमें सङ्गीतके शास्त्रीय विधानका अन्वेषण करनेवाले साधारण गेय काव्य और गीति-काव्यका अन्तर भूल बैठते हैं जिससे अनेक भ्रमका कारण उपस्थित हो जाता है। रामनाथलाल 'सुमन'ने 'प्रसादकी काव्य-साधना' में प्रसादके गीति-काव्यपर विचार करते समय लिखा है कि 'ऐसा नहीं कि कविके गीति-काव्य पूर्ण सङ्गीतकी कसौटीपर कसनेपर निर्दोष ठहरेंगे। यह कहना दम्भ होगा।' 'सुमन'ने सङ्गीतात्मकताके स्थानमें सङ्गीतमयता गीति-काव्यका आवश्यक अङ्ग समझ लिया है। गेय काव्यके लिए सङ्गीतमय होना आवश्यक है और गीति-काव्यके लिए संगीतात्मक। गीति-काव्यको संगीतकी कसौटीपर कसना गीति-काव्यके साथ अन्याय करना होगा।

संगीतमय अथवा संगीतात्मक होना गीति काव्यकी अन्यतम कसौटी नहीं। वर्णोंका नादात्मक आधार होता है और इस प्रकार छन्द संगीतका आधार लेकर चलता है। रामायणकी दोहा-चौपाईत्मक संगीतके लयमें बँधती हैं। सवैया और कवित्तके अन्तर्नादमें कम प्रभाव नहीं। वाल्मीकीय रामायण और जयदेवके गीत-गोविन्द गेय हैं अतः गीतिमत्ता एकान्त भावसे गीति-काव्यकी कसौटी नहीं हो सकती। इसका मानसिक और दार्शनिक स्तर भी है। गीति-काव्यकी पूर्णता उसकी अधिकरण-आत्मनिष्ठतामें है। अन्तर्दर्शन द्वारा आत्मनिष्ठताकी भावना वैयक्तिक सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, हास-अश्रुके गीत गाती है। गेय काव्यकी विवेचनासे

स्पष्ट कर दिया है कि गीतका प्रधान अधिक अंगोंमें सम्मिलित था, क्रमशः वैयक्तिक भावनाका विकास होता गया और आज यह आत्मभावना इतनी प्रबल हो गयी है कि गीति-काव्यकी सीमा कुछ व्यक्तिगत अनुभूतियों तक ही सीमित हो जाती है। अभिव्यक्तिकी आज गीति-काव्यका प्रमुख लक्षण बन रही है। कवि किसी वस्तुको देखता है, उसकी अनुभूति होती है और विशिष्ट रूपमें वह उसको प्रभावित करती है। कभी वैयक्तिकता प्रधान हो जाती है यद्यपि वह सामाजिक प्राणी है और उसकी चेतना सामाजिक चेतनाका ही भिन्न रूप है। कवि केवल बाह्य वस्तुओंसे ही प्रभावित नहीं होता, केवल सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक कारण ही उसे क्षुब्ध नहीं करते बल्कि वह आन्तरिक कारणोंसे भी क्षुब्ध होता है; यद्यपि इन आभ्यन्तरिक क्षोभके मूलमें भी सामाजिक एवं मानसिक कारण हैं। यथार्थवादके आग्रहमें विश्वास रखनेवाले घटनाओंको ही मुख्य मान लेते हैं, उन घटनाओंके कारण उत्पन्न होनेवाली मनोदशाको नहीं। अचेतन मन मानवीय जीवनको कम प्रभावित नहीं करता बल्कि बलपूर्वक वह चेतन प्रदेशमें आकर मानसिक सन्तुलनको विच्छिन्न कर देता है। मानवीय कर्मके मूलमें यह भावना-ग्रन्थि (Complex) काम करती रहती है लेकिन इस भावना-ग्रन्थिके मूलमें वैयक्तिक और सामाजिक परिस्थितियाँ हैं।

आत्माभिव्यक्ति

कलामें कलाकार अपने व्यक्तित्वका प्रक्षेप (Projection) करता है। एक ओर जहाँ वह अपने-आपको, अपनी वासना, भावना और आकांक्षाको अभिव्यक्त करना चाहता है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक, वैयक्तिक, नैतिक कारणोंसे अपने आपको प्रच्छन्न रखनेका भी वह अभिलाषी है। आत्मा-

भिव्यक्तिकी सफलता अपने-आपको प्रच्छन्न रखनेमें है। व्यक्तित्वके अधिक प्रक्षेपके कारण कलात्मकता नष्ट हो जाती है और आत्माभिव्यक्तिके अभावमें कला स्वरूप-निर्माण नहीं कर सकती। मनोवृत्तियोंके पारस्परिक सङ्घर्षकी प्रवृत्ति मानसिक अचेतन स्तरकी सुप्त भावनाएँ और उनके प्रकट होनेके उपक्रम-जैसी हैं। प्रत्येक कलाकारके सामने उसका 'माडल' है,—'माडल' का तथ्यगत रूप नहीं बल्कि उसका समवेदन-अथवा क्षोभन-शील रूप। वस्तु गौण रहती है, उसके द्वारा उत्पन्न रागात्मक अनुभूति ही प्रमुख है। गीति-काव्यकी अधिकरणनिष्ठताका यही अर्थ है। प्राचीन कालका कलाकार अपनेको पृष्ठभूमिमें ही रखता था, वह सामने रङ्गमञ्चपर आना नहीं चाहता था। समूहमें अपनेको खो देनेका वह अभिलाषी था। तुलसीका 'स्वान्तः सुखाय' समाजकी सुखानुभूतिके लिए है। सूरदासकी गोपियाँ आँसुओंकी यमुना बहाती हैं, सूरदासकी गीली आँखें पाठकके समक्ष नहीं आतीं। मेघदूतमें यक्षका प्रियाके प्रति सन्देश है, कुछ कालिदासका प्रियाके प्रति नहीं। मीराके पदोंमें जो वैयक्तिकता है, वह निर्गुनियोंकी पद्धतिमें है। मीराकी प्रेम-भावना ईश्वरोन्मुख होनेके कारण मानवात्माका परमात्माके लिए आग्रहके प्रतीक रूपमें गृहीत हुआ है, जैसा कबीर, रैदास आदिका। समाजने परोक्ष रूपसे अपनी सीमाओं और प्रकृतिका प्रभाव आत्म-जागरूक और चेतन गीति-काव्यके विभिन्न कवियोंपर विभिन्न रूपसे डाला है और कवि विश्वजनीन बनानेके लिए इस वैयक्तिक प्रभाव और चेतनाको आदर्श एवं भावात्मकरूप प्रदान करता है। आत्म-चेतनाकी जाग्रति गीति-काव्यकी अन्तरात्मा है। लयपूर्ण भाषामें आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति गीति-काव्यमें अपेक्षित रहती है। प्रत्येक कलाकार विभिन्न माध्यमसे आत्माभिव्यक्ति करता है। साहित्य—मेरा तात्पर्य भावात्मक साहित्यसे है—इसी आत्माभिव्यक्ति-

का आधार लेकर चलता है। नाटकमें नाट्यकार अपनी अभिव्यक्ति चरित्र-निर्माणके द्वारा करता है। प्रत्येक नाटकमें कोई-न-कोई ऐसा पात्र अवश्य मिल जायगा जो कविके स्वरमें बोलता हो। प्रसादके नाटकोंमें उनके पात्र कवित्वपूर्ण भाषामें बोलते हैं और प्रसादने प्रत्येक नाटकके नायक-में अपने भावोंका आरोप किया है। 'शा' की बुद्धिवादिता उनके द्वारा निर्मितमें चरित्रों स्पष्ट है ; महाकाव्योंमें भी कविकी स्वतन्त्र चेतना परोक्ष रूपसे आत्माभिव्यक्ति करती है।* यदि प्रत्यक्ष चित्रणका प्रश्न हो, गीति-नाट्यमें ऐसा नहीं होता। आत्माभिव्यञ्जनका अतः अर्थ लिया जाता है 'मनोरागोंका आवेशपूर्ण आग्रह'। कविकी अन्तरमें जाग्रत अनुभूतिका सन्तु-लित रूप गीति-काव्यमें प्रकट होता है। इस प्रकार कविके व्यक्तित्व और वैयक्तिकताका प्रक्षेप यहाँ मिलेगा।

क्या कवि गीति-काव्यका विषय और उद्देश्य दोनों है ? कवि स्वयं उद्देश्य बनकर पाठकके साथ सहज सम्पर्क खो बैठेगा। कविताके प्रभावके लिए अनेक अंशोंमें समान अनुभूतिका तत्त्व चाहिए। कवि जिस प्रकारकी अनुभूतिका चित्र उपस्थित कर रहा है, यदि पाठकमें वैसी अनुभूति का अभाव है, उस कविताका कोई प्रभाव वैसे पाठकपर नहीं पड़ सकता। रसोद्रेकके लिए संस्कार रूपसे मनोरागकी स्थिति आवश्यक है। सामूहिक रूपसे अनेक मनोराग परम्परा-गत दायके रूपमें मानव-प्राणीको मिले हैं। वैयक्तिक अनुभूतिके अभावमें उनका क्षीण आभास व्यक्तिके मनमें रहता है। वैयक्तिक अनुभूति उसे गम्भीरता एवं तीव्रता देती है। कविका उद्देश्य जहाँ आत्म-प्रकाश है, वहाँ वह परोक्ष रूपसे संवेदन-

---

* देखिये 'आधुनिक हिन्दी कविता' में 'काव्यमें आत्माभिव्यक्ति, शीर्षक लेख'—रामखेलावन पाण्डेय,

शीलताका भी अभिलाषी है; कारण 'कला कलाके लिए' वाले सिद्धान्तके संकुचित अर्थ मानकर भी इसे अस्वीकार नहीं कर सकता कि वह अपनी भावनाओंको पाठकोंतक पहुँचाना चाहता है। काव्यका विषय भी वह परोक्ष रूपमें ही हो सकता है। वह अपने व्यक्तित्वका प्रक्षेप अन्य लोगों-पर कर देता है। वस्तुतः घटनाओं और अनुभूतिको विच्छिन्नकर वह नव-निर्माणकी चेष्टा करता है। कवि उद्देश्य और विषय दोनों है, इसका अर्थ इतना ही लेना चाहिये कि गीति-काव्यमें कवि रागात्मक अनुभूतिका विशेष चित्रण करता है। जहाँ वह प्रत्यक्ष रूपमें अपना वर्णन करता है, वहाँ वह दूसरी परिस्थितियोंकी कल्पना अपनी अनुभूतिके साथ कर लेता है। आजकल कवितामें सत्यताकी अधिक दुहाई दी जाने लगी है, जिसमें आलोचक जीवन और कला दोनोंमें साम्य देखनेका अभिलाषी है। मनुष्य अपने विचारों और आकांक्षाओंमें जीवित रहता है। घटनाएँ इसीलिए सत्य हैं कि वे विशेष प्रकारकी अनुभूति जाग्रत करती हैं। कला और जीवनमें भावात्मकता और यथातथ्यात्मकताका विभेद है। कला जीवनके भावात्मक पक्षका बोध है अतः सत्यताका केवल इतना ही अर्थ लिया जाना चाहिये कि वैसी अनुभूति कविमें है। इस प्रश्नको दूसरे प्रकार इस रूपमें उपस्थित किया जा सकता है कि क्या गीति-काव्यको कविके व्यक्तित्वसे विभिन्न करके देखा जा सकता है? इस सम्बन्धमें इतना स्मरण रखना होगा कि वाह्य रूप ही व्यक्तित्व नहीं, प्रत्यक्ष जगत् और चेतनाके कार्योंमें ही उसकी वैयक्तिकता नहीं बल्कि उसके व्यक्तित्व-का मूल स्रोत उसका मानसिक द्वन्द्व है, जो चेतन और अचेतन मनमें सदा चलता रहता है। गीति-काव्यके स्रोतको देखनेके लिए उसको परि-स्थितियोंके उतने दर्शनसे ही सम्बन्ध है जिससे मानसिक द्वन्द्वका संकेत मिलता है। इस मानसिक द्वन्द्वका विश्लेषण कलाकारका कार्य नहीं,

बल्कि उसका सन्तुलित चित्र उपस्थित करना ही उनका लक्ष्य है। इस आत्म-चेतना एवं अधिकरणनिष्ठताका यह अर्थ कदापि नहीं कि कलाकार आत्म-चरितकी घटनाओंका यथाक्रम वर्णन उपस्थित करता है बल्कि कल्पनाके द्वारा वह दूसरोंकी मनोदशामें भी प्रवेश कर सकता है।

गीति-काव्यका सम्बन्ध कविकी गहरी रागात्मक अनुभूतिसे है, ऐसा ऊपर कहा गया है। स्वाभाविकतया यह प्रश्न उठ खड़ा होगा कि क्या अनुभूतिके क्षणोंकी गम्भीरता ही काव्यकी संवेदनशीलताका कारण है? गहरी अनुभूतिके क्षणोंमें कलात्मक अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। कलाके लिए चिन्तन, संस्कृत-शास्त्री चर्वण कहेंगे, आवश्यक है। जिस समय अनुभूति अपने तीव्रतम आवेगमें रहती है उस समय मानसिक स्थिति ऐसी नहीं रह जाती कि कलाकार तत्क्षण उसे वाणी दे दे। यदि ऐसा वह करना चाहे तो चित्रको चाहे स्पष्टता वह भले दे सके किन्तु संवेदनशीलता नहीं दे सकेगा। कारण वह उसकी इतनी अपनी होगी कि पाठकको आनन्दानुभूति नहीं हो सकेगी। गीति-काव्यका उद्‌भव अन्तर्ज्वालासे है, कविके आकुल प्राण जब गीतोंमें बँधनेको व्याकुल हो उठते हैं, तभी वह गा उठता है—'गीतोंमें मन बाँध न पाता।' यह अन्तर्दहन क्षण विशेषका फल है। इसका कारण आलोच्य-विषय नहीं, बल्कि अन्तर्दहन स्वयं विचारणीय है। अनुभूतिके क्षणोंका यह प्रकाश भिन्न-भिन्न रूपोंमें होता है, वर्ड्सवर्थमें यह शान्त और गम्भीर है, बायरनमें तीव्र। शेलीमें थोड़ा-सा प्रकाश पहले होता है, सहसा आग जोरोंसे भड़क उठती है और जिस तीव्रताके साथ भभक पड़ी थी, उसी तेजीसे बुझ भी जाती है। पन्तका अन्तर्दहन शान्त है, धीमा-धीमा जलता है।

मूँद पलकोंमें प्रियाके ध्यानको,
थाम ले अब, हृदय ! इस आह्वानको।
त्रिभुवनकी भी तो श्री भर सकती नहीं,
प्रेयसीके शून्य पावन स्थानको।
तेरे उज्ज्वल आँसू सुमनोंमें सदा,
वास करेंगे, भग्न हृदय ! उनकी व्यथा।
अनिल पोछेंगी; करुण उनकी कथा,
मधुप बालिकाएँ गायेंगी सर्वदा।

निरालामें यह शान्ति, यह गम्भीरता नहीं। निरालाका अन्तर्दहन पौरुष है, उसमें तीव्रता है, वेग-आकुलता है; एक बार ही आक्रान्त करनेकी उसमें शक्ति है। वह आलोक इतना तीव्र है कि उस समय और किसी वस्तुका ध्यान नहीं रह जाता। प्रवाह इतना तेज है कि मानव-मन उसमें टिक नहीं सकता। पन्तकी अन्तर्ज्वाला धीमी जलती है, कोमल है, मीठी है, जैसे प्रेमकी पीर; खोये गये प्रियतमकी याद; करुण मादक है किन्तु उद्वेगहीन। निरालाकी यह ज्वाला उद्दामवेगवाली है—

"मेरे स्वरकी अनिल शिखा से
जला सकल जग जीर्ण दिशा से
हे अरूप, नव-रूप-विभा के
चिर स्वरूप पाके जाओ
मेरे प्राणों में आओ।"

—निराला

महादेवीमें यह आग शान्त भावसे जगती है, सहसा ज्वाला भभक पड़ती है और उसी तीव्रताके साथ बुझ भी पड़ती है। पन्तकी शान्त, स्निग्ध

ज्वाला भी नहीं, निरालाकी तीव्रता और आवेग भी नहीं। नवीन सौन्दर्य-मय नूतन गीति-उपहार है महादेवीका। उल्कापातकी भाँति सहसा प्रकाश हो जाता है। उत्थान जितना आकस्मिक है, अन्त उतना ही करुण। बौद्धिकता उस अनुभूतिकी आगको शान्त कर देती है।

प्रिय-पथके यह शूल मुझे अलि प्यारे ही हैं!

\+ + + +

ओढ़े मेरी छाँह
रात देती उजियाला
रज-कण मृदु पद चूम
हुए मुकुलोंकी माला!

मेरा चिर इतिहास चमकते तारे ही हैं!

\+ + + +

विरह बना आराध्य
द्वैत क्या कैसी बाधा!

खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं!

'प्रिय-पथके यह शूल मुझे अलि प्यारे ही हैं।' में अन्तर्ज्वाला छिटकी चिनगारीके दर्शन हो रहे हैं। 'ही' के प्रयोगसे इस चिनगा की क्षणिक और अपेक्षाकृत कम तेज दहन-शक्तिका संकेत मिलता किन्तु दूसरी अवस्थामें आकर वह अन्तर्ज्वाला सर्वत्र व्याप्त हो जाती घोर अन्धकारमयी अमा भी उल्कापातके क्षणिक प्रकाशमें प्रकाशित उठती है। किन्तु तीसरी अवस्थामें 'द्वैत' 'खोना-पाना' आदितक २ जाते वह आग दर्शन और दार्शनिकतासे उलझने लगती है।

अतः स्वानिल्य, वैयक्तिकता अथवा अभिकरणनिष्टताका अ कविकी कलात्मक भावनामें है और गीति-काव्यत्वका मूल आधार यही है। कविकी कलात्मक भावना अनुभूतिकी प्रकृति और अभिव्य को अपने साँचेमें ढालती है। गीति-काव्यमें इसीलिए बाह्य घटनाए नहीं बल्कि इन घटनाओं अथवा मानसिक कारणोंसे उत्पन्न भाव मूर्त-विधानका मूल्य है। वह गीतिकार सफल नहीं जो अपना अ चरित्र छन्द-बन्धनमें ढालता है बल्कि वह है, जो वैयक्तिक अनुभ तीव्रतम क्षणोंको कलात्मक रूप प्रदान करता है। यही मानसिक गीति-काव्यका आधार है।

> भुखवाके मारे बिरहा बिसरिगा भूलि गइ कजरी कबीर
> देखिक गोरीक मोहनी मूरत अब उठै न करजेवामें पीर

भूखके प्रभावका सच्चा और सजीव वर्णन है। गायक यह नहीं कि उसे भूख लगी है किन्तु इतना संकेत अवश्य दे देता है कि कजली कबीर दोनों भूल गये। कजली वर्षाऋतुका गीत है। आकाशमें काले मेघ ऊधम मचाने लगते हैं, रह-रहकर किसीकी यादकी भाँति वि तड़प उठती है। प्रियाका मन अँगियामें समाता नहीं, मचल पड़ और वह बादलोंसे प्रार्थना करती है :—

> कारिक पियरि बदरिया झिमिकि देव बरसहुँ
> बदरी जाइ बरसहु उही देस जहाँ पिय कोड़ करैं,
> भीजै आखर बाखर तमुआ कनतिया।
> अरे भितराँसे हुलसे करेज समुझि घर आवैं।

न तो हिय-हुलसावन सावन और न होलीका उल्लास ही कलेजेमें

उत्पन्न करते हैं, ऐसा व्यापक और तीव्र है भावका प्रभाव। उद्देश्य और विषय दोनों एकात्म, एकाकार हो गये हैं।

प्रेम जीवनकी सरस किन्तु साथ ही कड़वी अनुभूति है। 'मीठी पीर' जब आकुल प्राणोंमें बँध नहीं पाती, जीवन एक नये लोकमें प्रवेश करता है। जिसका प्रेमी मिलकर बिछुड़ गया, वह अभागा है किन्तु जिसने कभी प्रेम किया नहीं प्रेम की 'मीठी पीर' जिसमें जगी नहीं उसके जैसा महान् अभागा और कोई नहीं। प्रीतिकी यह अनुभूति इतनी तीव्र, व्यापक और मर्म-स्पर्शिनी है कि मनुष्य भूल जाता है, पाण्डित्यको, ज्ञान को। उसके लिए मात्र सत्य हो उठते हैं जीवनके अनमिल और अनचीन्हे सपने। यह जागरण अन्य सारी चेतनाओंको धो देता है, ज्ञानकी बाँध टूट जाती है और उस उद्दाम, स्वर-प्रवाहमें जीवन बह चलता है, लक्ष्यका पता नहीं, मालूम नहीं नाव कहीं घाट लगेगी अथवा नहीं? अभी तो जाने-पहचाने घाटपर लगी थी किन्तु न-जाने किस औघट घाटपर अनुभूति ले जा पटके। भगवतीचरण वर्माका गीत है—

> आज ढीले पड़ रहे हैं
> ज्ञानके विकराल बन्धन
> आज सपनोंकी अवलियाँ
> आँसुओंके तारमें बिंध
> प्रेमकी जय-माल बनकर
> रच रहीं सुकुमार सिहरन

सूरकी गोपियोंने एक दिन कहा था—

> ऊधो मन ना भये दस बीस।
> एक हुतो सो गयो स्याम सङ्गको आराधे ईस॥

मीराने मनकी इसी अवस्थाका वर्णन किया था—

साधुन सङ्ग बैठि-बैठि लोक लाज खोई
अब तो बात फैल गयी जानत सब कोई ।
अँसुवन जल सींच-सींच प्रेम-बेलि बोई ,
मीरा प्रभु लगन लागी, होनि हो सो होई ॥

इन पंक्तियोंमें विदग्धता है, विवशता है, लाचारी है, व्यथा है, पीड़ा है और है आत्मनिवेदनका तीव्र और गम्भीर भाव । विषाद जीवनकी गम्भीरतम अनुभूति है, इसका इतना व्यापक प्रभाव है कि संसारके काव्यमें इसका प्राधान्य है । विषादका मूल अभाव है किन्तु इस अभावकी चेतना-के लिए भावका अभाव नहीं हो सकता । यह अभाव व्यक्तित्वकी विभि-न्नताके कारण भिन्न रूप ले सकता है किन्तु उसकी आत्मा एक रहती है । अभावके गीतोंमें चाहे देश-दशापर, चाहे सामाजिक, आर्थिक अभावपर अथवा व्यक्तिगत अभावके ऐन्द्रिय अथवा उसके शोधित दार्शनिक रूपपर आँसू बहाये जायँ, अभाव अपनी सत्ता खो नहीं सकता । अभाव जीवन-का इतना बड़ा अङ्ग है कि वही जीवन है, जीवनका मूल स्रोत है । विषादकी यह व्यापकता देखकर ही भवभूतिने कहा था—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥

—भवभूति ।

[रस एक ही है और वह है करुण । निमित्त-भेदसे वही भिन्न-भिन्न

जो घनी रेखाएं खिंच गयी हैं, वे अमिट हैं। बायरनकी निराशावादिताने 'बायर-निज्म' को जन्म दिया। मानव-मन विषादकी अस्पष्ट, धूमिल रेखाओंसे सदा घिरता आया है। बुद्धके सर्वमनित्यम् और दुःखवादमें जीवनके इस गूढ़ विषादकी धारा प्रवाहित हो रही है। विषादके आँसुओंमें आनन्दकी रेखाएँ हैं। मानवात्मा आनन्दानुभूतिके क्षणोंके अन्वेषणमें सचेष्ट है। करुण में आनन्दानुभूतिके सिद्धान्तोंपर मतैक्य न होनेपर भी विषादका आधिक्य साहित्यमें है। सूरकी गोपियाँ आँसुओंकी यमुना बहाती हैं और गुप्तकी उर्म्मिलाकी आँखें उन्हीं आँसुओंसे गीली हैं, चाहे महात्मा गाँधीको इस युगमें आँसुओंकी प्रधानता खटक रही हो। विषादका प्रभाव ग्राम-गीतोंमें कम नहीं। माताके हृदयकी पीड़ाका करुण, व्यापक और सजीव चित्र है :—

सोनेके खरउवाँ राजा राम कउसिलासे अरज करइँ।
हुकुम न देउ मोरी मैया मैं बनके सिधारउँ॥
जौने राम दुधवा पिआवउँ घिऊ सेनि अवटउँ।
अरे मोरा भितरासे बिहरै करेजवा मैं कैसे बन भाखउँ॥

पोअउँ मैं घियेके सोहरिया दुधे करि जाउरि।
अरे रामा, एतना जेंवन मोर बिख भा राम मोर वन गये॥
चारि मँदिल चारि दीप बरैं हमरा अकेले बरई।
रामा मोरे लेखे जग अँधियार राम मोर वन गये॥
भितरॉसे निकसीं कउसिला नैनन नीर बहइ।
रामा राम लखन सीता जोड़िया कवने वन होइहैं॥
राम बिना सूनी अजोध्या लखन बिन मन्दिल।
मोरी सीता बिन सूनी रसोइयाँ कइसे जियरा बोधब॥
मंदिल दीप जरइबै औ सेजिया लगइबै।
राम आधी रात होरिला दुलरबै जनुक राम घरहिन॥
सवना-भदवनाके दिनवा घुमरि घन बरसई।
रामा राम लखन दूनों भइया कतहुँ होइहैं भीजत॥
झिमिकि झिमिकि दई बरसइ मोर नाहीं भावइ।
देवा वोहि वन जाइ जनि बरिसहु जहाँ मोर लरिकन॥
रामक भीजै मटुकवा लखन सिर पटुका।
मोरी सीताक भीजै सेंदुरवा लवटि घर आवउ॥

—भोजपुरी लोक-गीत

[सोनेके खड़ाऊँपर चढ़े रामचन्द्र अपनी माता कौशल्यासे निवेदन कर रहे हैं—माँ आज्ञा दो न ? मैं वनको जाऊँ।

कौशल्या कहती हैं—जिस रामको मैंने दूधमें घी औटकर पिलाया, मेरा भीतरसे कलेजा फटा जा रहा है, मैं उसे वन जानेकी आज्ञा कैसे दूँ।

राम मेरे प्राण हैं, लक्ष्मण आँखोंकी पुतलियाँ हैं और सीता हाथोंकी चूड़ी है, भला वन जानेकी आज्ञा कैसे दूँ ?

मैंने घीकी पूरी पोयी थी, दूधकी खीर पकायी थी। हाय, मेरे राम वनको चले गये। मुझे सारा भोजन विष-सा लगता है।

चारों मन्दिरोंमें चार दीपक जल रहे हैं। मेरे मन्दिरमें केवल एक जल रहा है। पर मेरे लिये सारा संसार अन्धकारमय लगता है, कारण मेरे राम वनको चले गये।

कौशल्या भीतरसे निकलीं। उनकी आँखोंसे आँसू बह रहे हैं। वह विसूर रही हैं—हाय, राम, लक्ष्मण और सीता न-जाने किस वनमें होंगे!

रामके बिना सारी अयोध्या सूनी है; लक्ष्मणके बिना मन्दिर और सीताके बिना रसोई। भला मैं कैसे धीरज धरूँ?

रातको मैं दीपक जलाऊँगी, सेज बिछाऊँगी, आधी रातको पुत्रको प्यार करूँगी जैसे मेरे राम घरमें ही हों।

सावन-भादोंके दिन हैं। बादल घुमड़-घूमड़कर बरस रहे हैं। हाय, राम-लक्ष्मण कहीं भींग रहे होंगे।

बादल रिमझिम बरस रहा है, मुझे अच्छा नहीं लगता। हे बादल, उस वनमें जाकर मत बरसना, जहाँ मेरे लड़के हैं।

रामका मुकुट भीग रहा होगा, लक्ष्मणका दुपट्टा और मेरी सीताकी माँगका सिंदूर। तीनों घर लौट आओ।]

माताकी आँसोंका जल और हृदयका विषाद देखने योग्य है। कौशल्याने दस महीनेतक रामको गर्भमें धारण किया, पालन-पोषण किया, अपने हृदयके अमृतसे उन्हें सींच-सींच जीवन-दान दिया। राजाको न-जाने क्या सूझी, उन्हें वनवास दिया। राम उस मातासे वन जानेकी आज्ञा चाहते हैं, जिसके वे एकमात्र पुत्र ही नहीं; जीवन-प्राण हैं; आशा-उल्लास, हर्ष-आनन्द हैं। यह प्रेम, यह वात्सल्य इतना व्यापक है कि कौशल्या वनमें

विचरनेवाले रामकी कल्याण-कामनामें निमग्न हैं, 'मेघ वहाँ जाकर न बरसना, जहाँ मेरे लड़के हैं।' यशोदाके हृदयमें यही विषाद है—

यद्यपि मन समुझावत लोग।
शूल होत नवनीत देखि मेरे मोहनके मुख-जोग।
प्रातकाल उठि माखन-रोटी को बिन माँगे देहै।
अब उहि मेरे कुँवर कान्हको छिन-छिन अंकम लैहै।
कहियो पथिक जाइ घर आवहु राम कृष्ण दोउ भैया।
'सूर स्याम' कत होत दुखारी जिनकी मों सी मैया॥

राधाके हृदयके उसी मौन विषादका 'सूरदास' की तूलिका द्वारा चित्र है—

जब सन्देशा कहन सुन्दरी गवन मो तन कीन।
खसी मुद्रा चरन अरुभी गिरी भुवि बलहीन॥
कण्ठ वचन न बोलि आवै हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनों ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्याण ऐसे जियहि आसा लीन॥

एवं—

निरखत अंक श्याम सुन्दर के बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद मसि मिलिकै ह्वै गई स्याम स्यामकी पाती॥

राधाकी व्याकुलता दर्शनीय है—

"बँधूकि आर बलिब आमि।
मरने-जीवने, जनमे-जनमे प्राणनाथ हइयो तुमि

तोमार चरने आमार पराणे बाँधिल प्रेमेर फाँसि ।
सब समर्पिया एक मन हइया निश्चय हइलाम दासी ॥
—चण्डीदास ।

[हे बन्धु, और मैं क्या कहूँ ? मृत्युमें, जीवनमें, जन्म-जन्ममें तुम्हीं मेरे प्राणनाथ हो । तुम्हारे चरणोंने मेरे प्राणोंमें प्रेमकी फाँस बाँध ली है, सब समर्पणकर एक चित्त होकर निश्चय ही मैं तुम्हारी दासी हो गयी हूँ ।]

मीरा भी गा उठती है—

जो मैं ऐसा जानती, रे, प्रीत किये दुख होय,
नगर ढिंढोरा पीटती, रे, प्रीत न करियो कोय ॥

जीवनका यही विषाद रवि बाबूके गीतोंमें रसका स्वरूप धारणकर फूट पड़ा है—'

याचना

"भालो वेसे सखि निभृत यतने
आमार नामटी लिखियो—तोमार
मनेर मन्दिरे (१)
आमार पराणे जे गान बाजिछे
ताहार तालटी सिखियो—तोमार
चरण-मञ्जिरे (२)

[हे सखि, प्यार करके, एकान्तमें, यत्नपूर्वक, अपने मनोमन्दिरमें, मेरा नाम लिख लेना । १

मेरे प्राणोंमें जो संगीत बज रहा है, उसकी ताल, अपने पैरोंमें बजने-वाले नूपुरोंसे सीख लेना । २]

प्राणोंमें खोई वस्तुके लिए मौन प्रार्थना गूँज उठती है । वस्तु गौण हो जाती है, केवल आकांक्षामात्र बच रहती है । जीवन एक अनन्त मौन उदास बन जाता है । पता नहीं प्राणोंके भीतर कौन आकुल बाँसुरी बज उठती है । मौन-संगीत नयी झङ्कार, नये कौशलसे जाग उठता है । पता नहीं प्राण क्या चाहते हैं, पर चाहते कुछ हैं अवश्य । इष्ट कभी मिलेगा अथवा नहीं, इसकी चाह नहीं । मात्र वासना, आकांक्षा ही सत्य है। जीवनकी यह करुण सरस अनुभूति रवि बाबूकी अन्तर्स्थित संगीत-धाराके विषादको मुखरित कर उठती है—

आजि शरत तपने, प्रभात स्वपने ।
कि जानि परान कि जे चाय ॥१॥
ओइ शेफालीर शाखे कि बलिया डाके
विहग-विहगी कि जे गाय ॥२॥
आजि मधुर बातासे हृदय उदासे,
रहे न आवासे मन हाय ! ॥३॥
कोन कुसुमेर आशे, कोन फूल बासे,
सुनील आकाशे मन धाय ॥४॥
आजि के जेनो गो नाई, ए प्रभाते ताई,
जीवन विफल होयगो ॥५॥
ताइ चारि दिके चाय, मन केंदे गाय,
"ए नहे, ए नहे, नोय गो !" ॥६॥

कोन स्वप्नेर देशे, आछे एलो केशे,
कोन छायामयी अमराय ॥७॥

आजि कोन उपवने, विरह वेदने,
आमारी कारणे केंदे जाय ॥८॥

आमि यदि गायी जान अधिर परान,
से गान सुनावो कारे आर ॥९॥

आमी यदि गाँथी माला, लये फूल डाला,
काहा रे परावो फूल हार ॥१०॥

आमी आमार ए प्राण यदि करी दान,
दिवो प्राण तवे कार पाय ॥११॥

सदा भय होय मने पाछे अजतने
मने मनके हो व्यथा पाय ॥१२॥

[आज शरद् ऋतुके सूर्यातपमें प्रभातके स्वप्न-कालमें न-जाने मेरे प्राण क्या चाहते हैं। १.

उस हरसिंगारकी शाखापर बैठे हुए विहङ्ग और विहंगी न-जाने क्या कह-कहकर एक दूसरेको बुलाते हैं; पता नहीं उनके गानेका अर्थ क्या है? २

आजकी मधुर वायु प्राणोंको उदास कर देती है। घरमें मन भी नहीं लगता। ३

न-जाने किस फूलको आशामें, किस फूलकी सुगन्धिके लिए मन नीले आकाशकी ओर भाग रहा है। ४

आज न-जाने वह कौन अपना मानो नहीं है, इसीलिए इस प्रभातकालमें जैसे मेरा जीवन-विफल हो रहा है। ५

उसे ही मन चारों ओर ढूँढ़ता है और जो कुछ पाता है उसे देख कर व्यथा-भरे शब्दोंमें कहता है—यह नहीं, यह नहीं, यह (कदापि) नहीं। ६

न-जाने किस स्वप्न-देशकी अमरावतीमें वह मुक्तकेशी है। ७

आज न जाने किस उपवनमें वह विरहकी वेदनामें भरकर गाती है और मेरे लिए रोकर चली जाती है। ८

मैं यदि गीत गाऊँ, यदि गीतोंकी रचना करूँ, तो फिर प्राणोंके अधीर होनेपर उसे किसको सुनाऊँगा। ९

और अगर फूलोंकी माला गूँथूँ तो वह हार किसे पहनाऊँ? १०

यदि अपने प्राणोंका दान करना भी चाहूँ तो किसके चरणोंमें इसे समर्पित करूँगा? ११

मनमें सदा भय लगा रहता है कि मेरी त्रुटिसे हृदयमें किसीको चोट न लगे। १२]

यह विषाद ही राग बनकर 'प्रसाद'का 'आँसू' बन जाता है—

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियोंकी इसी हृदयमें
नक्षत्र-लोक फैला है
जैसे इस नील-निलय में।

क्योंकि, शशि-मुखपर घूँघट डाले
अन्तरमें दीप छिपाये

जीवनकी गोधूलीमें
कौतूहलसे तुम आये ॥
—आँसू

प्रेम-विभोर विरहिणीका एक गीत है—

आम मजरि महु तूअल
तैओ ने पहुँ मोरा घूरल
दीप जरिय वाती जरल
तैओ ने पहुँ मोरा आयल

[आममें बौर आ गयी। महुआ चूने लगा। लेकिन हे सखि, मेरे प्रियतम नहीं आये। दीयेकी लौ मन्द पड़ गयी। बत्ती जल गयी फिर भी मेरे प्रियतम नहीं आये]

इसी विषाद और वेदनाके लिए द्विजने कहा है—

अमर वेदना ही हो मेरे
सकल सुखोंका मीठा सार।
—द्विज

कभी तो वह इस विषादको भी अपने अन्तरमें छिपा रखना चाहता है:—

विपतके जिस आँगनमें खेल,
काटता मैं दारुण दिन-रात—
दिखाऊँगा न तुम्हें वह; और
बताऊँगा न विपतकी बात;

क्योंकि दुखके ज्ञापनका भाव,
घटा देता पीड़ाका मोल;
लूट लेता अधीर उन्माद,
अतल अन्तर की निधियाँ खोल।

—द्विज

यही विषाद आध्यात्मिकता और दार्शनिकताका आग्रह लेकर महा-देवीकी वाणी मुखरित करता है—

पूछता क्यों शेष कितनी रात?
\+ \+ \+ \+ \+ \+
प्रणत लौ की आरती ले,
धूम—लेखा स्वर्ग-अक्षत
नील कुमकुम वारती ले,
मूक प्राणोंमें व्यथाकी स्नेह-उज्ज्वल भारती ले,
मिल अरे बढ़ आ रहे यदि प्रलय झञ्झावात!
कौन भय की बात?

दर्दने कुछ ठीक ही कहा है—

दिल भी ऐ 'दर्द' कतरए-खूँ था
आँसुओंमें कभी गिरा होगा।

यही जलन दिनकरका परिचय है—

जलन हूँ, दर्द हूँ, दिलकी कसक हूँ,
किसीका हाय खोया प्यार हूँ मैं।

गिरा हूँ भूमिपर नन्दन-विपिनसे
अमर-तरुका सुमन सुकुमार हूँ मैं।
मधुर जीवन हुआ कुछ प्राण! जबसे
लगा ढोने व्यथाका भार हूँ मैं।
रुदन ही एक पथ प्रियका, इसीसे
पिरोता आँसुओंका हार हूँ मैं॥

यही व्यथाका भार 'वनफूलोंकी ओर' में भी मिलेगा—

वन-तुलसीकी गन्ध लिये हलकी पुरवैया आती है
मन्दिरकी घण्टा-ध्वनि युग-युगका संदेश सुनाती है
'टिम-टिम' दीपकके प्रकाशमें पढ़ते निज पोथी शिशु-गण,
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह गीत उन्मन—
"भैया! लिख दे एक कलम खत मो बालमके जोग
चारों कोने खेम कुशल माझे ठाँ मोर वियोग।"

और बालकने गीति काव्य 'दूतिका मैं बन जाऊँगी; सखी! सुध उन्हें सुनाऊँगी' का भार वहनकर आँखके आँसुओंका मोल बतलाता है। और कभी 'परदेशी-प्रिया' की यादमें रोनेवाला कवि चीख उठता है—

सुनूँ क्या सिन्धु मैं गर्जन तुम्हारा
स्वयं युगधर्मका हुङ्कार हूँ मैं।

और वेदना एवं विषादकी यह परम्परा भारतेन्दुसे आती हुई राष्ट्री-य-दर्शी भावमें मिल जाती है; जिसके स्वरमें स्वर मिलाकर नवीनने गाया—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल पुथल मच जाये।

प्रसाद ने कहा—

हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती।

राष्ट्रीय कविताके मर्ममें अतीतके प्रति श्रद्धा, निजत्वसे प्रेम, वर्तमान अभावके प्रति जागरूकता एवं क्रम-परिवर्तनका आभास रहता आया है। राष्ट्रीय गीतोंके मूलमें विषादकी यही भावना जाग्रत् रहती है। वर्तमान-के प्रति असन्तोष अभावोंके प्रति जागरूकताका लक्षण है। देश, जाति और संस्कृतिकी सीमाएँ तोड़ सम्पूर्ण मानव जातिके विषाद और अभावकी जो चेतना जग जाती है, वह अन्तर्राष्ट्रीय है, सार्वजनिक है, मानवीय है; बुद्ध और ईसामें यही मानववाद है। हृदयवाद जब वैयक्तिक सुखदुःखकी प्रेरणाको मानवताके साथ सम्बद्ध कर देता है वह मानवीय करुणाका उत्स बन जाता है; वैसे समय भी स्मरण रखना चाहिए कि उस उत्सका उद्भव कहाँ हुआ है?

नीचे जलनेवाली पृथ्वी ऊपर जलनेवाला अम्बर।
औ' कठिन भूख की जलन लिये नर बैठा है बनकर पत्थर!
पीछे है दानवताका खँडहर, दानवताका सामने नगर!

यही विषाद 'मानव-प्रेम'का आदर्श है, यही विषाद राष्ट्रीय जागरण का उन्मेष है; भक्तकी अतुल भावना है, स्नेहका सागर है। मानव-प्रेमके आधार आँसुओंके सम्बन्धमें लावेलने (Lowell) कहा है—

"Let our heart within us melt"

To gentleness as if we felt
The dropping of our mother's tears.

विषादका यही राष्ट्रीय रूप 'प्रसाद'के 'हिमाद्रि तुंग'में फूट पड़ा है—मानवताकी इसी बौद्धिक प्रेरणाके कारण—

आह मेरा गीला गान
वर्ण-वर्ण है उरका कम्पन
शब्द-शब्द है सुधिका दंशन
चरण-चरण है आह
कथा है करुण अथाह

'बूँदमें वाडवका दाह'

गानेवाले पंत कहते हैं—

खुल गये छन्द के बन्ध,
प्रासके रजत पाश,
अब गीत मुक्त,
औ' युगवाणी बहती अयास !
बन गये कलात्मक भाव
जगत के रूप-नाम,
जीवन सङ्घर्षण देता सुख,
लगता ललाम ।

× × ×

अनुभूति निष्ठ आत्मनिष्ठ काव्यमें कवि अपने व्यक्तिगत अनुभव,

आकांक्षा, विचार, रागात्मक, आवेश तथा मूड (Mood) को अभिव्यक्ति देता है। कविका अस्तित्व स्पष्ट रूपसे उसके काव्यमें वर्तमान रहता है। आन्तरिक क्षोभ गीति-काव्यको जीवनी-शक्ति देता है और उसकी वृत्ति उसे नवीन रूप देती है। जिस प्रकार नदीके निर्मल जलके भीतर तलस वाले पत्थर साफ झलकते रहते हैं, उसी प्रकार कविकी अन्तर्वासना गीति-काव्यमें झलकती रहती है। किसी भी कवितामें व्यक्तिगत आशा-निराशा, लालसा-आकांक्षा, अनुभूति, विचारका चित्र रहता है। वस्तुनिष्ठ, वाह्यार्थ निरूपक अथवा आब्जेक्टिव कवितामें कवि अपने व्यक्तित्व और आकांक्षाको गोपनीय बनाकर दूसरे पात्रके माध्यमसे अभिव्यक्त करता है, अन्तर केवल इतना होता है कि वह परोक्ष रूपमें ही रहता है। काव्यके इस प्रकार भेद व्यावहारिक और सुविधाके लिए हैं। हर्ष, शोक, प्रेम, घृणा आदि मानवीय वृत्तियोंके उत्पन्न करनेवाले कारणों एवं उनकी मात्रामें अन्तर रहता है। एक ही व्यक्तिमें भिन्न समयमें उत्पन्न अनुभूतिकी गहराई भिन्न होती है। उन अभिव्यक्तियोंको एक ही कहना शायद मनोवैज्ञानिक भूल है। केवल उनकी समानताके कारण ही उन्हें एक माना जाता है। दो विभिन्न परिस्थितियोंमें उत्पन्न आकर्षणको सामान्य प्रेमकी संज्ञासे हम अभिहित करते हैं परन्तु दोनों प्रेममें अन्तर रहता है। केवल समानता ही उस अनुभूतिके एकत्वका आधार है। सामाजिक विकास-क्रमकी पूर्वावस्थामें वैयक्तिक विभिन्नताका रूप उन्नत नहीं हो सका था। व्यक्तित्व और वैयक्तिकताकी स्पष्ट विभिन्नताका उद्भव पीछे चलकर हुआ। आजकी चेतना व्यक्तिको विच्छिन्न करके देखनेका अभिलाषी है, यद्यपि सामाजिक प्रतिवेशसे हटाकर देखनेका अर्थ कृत्रिम वातावरणमें उसे रखकर देखना है। तुलसीकी स्वानुभूतिके सम्बन्धमें रामचन्द्र शुक्लने 'तुलसीदास'में (पृ० ८५) लिखा है, "तुलसीकी अनुभूति ऐसी नहीं जो एकदम सबसे न्यारी हो।" अनुभूतिकी समानताके

कारण किसीकी अनुभूति एकदम न्यारी नहीं हो सकती और दूसरी बात यह है कि तुलसीकी अनुभूतिके लिए 'विनयके पद' नहीं बल्कि उनके द्वारा चित्रित पात्रोंके रागात्मक आवेशको देखना होगा। गीति-काव्यमें स्वानुभूतिका अर्थ अतः यह लेना चाहिये कि वह अनुभूतिको 'अपनी' कहकर उपस्थित करता है और अन्तर्वृत्तनिरूपक काव्यका तात्पर्य है कि कवि किसी अनुभूतिको 'अपनी' कहकर उपस्थित करनेमें सङ्कोच नहीं करता किन्तु उसके मानसिक उद्रेकका कारण वस्तु या आत्मनिष्ठ भावना है। अनुभूतिके मूलमें अतः पदार्थ (यहाँ वस्तु और भाव दोनोंसे तात्पर्य है) हैं ऐसी अवस्थामें गीति-काव्यमें भी बाह्यार्थ निरूपक काव्य और स्वानुभूति निरूपक, वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ, आब्जेक्टिव और सब्जेक्टिव कविताका भेद मिटता जाता है। सफल कवि अन्तर्दर्शन और सर्जनकी प्रक्रियामें दोनोंको एकात्म रूपदेता है।

आह! वेदना मिली विदाई;
मैंने भ्रमवश जीवन-सञ्चित
मधुकरियोंकी भीख लुटाई।

छल छल थे सन्ध्याके श्रमकण
आँसूसे गिरते थे प्रति क्षण
मेरी यात्रापर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।

चढ़कर मेरे जीवन-रथमें,
प्रलय चल रहा अपने पथमें,

उसके आन्तरिक चेतनाका माध्यम बन बैठती हैं। वेदनाका कारण बाह्य अवश्य है जो सारी आशाओंका केन्द्र है, वह बिछुड़ गया है फिर भी वह प्रियतम लक्ष्य नहीं, उपलक्ष्य मात्र है। वेदना इतनी आक्रान्त कर लेती है कि इसकी अनुभूतिके अतिरिक्त और चेतना बच नहीं रहती। इस वेदनाका स्रोत लालसा और हसरतके इस चित्रमें है। इसमें निराशा, आकुलता, पीड़ा, जलन, और दर्दकी करुण और वेदनायुक्त तस्वीर है——

चिर-तृषित कण्ठ से तृप्ति-विधुर
वह कौन अकिञ्चन अति आतुर
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ-सदृश
ध्वनि कम्पित करता बार-बार
धीरेसे वह उठता पुकार
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

स्वानुभूतिकी चर्चा करते समय 'फैशन' और प्रचलित परिपाटीपर विचार कर लेना आवश्यक-सा जान पड़ता है। परम्परागत काव्यकी सौन्दर्यहीनता देख प्रातिभ कवि उसका नया स्वरूप खड़ा करता है। इस प्रकार काव्य-क्षेत्रमें नवीन रूपात्मक आवेशका जन्म होता है। प्राकृत प्रतिभासे हीन नवोन्मेष का कारण काव्यकी रूपात्मक नवीनता समझ बैठते हैं, फल-स्वरूप जिस 'वाद' का जन्म होता है उसकी गन्दी धारा काव्य-जगत को आक्रान्त करने लगती है। गीति-काव्यकी नव-जागृतिके कारण साहित्य-स्फूर्तिकी जो चेतना मिली, 'फैशन' समझ अनेक हिन्दीके कवि (!) उसकी ओर लपक पड़े। साहित्यके किसी भी विद्यार्थीको इस प्रकारकी कविताओंके उदाहरण आजकी पत्र-पत्रिकाओंमें मिल सकेंगे, ऐसा मेरा अनुमान है। ऐसे कवियोंमें अनुभूतिकी तीव्रता और गम्भीरता

नहीं रहती, अनेक अवस्थाओंमें तो सत्यता भी नहीं। अनुभूतीकी गहराई के अभावमें ऐसे कवि माध्यमकी अक्षमताकी ओट लेना चाहते हैं। उनका कथन सम्भवतः होता है,—'अभिव्यक्तिके माध्यमकी ओर न देखकर, अन्तर्वृत्तिको देखो।' संवेदन-शीलता का अभाव वहाँ माध्यम-की अक्षमतासे ही नहीं बल्कि अनुभूतिके अभाव अथवा छिछलेपनके कारण है। यह सम्भव है कि कविको उस अनुभूतिके छिछलेपन या अभावकी स्थितिका ज्ञान न हो और वह उसकी उपस्थितिको वास्तविक समझ रहा हो। अनुभूति और उसकी गम्भीरताके लिए अन्तःक्षोभकी तीव्रता अपेक्षित है। कला वास्तवमें न तो वस्तुगत हो सकती है और न आत्म-गत बल्कि दोनोंके सम्यक् सन्तुलनमें ही कलाकी परिणति है; इस प्रकार विचार अथवा भावनामें तीव्र संवेदन शक्ति हो और कलाकारकी चेतना इतनी जागरूक हो कि वह उस संवेदनशीलताको आत्मसात कर सकनेकी अवस्थामें हो, कलाका जन्म होता है। सहसा यह हमें एक दूसरे प्रश्नके समक्ष ला खड़ा करता है। क्या कोई गीति-काव्यात्मक वृत्ति (Lyric mood) है?

गीतिकाव्यात्मक वृत्तिका अध्ययन और विचार इच्छा-शक्तिकी भूमिकामें रखकर करना होगा जो अनुभूतिको नियन्त्रित करते हैं और भावनाको बुद्धि-सम्मत आधार देते हैं। सहज विचारकी भाँति तर्कसम्मत विचार गीतिकाव्यके उपयुक्त नहीं। गीति-काव्य क्षणिक आवेश और अनुभूतिकी वाणी है। प्रकृत इच्छाशक्ति विवेक—शील इच्छा-शक्तिसे कहीं अधिक काव्यात्मक है किन्तु यह भी स्थूल भावात्मकता-के कारण देश-भक्तिकी कवितामें काव्यात्मक हो जाती है। सामान्य परि-स्थिति, विशेष वस्तु-स्थिति, अथवा मनुष्य वहींतक गीतितत्त्वके लिए उपा-देय हैं जहाँतक उनमें विशिष्ट अनुभूति उत्पन्न कर सकनेकी शक्ति है। यदि कविकी रागात्मक अनुभूति तीव्र और गहरी है, वह संवेदनशीलता

उत्पन्न करनेवाले विषयके प्रति उदासीन रहता है, उसके लिए मात्र उसकी अनुभूति ही सत्य होती है, कुछ वस्तु अथवा विषय नहीं। कुछ कम अन्तःक्षोभ उत्पन्न होनेपर सम्बद्ध वस्तु उसकी रागात्मक-अनुभूतिके अन्तर्बिम्बके साथ प्रतिफलित होने लगती है किन्तु यदि उसमें अत्यन्त क्षीण आवेश जग सका है, विषय और अनुभूतिके तारतम्यमें अन्तर आता रहता है। अन्तःक्षोभ या रागके अनुद्वेगके क्षणोंमें यदि काव्य-रचना होती है कल्पना द्वारा रागात्मक आवेशके मौलिक क्षणोंसा अन्तःक्षोभ उत्पन्न नहीं होता ; विषय स्पष्ट स्वरूप धारण कर उन गीतोंमें प्रकट होता है, यद्यपि उसके अतिरिक्त कविकी अन्तर्वृत्तिके दर्शन भी उस काव्यमें होते हैं। जिस समय मनोविकार जगे नहीं रहते अथवा बहुत ही कम जगे रहते हैं, उस समयके काव्यमें काव्यगत मूर्त-विधान और वृत्तिमें विषय ही प्रधान रहता है। गीति-काव्यपर विचार करते समय साधारण रूपमें कविकी रागात्मिका वृत्तिको जाग्रत कर सकनेका सम्बन्ध देखना होगा। विषयकी अपेक्षा वहाँतक ही है जहाँतक उसमें इस सहज वृत्तिको जाग्रत और क्षुब्ध करनेकी शक्ति है। एक ही विषय विभिन्न व्यक्तियोंमें विभिन्न प्रकारकी और विभिन्न मात्रामें अन्तर्वृत्ति क्षुब्ध करता है। पाठक अथवा कविके लिये अतः अथवा विषय वस्तु विशेष महत्त्व नहीं रखते। प्रेमीके लिए उसकी प्रेमिका अथवा प्रियतम ही मुख्य हैं, कारण उनके व्यक्तित्वका उसके लिये अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। काव्यके लिए प्रियका व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण नहीं; बल्कि है रागात्मक (Content)। एक ही व्यक्तिमें एक ही वस्तु द्वारा विभिन्न रागात्मक वृत्ति जगती है। किसी अज्ञात वस्तुको देखकर पहले भय, बादमें विस्मय और तत्पश्चात् करुणा अथवा आकर्षणकी भावना जग सकती है। साधारण रूपमें सौन्दर्यके प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्रेम, एवं उस

व्यक्तिकी मानसिक अस्थिरता द्वारा घृणा, उसे पीड़ामें देख करुणा, अपने आपपर क्षोभ आदि अन्तर्वृत्तियाँ जगती हैं। इस कथनका यह अर्थ नहीं कि प्रियतम द्वारा प्रेमीकी रागात्मक वृत्तियों अथवा शरीर गत वासनाओंकी परितुष्टि नहीं होती बल्कि यह है कि वहाँ व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है उसका रागात्मक तत्त्व गौण और गीतिकारमें वही प्रधान। इसके अतिरिक्त गीतिकारमें अभिव्यञ्जनाकी क्षमता है जिसका वर्णन अलग होगा। एक ही विषय अथवा वस्तु समान रूपसे सदा प्रभावित नहीं कर पाती किन्तु इतना स्पष्ट है कि मानसिक क्षोभ की चञ्चलता गीति-वृत्तिके लिए अपेक्षित है।

स्वानुभूतिके इस प्रसङ्गमें इसके कारणोंके सम्बन्धमें विचार करना आवश्यक होगा। अनुभूतिकी तीन अवस्थाएँ हैं, पहली अवस्थामें यह सहजानुभूतिकी सूचिका है। दूसरी अवस्थामें इस सहजानुभूतिको स्वरूप देनेवाली शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रिया एवं लक्षण प्रकट होते हैं। तीसरी अवस्थामें यह समाजके व्यक्तियोंमें सह-अनुभूति अथवा विरोध उत्पन्न करती है और स्वयं उस व्यक्तिको अपनी वृत्तिकी नैतिक अवस्था, अपेक्षा अथवा तीव्रताका भान होता है। नैतिकता सभ्यता और संस्कृतिके फलस्वरूप है अतः कृत्रिम और अप्राकृतिक। इस प्रकार रागात्मिका वृत्ति वस्तुकी प्रकृतिकी सूचना नहीं देती बल्कि उस वस्तुसे क्षुब्ध हमारी मानसिक प्रतिक्रियाकी प्रकृतिकी। यह आत्म-बोध और नियन्त्रणका मार्ग खोलती है। गीति-काव्यमें अनुभूतिके इस आत्म-बोध और नियन्त्रणका कम प्रभाव नहीं है। प्राथमिक अन्तर्वृत्तिसे कम महत्त्व साहित्यमें प्रसूत (Derived) अनुभूतिका नहीं है। स्वानुभूतिकी कोटियोंके कारण ही गीति-काव्य और उसके प्रभावकी मात्रामें अन्तर आता है। जिस कविमें अन्तःक्षोभ नहीं उत्पन्न हुआ है, वह वस्तुके अधिक-से-अधिक वर्णन द्वारा

पाठकमें अन्तःक्षोभ नहीं उत्पन्न कर सकता। प्रकृतिका अतः आलम्बन रूपमें वर्णन गीति-काव्यके उपर्युक्त नहीं होता।

एक प्रश्नपर और विचार करना आवश्यक होगा। अनुभूतिका बौद्धिकतासे कितना सम्बन्ध है। गीति-काव्यके पहलूपर ही विचार करनेके कारण इस प्रश्नके दार्शनिक और मानसिक पहलुओंपर विचार नहीं करूँगा। बौद्धिकताका मूल तर्क शक्ति है, इच्छा-शक्ति इसकी सहायिका होकर चलती है। मानसिक शक्तिको अनुभूति, इच्छा-शक्ति और बोध-वृत्तिके तीन विभागोंमें विभक्त करनेका भ्रम सदासे होता आया है। व्यावहारिक अध्ययनके लिए सुविधाके विचारसे इस प्रकारका वर्गीकरण भले किया जाय वस्तुतः तात्त्विक रूपमें इन्हें एक दूसरेसे विछिन्न नहीं किया जा सकता। ऐसा वर्गीकरण mental abstraction (मानसिक आदान) मात्र है। गीति-काव्यमें अन्तर्वृत्ति passion मुख्य होती है, बोध-वृत्ति अथवा इच्छा-शक्ति गौण और उसका अंग मात्र। बोध-वृत्तिके द्वारा न तो अन्तःवृत्ति जग सकती है और न उसे तीव्रता ही मिल सकती है बल्कि रागात्मिका वृत्ति बोध-वृत्तिका प्रयोग अपने लक्ष्यतक पहुँचनेके लिए करती है। प्रेममें विचार-पूर्वक प्रियतमकी मङ्गल-कामना अथवा अपने प्रेमकी परितुष्टिका प्रयत्न हो सकता है किन्तु विचार और सोच करके किसीसे प्रेम नहीं किया जा सकता। आचार और नीति-शास्त्रका आधार यही बौद्धिकता है अतः रागात्मिका वृत्ति और इन शास्त्रोंमें विरोध स्वाभाविक हो उठता है। अनुभूति आचार-नीति शास्त्रका बन्धन स्वीकारकर मृत हो जाती है, इनके द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकती। केवल अपनी पत्नीसे प्रेम करनेका अदेश देनेवाला आचार-शास्त्र इस रागात्मिका प्रवृत्तिका ध्यान नहीं रखता। अनेक अंशोंमें कवि काव्यमें अपने स्वप्न, आकांक्षा एवं प्रवृत्तिकी परितुष्टिकी चेष्टा करता है अतः आचार और नैतिकताका आग्रह उसके लिए बन्धन हो जाता

है। ऐसी अवस्थामें गीति-काव्यका आचार-शास्त्रीय आधार अनैतिक है किन्तु अनेक कवि सामाजिक मान्यताओंको चरम समझकर उसका विरोध नहीं कर पाते, फलतः वैसे गीति-काव्यका जन्म होता है जिसे हम नैतिक कहकर पुकार सकते हैं। धार्मिकताका आग्रह नैतिकता और नैतिक भावनाके विरोधसे त्राण पानेका प्रयत्न है। राधा-कृष्णको काव्यगत आलम्बन स्वीकार करनेका अनेक अंशोंमें यही रहस्य है। नैतिक अनुभूति सहजानुभूतिका रूप धारण नहीं कर सकती अतः गीति-काव्यकी प्रकृत सीमाके अन्तर्गत नहीं पहुँच पाती। गीति-काव्यमें अनुभूति भावनाका रूप ग्रहण करती है निष्क्रिय बुद्धिवादिता वह वहन नहीं कर सकती।

स्वानुभूतिके सम्बन्धमें लिखा गया है कि सहजानुभूतिका उद्भव होता है, दूसरी अवस्थामें तद्सूचक मानसिक एवं शारीरिक लक्षण प्रकट होते हैं और तीसरी अवस्थामें सामाजिक प्रतिक्रिया तथा फलस्वरूप निजी दृष्टिकोणके विचारका तत्त्व प्राप्त होता है। अनुभूतिकी इन अवस्थओंके कारण गीति-काव्यके विकासपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। गीति-काव्यमें समष्टिगत मानव-जीवनका जो व्यष्टिगत स्वरूप है, उसके पूर्ण चेतन क्षणोंकी परिपूर्ण वाणी रहती है। उस अनुभूतिकी तीव्रताका कारण उसकी अन्विति और इकाई है। एक ही व्यक्तिमें एक ही वस्तु अथवा विषयके कारण क्रम-क्रमसे विभिन्न वृत्तियाँ जग सकती हैं। वृत्तिमें स्थायित्व नहीं होता, वे क्षणिक हैं, क्षणस्थायी हैं, किन्तु उनका व्यापक प्रभाव जीवन और उसकी चेष्टाओंमें पाया जाता है। काल, देश और पात्रकी सीमामें आवृत्त जीवन क्षणोंके इस निर्विशेष आवेशमें जीवित है। जिसे लोग पूर्ण विवेकशील जीवन कहते हैं, उसका पूर्णतः अभाव है। वर्ड्सवर्थने जीवनकी इसी अन्तर्वृत्तिका वर्णन किया—

इकाई ही है । अनुभूतिकी इकाईमें तीव्रता लानेके लिए अन्य अनुभूतिका आक्षेप सम्भव है किन्तु उस अङ्गभूत अनुभूतिका चित्र सापेक्ष्यमूलक होना अनिवार्य है । गीति-काव्यकी इस अन्वितिसे तीसरी अवस्थाकी निष्णात भावनामें विचार, आस्था, सङ्कल्प और अन्तःक्षोभकी अनुद्वेग प्रवृत्तिका समन्वय हो पाता है । बुद्धि यहाँ अलग बैठी नहीं रहती अपितु भावना की सहचरी बन उसे स्थायित्व देती है ।

प्रेरक—

प्रेरकके मूर्त्त-विधान द्वारा स्वल्प मानसिक प्रतिक्रिया	वह चली अब अलि, शिशिर-समीर ! काँपी भीरु मृणाल-वृन्त पर नील कमल कलिकाएँ थर-थर प्रात-अरुणको करुण अश्रु-भर लखती अहा अधीर !
तीव्र मानसिक उद्वेग और अनुभूतिकी गम्भीरता	वन-देवीके हृदय-हारसे हीरक झरते हर सिंगारके, बेध गया उर किरण तारके विरह-रागका तीर !
भावना एवं बौद्धिकताका सन्तुलित रूप	विरह परी-सी खड़ी कामिनी व्यर्थ वह गयी शिशिर यामिनी, प्रियके गृहकी स्वाभिमानिनी नयनोंमें भर नीर ।

प्रेरणाके लिए बाह्य उत्तेजनाकी ही चरम अपेक्षा नहीं । आन्तरिक कारणोंसे अनुभूतिकी तीव्रता और अन्तःक्षोभ जग सकता है, किन्तु यह

अन्तःक्षोभ कल्पनाजन्य है, ऐसी अवस्थामें उस प्रकारकी पूर्वानुभूति-की स्मृति उभर आती है। साहचर्यके नियमों द्वारा इसकी व्याख्या करने-की चेष्टा की जाती है किन्तु प्रत्येक अवस्थामें उस 'मूड' अथवा वृत्तिकी उत्पत्तिका तर्कपूर्ण कारण बतलाया नहीं जा सकता। प्रत्येक मानसिक वृत्ति-के उपयुक्त कायिक अभिव्यक्ति और परिवर्तन होता है। शोकमें आँखें गीली हो आती हैं। रक्त-सञ्चालन-क्रिया मन्द पड़ जाती है। चेहरा उदास हो जाता है। साँस जोरोंसे चलने लगती है, मानसिक दीप्ति नहीं रहती। इस प्रकार मानसिक वृत्तिके अभावमें भी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर लेने-पर कल्पना अपने उपयुक्त मानसिक वृत्तिका आधार खड़ा कर लेती है किन्तु उसके साथ यह शर्त सदा लगी रहती है कि वह पूर्वानुभूत हो अन्यथा कायिक स्थिति उत्पन्न कर लेनेपर भी मानसिक वृत्ति नहीं जगती। ऐसी अवस्थामें आकर वृत्तिका घटनासे साहचर्य छूट जाता है, और कल्पना उस वृत्तिके योग्य नवीन रूपकी योजना कर लेती है। अनुभूति-प्रधान रचना होनेके कारण ऐसी मानसिक वृत्तिमें रचित गीति-काव्यमें इसका पूर्ण परिपाक हो पाता है, क्योंकि जिस निस्सङ्गताकी अपेक्षा साहित्य-शास्त्रियोंने मानी है, जिसे चर्वण भी कहते हैं, सम्भव है। इसी मानसिक वृत्तिको वर्ड्सवर्थने recollection in tranquility 'अनुद्वेगकी अवस्थामें अनुचिन्तन' कहा है। किन्तु सदा स्मरण रखने योग्य कि अनुभूतिकी तीव्रता और गम्भीरता नहीं आ पाती। इसलिए वर्ड्स-वर्थमें गीति-काव्यात्मक प्रतिभाको अधिक उत्तेजना नहीं मिल सकी है। कबीर, तुलसी अथवा सूरके विनयके पदोंमें इसीलिए तीव्रता नहीं आ सकी। सूर जहाँ गोपियोंके विरहका चित्र उपस्थित करते हैं, वहाँ उनकी आत्मा-नुभूतिको गीतोंमें विस्तार मिलता है, अतः जितनी प्रभविष्णुता उनमें है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। जिन कवियोंमें दार्शनिकताका मोह है, क्षणिक

स्वानुभूति प्रभाव डालती है किन्तु उनकी दार्शनिकता अन्तिम अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते भावनाके स्थानपर आ डटती है और उनका गीत विचार-प्रधान हो उठता है। महादेवीमें ऐसा आवेश अधिक है। मैं ऐसा नहीं कहता कि कवि जान-बूझकर चेतन अवस्थामें ऐसा करता है किन्तु ऐसा अचेतन रूपमें हो जाता है और स्वयं कविको इसकी सूचना नहीं रहती।

प्राण-पिक प्रिय नाम रे कह !
मैं मिटी निस्सीम प्रियमें,
वह गया बँध लघु हृदयमें;
अब विरहकी रातको तू,
चिर मिलनका प्रात रे कह !
दुख-अतिथिका धो चरण-तल,
विश्व रसमय कर रहा जल;
यह नहीं क्रन्दन हठीले !
सजल पावस मास रे कह !

\+ \+ \+ \+

चल क्षणोंका क्षणिक संचय,
बालुकासे बिन्दु-परिचय,
कह न जीवन तू इसे
प्रियका निठुर उपहास रे कह !

रोप अथवा क्रम-विकासकी हीनता और उसके स्वाभाविक विकासका भाव यहाँ नहीं। ऐसा नहीं जान पड़ता कि महादेवीने बलपूर्वक दार्शकताका यह भार पाठकोंके सिर लाद दिया है। जहाँ इस प्रकारका अस्वाभाविक आरोप होता है, वहाँ गीति-कविता कराह उठती है।

आकुलता साकार बन गयी
अन्धकार वसना सन्ध्याकी
सलज शिखाओंकी झिलमिलमें
सपनोंकी छविसे मदमाती
घुलमिल सुधके मलयानिलसे
पथकी अङ्कशायिनी कोमल
रज मोहन शृङ्गार बन गयी !
कहाँ शून्य अब रहा शून्य प्रिय !
छाया भर कैसे यह छाया ?
कहाँ द्वैत, जब मुझमें तुम
तुममें मैंने अपनेको पाया
आज सृष्टि मेरी श्वासोंसे
प्रलय-मुखर त्योहार बन गयी।

—प्रभात

प्रेरणाके रूपमें अन्तरवासिनी आकुलताका उद्रेक है। मन है उन्मन, उदास। कारण ज्ञात नहीं; यह उदासी तीव्र भी नहीं; मादक भी नहीं; लेकिन रह-रहकर कुछ खटक-सा उठता है, मन विरस हो जाता है; इस प्रकारकी मानसिक अवस्थामें कवि अनुभूति लानेकी चेष्टा करता है और उसकी यह उदासी आकुलतामें परिणत हो जाती है और कल्पना उस आकुलताको

और प्रगाढ़ बना देती है। 'अंधकार' से 'मलयानिल'तक उस अनुभूतिकी तीव्रता मिलती है, यह काल्पनिक आवेश टिकता नहीं और विचार उसे आक्रान्त कर लेता है। 'रज मोहक शृंगार बन गयी' में वह कहना चाहता है कि आत्माकी अ—रूपताको रज=मिट्टी=शरीरने रूप दिया और इस प्रकार परमात्मा-तत्त्व आत्मा रूपसे इस शरीरमें प्रतिष्ठित हो गयी। द्वैतमें आकर उसका दार्शनिकताका पूर्ण मोह प्रकट होता है, जहाँ अद्वैत-दर्शनकी प्रतिष्ठा करता हुआ वह दीखता है। इस प्रकारका दार्शनिक मोह स्वाभाविक विकासका फल न मालूम होकर सिद्धान्त रूपमें लदा हुआ बोझिल जान पड़ता है।

जहाँ अनुभूतिके साथ वस्तु अथवा उसकी अनुभूतिको जाग्रत करनेवाली वस्तु अथवा विषयका चित्र स्पष्ट रूपसे दीख पड़े वहाँ समझना चाहिए कि उसकी अनुभूति अधिक तीव्र नहीं; अनुभूतिकी तीव्रताके समय मात्र अनुभूति सत्य रहती है, उसका साधन नहीं। साधनका चित्र आँखोंसे ओझल रहता है किन्तु अनुभूतिकी अपेक्षाकृत प्रशान्तावस्थामें विषय-चित्र भी उपस्थित हो जाता है।

> और चलीं तूफान फूँकती वे पथ-कन्याएँ सन्तप्त,
> जिनकी कृश जंघाओं पर संघर्ष मनाते थे उन्मत्त।
> जिनकी छातीके गड्ढोंपर दीप वासनाके जलते,
> जिनके नील कपोलोंपर मतवाले गाहक मुख मलते॥

इन पंक्तियोंमें कविकी समवेदना और सहानुभूति-पूर्ण मनःस्थितिका सम्यक् परिचय मिलता है। इस वैयक्तिक अनुभूतिके मूलमें सामाजिकताका आरोप है किन्तु असंवेदन-शील जीवनमें इस प्रकारकी पथ-कन्याएँ किसी प्रकारकी मानसिक प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करतीं अतः कविके संवेदनात्मक

मनोवृत्तिमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं हो सकता किन्तु इस मानसिक वृत्ति-के साथ ही विषयका स्थूल रेखाओंमें घिरा चित्र यहाँ मिलता है। संवेदना कविकी अन्तर्वृत्तिको जहाँ समवेदना पूर्ण बनाती है, वहाँ दूसरी ओर तीव्रता के वेगको नियन्त्रित कर देती है। इसके मूलमें कविका दृष्टिकोण भी है, कारण दृष्टिकोण विचारमूलक है और विचार अनुभूतिको उद्वेगहीन करता है। लेकिन विषय और रागात्मिका अनुभूतिका सन्तुलन स्पष्ट सूचना देता है कि कविकी सहानुभूति पन्तकी भाँति मात्र बौद्धिक नहीं बल्कि रागा-त्मक भी है। अन्तःक्षोभकी शान्तावस्थाके समय कल्पना द्वारा आवेश लानेमें कविकी वास्तविक प्रतिभाकी सूचना मिलती है, यदि इस प्रकारका सन्तुलित और संश्लिष्ट चित्र कवि दे सकता है जिसमें रागात्मिका अनुभूति विषयके अधीन नहीं हो पाती। यदि वस्तु अथवा विषय प्रधान हो उठे, उसे गीति-काव्य कहनेमें संकोच होना चाहिये।

भारत माता
ग्रामवासिनी।
खेतोंमें फैला है श्यामल
धूल भरा मैला-सा आँचल,
गङ्गा यमुनामें आँसू जल
मिट्टी की प्रतिमा

जग जननी
जीवन विकासिनी।

—पंत : भारतमाता

विषय-गत चित्र यहाँ इतना स्पष्ट है कि रागात्मिका अनुभूतिका उद्वेग उसके अधीन हो गया है, चित्र प्रधान है, अनुभूति गौण। वही पंतजी जब 'याद' में—

"विदा हो गयी साँझ, विनत मुखपर झीना आँचल धर,
मेरे एकाकी आँगनमें मौन मधुर स्मृतियाँ भर!
× × ×
एक मधुरतम स्मृति पलभर विद्युत-सी जलकर उज्वल
याद दिलाती मुझे, हृदयमें रहती जो तुम निश्चल!"

—गा उठते हैं अनुभूति प्रधान हो जाती है और संध्याका—

"वह केशरी दुकूल अभी भी फहरा रहा क्षितिजपर,
नव असाढ़के मेघोंसे घिर रहा बराबर अम्बर'

—यह चित्र गौण।

अन्तःक्षोभ और रागात्मिका वृत्तिके अभावमें मात्र चित्र ही रह जाता है।

रागात्मिका अनुभूतिकी इकाई और समत्व

गीति-काव्यके सम्बन्धमें विचार करते मैंने ऊपर लिखा है कि **गीति-काव्यमें रागात्मिका अनुभूतिकी इकाई और समत्व अपेक्षित हैं** अन्यथा उसमें न तो संवेदनशीलता रह जाती है और न उससे उत्तेजना प्राप्त हो सकती है। इसके फलस्वरूप हम दूसरे निष्कर्षपर पहुँचते हैं।

गीति-काव्य अतः जीवनके केवल एक पहलूका भावनात्मक चित्र उपस्थित करता है। सम्पूर्ण जीवन निष्क्रिय और शिथिल अभ्यासमात्र है। जीवन-क्रममें दो-चार क्षण ही ऐसे आते हैं, जब मनुष्यकी वृत्ति उन क्षणोंके आवेशमें अन्तर्मुखी हो उठती है जिससे अन्तर्दर्शन और आत्म-निष्ठ चेतना-का उसमें विकास होता है। जीवनके लिए ऐसे क्षण ही महत्त्वपूर्ण हैं बल्कि मैं तो ऐसा समझता हूँ कि जीवनमें ऐसे ही क्षण सत्य हैं और वे ही जीवन हैं, अन्यथा जिस क्रमको हम जीवन कहनेका मोह रखते हैं, उसमें अर्द्ध-चेतना अथवा चेतन-हीनताके अतिरिक्त और रखा ही क्या है? मार्क्सके उस आर्थिक सिद्धान्तका प्रभाव मुझपर है; कारण मैं मानता हूँ आर्थिक समस्याओंकी पेचीदगीमें पड़कर मनुष्य पिस रहा है, उसकी मान-वता मर रही है। आत्मोन्नतिके साधनों एवं अवसरकी अ-समानताके कारण प्रकृत-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति पूर्णतया विकसित न होकर समाजका आवश्यक अङ्ग नहीं बन पाता। आर्थिक समस्याको हस्तगत कर छोटा-सा समुदाय सम्पूर्ण मानवीय जीवनको आक्रान्त कर रहा है। मानवीय त्राणके लिए ऐसी आर्थिक समस्याका हल आवश्यक है। इसी जन-क्रान्तिमें मानव-जीवनका कल्याण निहित है किन्तु इसके साथ यह भी मानता हूँ कि आर्थिक विषमता ही मानव-जीवनकी एकमात्र समस्या नहीं और न केवल एकाङ्गी दृष्टिकोण रखकर मानव-कल्याणके पथपर आगे बढ़ा जा सकता है उसके जीवनमें अन्तश्चेतना और अन्तर्वृत्तिका प्रभाव है। मानसिक प्रति क्रियाएँ सामाजिक आधार रखकर भी वैयक्तिक हैं। सहसा दीप्त उठनेवाले क्षणोंके संवेदनशील आवेशमें ही मानवीय वृत्ति जीवित र. है। गीति-काव्यमें कवि इन्हीं क्षणोंकी आवेग और उत्तेजनापूर्ण २ भूतिको कलात्मक रूप देता है। उपन्यासकी भाँति महाकाव्यमें स. जीवनका विविध रंग-रंजित चित्र रहता है। कथाका प्रवाह पाठकको ६

की ओरसे हटाकर नवीन दिशाकी ओर ले जाता है। अलङ्कारोंकी योजना, चरित्र-निर्माणकी कुशलता, प्रकृति-सौन्दर्यके प्रत्यक्षीकरण, और शब्द-चमत्कारके कारण पाठकको मुग्ध करनेका पर्याप्त अवसर कविको मिलता है। कथा-प्रवाहमें बीचकी पंक्तियाँ रह-रहकर चमक उठें, पाठकके रसास्वादनके लिए इतना ही पर्याप्त है। गीति-काव्य कहानियोंकी भाँति है जिसमें जीवनके एक अङ्ग, कुछ एक पहलूका चित्र है। उस विचार अथवा दृष्टिकोणको रूप देनेके लिए कहानी-लेखक कथानक और चरित्रका निर्माण करता है, गीतिकारके पास यह साधन भी नहीं; उसकी अनुभूतिको कथाका आधार प्राप्त नहीं। गीति-काव्य अनेक अंशोंमें रेखा-चित्रकी भाँति है। चित्रकी सम्पूर्णता उसे प्राप्त नहीं होती, मात्र कुछ रेखाएँ ही अभिव्यक्तिका माध्यम हैं। उन रेखाओंमें इतना सङ्केत है कि आकृति स्पष्ट हो जाय, जहाँ एक रेखाके अभावमें चित्र अधूरा रह जाता है, वहाँ एक अधिक रेखा चित्रको विरूप कर देती है। प्रभविष्णुताके लिए कलाकारको अत्यन्त सजग रहना पड़ता है। जो लोग रेखा-चित्रकी कलाको आसान समझते हैं, वे भ्रममें हैं। केवल कुछ संस्पर्श ही चित्रको जीवन दे सकते हैं। उसी प्रकार गीति-काव्यमें अनुभूतिकी व्यञ्जना कुछ सङ्केतों द्वारा होती है। इन सङ्केतोंके प्रयोगमें अत्यन्त सावधानीकी आवश्यकता है, कहीं ऐसा न हो कि अधिक सङ्केतोंके कारण रूप-विरूप हो उठे, अथवा पर्याप्त सङ्केतोंके अभावमें चित्रका स्वरूप-विधान ही न हो सके। आज हिन्दीमें गीति-युग चल रहा है; जिसे देखिये कलमकी कूँचीसे नये चित्र उत्पन्न (सर्जन नहीं) करनेके आवेशमें है। अधिकांश आजके गीति-कवि महादेवी-के चित्रोंकी रूपहीनता देख वैसे चित्रोंके निर्माण करनेका प्रयत्न करते हैं। महादेवीकी अस्पष्टता आयास-कृत नहीं। इस अस्पष्टताके कारणोंका विस्तृत विवेचन उपयुक्त नहीं। मैंने 'आधुनिक हिन्दी-कविता'में इसके विवेचनाकी

चेष्टा की है। यहाँ इतना सङ्केत करना अलम् होगा कि अस्पष्टताके मूल कवि-वृत्ति-प्रयास नहीं बल्कि उस क्रमके निर्देशका अभाव है जिसके द्वारा महादेवी अन्तिम निष्कर्षतक पहुँच जाती हैं। सीमान्त रेखाओंके स्पष्ट नहीं रहनेपर मूर्त्त-विधानमें अस्पष्टता तो आती है किन्तु इन चित्रोंको व्यापकता एवं विस्तार भी मिल जाता है। रङ्ग हलके रहते हैं, किन्तु ग्रहणशील मानसके लिए अक्षुण्ण प्रभाव रखते हैं; इतना इसके साथ ही स्वीकार लूँ कि महादेवीके इन चित्रोंको ग्रहण कर सकना प्रत्येक पाठककी मानसिक शक्तिकी सीमाके भीतर नहीं है। मैं केवल यहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि जीवनके एक पहलूका कलात्मक चित्रण गीति-काव्यमें रहता है लेकिन ऊपरकी विवेचनासे स्पष्ट है कि गीति-काव्य व्यक्तित्व-प्रधान अनुभूतिशील रचना है। जीवनके पहलूका स्थूल वर्णन गीति-काव्यका विषय नहीं हो सकता। **गीति-काव्य अतः कविके मनपर पड़नेवाले जीवनके एक पहलूके प्रभावकी सौन्दर्य-पूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति है।** जिस प्रकार सूर्यकी अरुणाभ किरणें अन्धकारमें चमक उठती हैं उसी प्रकार दृश्य अथवा परिस्थिति सम्पूर्ण रूपमें एक बार चमक पड़ती है, जीवनके इस क्षणिक किन्तु आलोकमय दर्शनका रूप-विधान ही गीति-काव्यमें मिलेगा। इसी लिए जीवनकी समस्याओंका तात्त्विक विवेचन अथवा तर्कपूर्ण हल गीति-काव्यमें नहीं उपस्थित किया जा सकता; किसी भी प्रकारकी कवितामें इसे उपस्थित किया जा सकता है, इसमें सन्देह है। किन्तु गीति-काव्यमें ऐसा नहीं किया जा सकता, इसमें किसी भी प्रकारका सन्देह नहीं। गीति-काव्य अतः मुख्यतया अन्तर्वृत्ति-व्यञ्जक और अनुभूति-प्रधान है।

स्वानुभूति और रसानुभूतिके 'स्व' और 'रस'के समन्वयपर विचार करना अपेक्षित है। 'स्व'से तात्पर्य है कविके राग-द्वेषात्मक आत्म-बोधसे।

काव्यके अधिक उपयुक्त नहीं। देश-भक्ति-पूर्ण गीतियोंमें रति-भावना अथवा वीरका निक्षेप ही समझना चाहिये। इस प्रकार गीत-काव्यके अधिक उपयुक्त शृङ्गार और करुण हैं, वीर और रौद्रका प्रयोग किया जाता है, हास्यका प्रयोग हो सकता है। वासना रूपसे स्थित मनोविकार जिस समय सजग हो उठता है रसोद्रेककी सामग्री उपस्थित होती है। करुणके व्यापक प्रभावका दर्शन हमने ऊपरकी पंक्तियोंमें किया है। वेदनाकी इस विवृत्तिका कारण वैयक्तिक और सामाजिक जीवनकी भूमिका है। आजका हमारा जीवन विरोधी तत्त्वोंपर निर्भर करता है। यदि वर्तमानके अभावकी चेतना अतः असन्तोष और तद्‌जनित विषादकी अनुभूति है, तो भविष्यकी आशा अतः नवोन्मेष और उत्साह भी। जीवनका यह विरोधाभास गीति-काव्यमें चित्रित मिलता है। रस-बोधके लिए शास्त्रियोंने रस-मैत्रीका जो विधान किया है उसका शास्त्रीय पालन अनेक स्थानोंमें नहीं मिलेगा। रस-मैत्रीके मनोवैज्ञानिक अध्ययनसे नये तथ्योंका ज्ञान आजके संसारको हुआ है अतः इस प्रश्नपर नये सिरेसे विचार होना चाहिये। शृङ्गारका करुणके साथ विरोध माना जाता है; किन्तु गीतोंमें इसके समन्वयके अनेक उदाहरण मिलेंगे। इसे करुण विप्रलम्भ कहकर भी हम टाल नहीं सकते। रसानुभूतिके लिए **"विभावानुभाव व्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः"** (भरत-सूत्र) कहकर भी एकमें अन्यका आक्षेप कर रस-व्यञ्जना स्वीकार की गयी है। गीति-काव्यमें रस-बोध इसी रूपमें स्वीकार करना पड़ेगा। रस-निष्पत्तिमें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीका भिन्न-भिन्न बोध होना बाधक है; ऐसी अवस्थामें गीति-काव्यमें प्रत्येकका पूर्ण वर्णन न तो सम्भव है और न आवश्यक ही। स्वानुभूति रस-बोधके लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। संस्काररूपसे स्थित वासनाका आस्वादन स्वानुभूतिके आधारपर ही हो सकता है। पाठक अथवा

श्रोताकी कल्पनासे आशय यह है कि बाह्य परिस्थितियोंसे अपनी मनोवृत्तिको विच्छिन्न कर कवि प्रेरित अनुभूतिके उपयुक्त वह मानसिक स्थिति बनानेमें समर्थ है;यदि पाठक ऐसा नहीं कर सकता तो उसके लिए गीति-काव्य नाद और ध्वनिका समूहमात्र है। संवेदनशीलताके लिए पाठक और कविके बीच सन्बोध-सम्बन्ध रहना चाहिए। कविकी स्वानुभूति 'स्व' तक सीमित न रहकर 'पर' की सीमाको स्पर्श करने लगे, गीति-काव्यकी पूर्ण सफलता है। दृश्य-काव्यमें कथा-वस्तु, नाट्य-संगीतत्व, अभिनय, वेश-भूषा एवं नाटकीय परिस्थितिके कारण रसोद्रेकमें कविको पर्याप्त सहायता मिल जाती है। सामाजिकमें रसोद्रेक स्वाभाविक हो उठता है। गीति-काव्यको यह सुविधा नहीं ; उसे सारी परिस्थिति कुछ शब्दोंके सहारे उत्पन्न करनी पड़ती है। ऐसी अवस्थामें शब्द-चयनमें उसे सावधान रहना पड़ता है, एक ओर जहाँ उसके शब्दोंसे झङ्कार द्वारा नादात्मक मूर्त-विधान होना चाहिए, वहाँ उसमें चाक्षुषरूप-विधानका माध्यम बनानेकी शक्ति भी रहनी चाहिए।

क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं !

अगणित उन्मादोंके क्षण हैं,
अगणित अवसादोंके क्षण हैं,
रजनीकी सूनी घड़ियोंको, किस-किससे आबाद करूँ मैं !
क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं !

याद सुखोंकी आँसू लाती,
दुखकी, दिल भारी कर जाती,
दोष किसे दूँ जब अपनेसे, अपने दिन बर्बाद करूँ मैं !
क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं !

दोनों करके पछताता हूँ,
सोच नहीं पर मैं पाता हूँ,
स्मृतियोंके बन्धनसे कैसे जीवनको आजाद करूँ मैं!
क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं!

—बच्चन : 'निशा-निमन्त्रण'से

इस गीतमें आलम्बन या उद्दीपन विभाव अथवा अनुभावका अभाव है। केवल सञ्चारियों द्वारा करुणरसकी व्यञ्जना हो रही है। सञ्चारियोंका स्पष्ट कथन रसदोष गिना जाता है। ("रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायि सञ्चारिणोरपि—," दोषा रसागतामताः" साहित्यदर्पणः) इसमें 'उन्माद'के कारण स्व-वाचकत्व दोष शायद लोग मानें, किन्तु 'उन्माद'का उन्मादोंके रूपमें प्रयोग अपने अर्थमें न होकर समान अवस्थाओंके प्रतिनिधि रूपमें हुआ है। 'क्या भूलूँ, क्या याद करूँ'में वितर्क, 'किस-किससे आबाद करूँ'में चिन्ता, विषाद, जड़ता, स्मृति, मोह, ग्लानि आदि संचारियोंकी व्यञ्जना द्वारा करुणरसकी ध्वनि यहाँ है।

रसबोध और उसका कारण

रस-बोधकी गहराई एवं चमत्कारका अनुमान 'आह' अथवा 'वाह'के आधारपर नहीं किया जा सकता। अद्भुतको ही एकमात्र रस माननेवाले चमत्कारको ही सार रूपसे प्रतीत होना मानते हैं :—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतोः रसः।

[सब रसोंमें चमत्कार, सार रूपसे प्रतीत होता है। और चमत्कार

(विसय)के सार रूप (स्थायी) होनेके कारण सर्वत्र अद्भुत् रस ही प्रतीत होता है।]

अद्भुत् रसको ही व्यापक रस माननेका कारण चमत्कार और विस्मय-का एकीकरण हुआ। चमत्कार विस्मयकारी हो सकता है किन्तु दोनों एक नहीं। व्यञ्जनाकी मूल भित्ति इस चमत्कारपर ही निर्भर करती है। गुण 'अर्थ'का चमत्कार है, रीति शब्दका चमत्कार है, अलङ्कार आव-श्यकतानुसार शब्द और अर्थ दोनोंका चमत्कार है, ध्वनि अथवा रस सम्पूर्ण काव्यका चमत्कार है। जिसे आधुनिक अर्थमें वाक्य कहा जाता है, उसमें इसकी प्रतीति नहीं हो सकती, अतः 'वाक्यं रसात्मक काव्यं'में वाक्यको विश्वनाथके शास्त्रीय अर्थमें ही लेना पड़ेगा। रसानुभूतिका आधार जहाँ एक ओर संस्कार रूप संस्थित वासना है, वहाँ दूसरी ओर सहृदयकी चमत्कृत हो सकनेकी क्षमता भी। इस प्रकार रस-बोध प्रत्येक व्यक्तिमें समानरूपसे नहीं होता बल्कि अनेक व्यक्तियोंको रस-बोध होता है, इसमें भी सन्देह है। 'ब्रह्मानन्दका अनुभव विरले योगिराज ही कर सकते हैं उसी प्रकार रसका आस्वादन भी सहृदय जन ही कर सकते हैं।'* [पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रस सन्ततिम्]। संस्कार रूप-वासना प्रत्येक मनुष्यमें होती है, यह कोई आवश्यक नहीं कि सभी मनोविकार समान रूपसे हों। सहजवृत्ति मानवीय विकारोंकी परम्पराका फल है इन सहज वृत्तियोंके आधारपर ही अनुभूति टिकती है। वासनाके स्थित रहने-पर भी चमत्कृत होनेकी शक्ति अपेक्षित है। चमत्कारके ही साथ रसकी प्रतीति होती है अन्यथा प्रेम, शोक आदि मनोविकारोंकी संभावनासे ही रसानु-भूति हो जाती। रस-सम्प्रदाय दोषका मूल आधार यही है, कारण मनोविकार द्वारा किसी प्रकारका चमत्कार उत्पन्न नहीं होता। गीति-काव्यमें व्यक्तिगत अनु-

* काव्य कल्पद्रुम (प्रथम भाग) पृ० १३६

के लिए इसी चमत्कारकी आवश्यकता है यद्यपि इसका प्रयोग 'विस्मय'के अर्थमें नहीं हुआ है। पर चमत्कार, शब्दगत, अर्थगत, शब्दार्थगत और सम्पूर्ण वाक्य (शास्त्रीय अर्थमें)–गत हो सकता है। एककी प्रधानतासे उसी प्रधान वस्तुके अनुसार नामकरण किया जा सकता है। शब्द-चमत्कार नादात्मक है। संगीतमें यह चमत्कार गायककी कुशलतापर निर्भर करता है। शब्दोंका नाद इस प्रकारका होता है कि शब्द झंकृत मालूम पड़ते हैं और सुनायी पड़नेके बाद भी उनकी गूँज कानोंमें बनो रहती है। अर्थगत चमत्कार सहृदयको इस मनोदशामें ला देता है जिसमें वाक्यगत चमत्कार उसकी पूर्ण मानसिक वृत्तिको आक्रान्त कर सके। यह चमत्कारका व्यावहारिक दृष्टिकोणसे विश्लेषण है, मैं इसे स्पष्ट रूपसे स्वीकार करूँगा कि उच्चकोटिके गीति-काव्यमें इनका प्रभाव भिन्न-भिन्न न पड़कर एक साथ पड़ता है, और यह अन्य काव्यके लिए भी उतना ही सत्य है। रसानुभूतिका मूल तत्त्व यही है। काव्यमें व्यापक प्रभावका कारण भिन्न-भिन्न प्रकारके मानसिक विम्बोंका समन्वय है। शब्दोंकी आवृत्ति द्वारा चाक्षुण और शब्दोंके नाद द्वारा श्राव्य मूर्त्त-विधान होता है; अतः इन दोनों विम्बोंका समन्वय काव्यको नवीन उत्तेजना देता है।

सौन्दर्यिक कल्पना और सौन्दर्य-बोध

सौन्दर्य जैसे पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग अनेक स्थानोंपर हुआ है, अतः इसकी विवेचना अध्ययनके लिए उपयोगी सिद्ध होगी। सौन्दर्यके सम्बन्धमें मैंने 'कलाका मूल्याङ्कन' शीर्षक निबन्धमें लिखा है—

"सौन्दर्य क्या निरपेक्ष है? सौन्दर्य-बोधको विज्ञानके क्षेत्रमें प्रवेश दिलानेवाले क्रोसेके अनुसार, राग-द्वेषात्मक, सुख-दुःखात्मक अनुभूतिके

अतिरिक्त सौन्दर्य-बोधकी अनुभूति मनुष्यमें है। कलावादी सत्य और शिवको परे खींचकर सौन्दर्यको समक्ष उपस्थित करता है। प्रश्न यह नहीं कि मनुष्यमें सौन्दर्य-बोध है अथवा नहीं; अथवा सौन्दर्य-विषयक स्वतन्त्र सहज-ज्ञान उसमें है अथवा नहीं, बल्कि यह है कि अन्य अनुभूतिके अन्तर्गत इसकी अन्तर्भावना है अथवा नहीं; एवं इसकी स्वतन्त्र स्थितिकी सम्भावना है क्या? अथवा इस प्रश्नको इस प्रकार भी उपस्थित किया जा सकता है कि सौन्दर्य साधन है अथवा साध्य? सौन्दर्यकी हेतुक वासना अथवा अन्यथा है। उषाका स्वर्णिम हास, ज्योत्स्नाका रजत-विलास, निर्झरीका उन्मुक्त संगीत अथवा रूपसीके विह्वल अंग-विलासमें सौन्दर्यकी भावना आनन्दोद्रेकका आधार है, सौन्दर्यके सहज-बोधके आधारपर टिकी सौन्दर्यानुभूतिमें स्थायित्व नहीं (किसी भी प्रकारकी अनुभूतिमें स्थायित्व नहीं); चिन्तन और कल्पनाके द्वारा ही आनन्दोपलब्धि सम्भव है, और इसे ही संस्कृत साहित्य-शास्त्री 'चर्वण' कहते हैं और वर्डस्वर्थका Recollection in tranquility सम्भव है, इसके साथ व्यक्तिकी निजी अनुभूति सम्बद्ध है, जिसके कारण सौन्दर्यानुभूतिमें तीव्रता आती है। सौन्दर्यानुभूतिके निरपेक्ष सिद्धान्तको स्वीकार करनेमें हमें किसी प्रकारकी द्विधा नहीं होती, यदि सौन्दर्यकी स्थिर भावना होती और सुन्दर कही जानेवाली वस्तुसे सभीको समान रूपसे अनुभूति होती। देश-काल-पात्रकी विभिन्नतासे सौन्दर्य-भावनामें अन्तर होता है।" सौन्दर्यकी स्थिर भावनाके अभावमें भी सौन्दर्य-बोध स्वतन्त्ररूप रख सकता था किन्तु "सौन्दर्यानुभूति वस्तुतः रसानुभूति और आनन्दानुभूतिका मूल है; इस आनन्दानुभूतिका विश्लेषण हमें करना पड़ेगा। आनन्द मनकी एक अवस्थामात्र है। आनन्दको उच्च और निम्न श्रेणीमें विभाजित करनेका कारण आनन्दकी मात्रा एवं गहराई नहीं,

उसके गुण नहीं, बल्कि 'नैतिक तत्त्वोंका आगम है। नैतिकताकी भावनामें सामाजिकताका आरोप है। सामाजिक भावनाएँ, जो राजीनतिक, धार्मिक, आर्थिक कारणोंसे उत्पन्न हुई हैं, नैतिकताको ऊपरी सतहपर लाती हैं। इस प्रकार आनन्दानुभूतिका विचार करते समय पात्र विशेषकी स्थिति —दिक् और काल—का ज्ञान आवश्यक होगा। आनन्दानुभूति मनुष्यकी चेतनाका फल है और स्वयं चेतनाकी सृष्टि स्वच्छन्द और अनियन्त्रित नहीं।"* इस प्रकार सौन्दर्य-बोध किसी भिन्न रूपमें सामने नहीं आता। सौन्दर्य-बोध और सौन्दर्य-भोग दोनों एक ही नहीं हैं। भोगके क्षणोंमें वृत्तिकी एकाग्रता सौन्दर्यके स्वरूप-निरूपण अथवा व्याख्या एवं रसानुभूति नहीं होती। भोगके क्षणोंका आनन्द मानसिक कम शारीरिक अधिक है। शारीरिक tension तनावके शिथिल होनेके कारण शिथिलताजन्य आनन्द एक और ही प्रकार है। कल्पना-जगत्में सम्भोगेच्छाकी सम्पूर्तिमें कायिक उपस्थितिकी परिकल्पना एवं उस प्रकार उस तनावमें शिथिलीकरणका सन्निवेश हो जाता है। किसी वस्तुमें सौन्दर्य है इसका केवल इतना ही अर्थ है कि उस वस्तु-विशेष द्वारा हमारी सौन्दर्यात्मक वृत्तियाँ परितुष्ट होती हैं। सौन्दर्य विषय और द्रष्टाके सम्बन्धपर निर्भर करता है। निराकार सौन्दर्यकी कल्पना भी सम्भव नहीं। रागात्मक आवेश आनेपर ही सौन्दर्यकी कल्पना सम्भव हो सकती है। इस प्रकार गीति-काव्यमें सौन्दर्य-बोधका आधार इतना ही है कि मानवीय सौन्दर्य-वृत्तिकी परितुष्टि इसीके द्वारा होती है। गीति-काव्यका विधान सौन्दर्यिक है; किन्तु इस सौन्दर्य शब्दका प्रयोग इसके व्यापक रूपमें हुआ है। सौन्दर्य केवल शिल्पमें ही नहीं; बल्कि शब्द, संगीत, अर्थ, भावना आदि सभी स्थलोंमें है और इसे प्रत्यक्ष करना गीतिकारका लक्ष्य है। कलाकार

---

* [illegible] (प्रथम संख्या) पृ० २२

और साधारण व्यक्तिमें मात्र इतना अन्तर होता है कि कलाकार वस्तुके अन्तर्निहित सौन्दर्यको परख लेता है और उसे जन-साधारणके समक्ष उपस्थित करता है, उस समय पाठक अथवा दर्शक चमत्कृत हो उठता है और सहसा बोल उठता है, 'अरे यह सौन्दर्य तो मैंने देखा न था !' इस प्रकार सहृदय और सौन्दर्य-बोधके बीच कलाकार माध्यम बन जाता है। सौन्दर्य-बोधकी सहज-वृत्ति और सौन्दर्यसे प्रभावित होनेकी क्षमताके अभावमें किसी सौन्दर्यका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। साधारण भाषामें जिसे लोग कलाकारकी अभिनव सौन्दर्य-रचना कहकर प्रशंसा और स्तवनका ढेर लगा देते हैं, वह वास्तवमें उस वस्तुके अन्तर्निहित सौन्दर्य-का आत्मनिष्ठ प्रत्यक्षीकरण है, कारण सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ नहीं, नितान्त आत्मनिष्ठ भी तो नहीं ; किन्तु दोनोंकी प्रवृत्तिके सामञ्जस्यके कारण है। इस प्रकारका निरूपण भी सौन्दर्यिक कल्पनाके अभावमें नहीं हो सकता। कला विषयको रहस्यात्मकता प्रदान करती है, रहस्यात्मकता शब्दका प्रयोग यहाँ रहस्यवादिताके अर्थमें नहीं हुआ है। रहस्यात्मकता प्रदान करनेका यह अर्थ होता है कि कला-विषयको apprehend अनुमित करना होता है। इतिहास जहाँ तथ्यका वर्णन कर चुप हो जाता है, कला सत्याभास उत्पन्न करती है। इस प्रकारके सत्याभासके मूलमें वही सौन्दर्यिक कल्पना है। गीति-काव्य अनुभूति और अभिव्यञ्जना-प्रधान है ; आनन्दानुभूतिका आधार अभिव्यक्तिके चमत्कारमें है और चमत्कार सौन्दर्यका आधार है; जो साधारण है, सामान्य है, उसमें सौन्दर्य नहीं ; बल्कि सौन्दर्यकी स्थिति इस जन-रुचिसे भिन्न रहती है जो साधारण नहीं, जो सामान्य नहीं, वह सुन्दर है। सौन्दर्य-बोध चेतनागत आकांक्षाकी सम्पूर्ति और रागात्मक अनुभूतिके आधारपर होता है। 'Beauty is truth and truth beauty' 'सत्य सौन्दर्य है, और सौन्दर्य

संसारका प्रकाश स्वप्न-लोकके अन्धकारका कारण बन जाता है। यहाँ प्रभाव वैपरीत्यके कारण है। इस प्रकार गीति-काव्यकी परिणति रागात्मक आवेशकी अन्वितिमें है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित गीति-काव्य-मेंसे अधिकांशमें इन अन्वितिपर ध्यान नहीं रखा जा सकता।

गीति-काव्यकी अनिवार्य प्रकृतिका सम्बन्ध अतः कविकी अन्तर्वृत्ति, अथवा आकांक्षासे है। कवि अपनी अन्तर्वृति रागात्मक अनुभूति एवं कल्पनाके सहारे विषय अथवा वस्तुको आदर्श, मुझे भावात्मक कहना चाहिये, बना देता है। वस्तुकी निरपेक्ष अपेक्षा कभी जीवनमें नहीं, आवश्यकता एवं पूर्तिकी सम्भावनाकी मात्राके अनुसार वस्तुका मूल्य है। भावनाओं एवं विचारोंके सम्बन्धमें भी यह कथन उपयुक्त है। ऐसी अवस्थामें विषयका महत्त्व कविकी भावनाका माध्यम बननेमें है। विषयकी अन्तर्भूत भावनाके दर्शनके लिए सूक्ष्म दृष्टिकी आवश्यकता है, किन्तु इस सम्बन्धमें सदा स्मरण रखने योग्य है कि वस्तुसे अनुभूतिकी ओर नहीं बल्कि कवि अनुभूतिके अनुरूप विषय चुनता है। प्रकृतिके विशाल प्राङ्गणमें अनेक उपकरण हैं, उसके सामने सारा संसार फैला है, उसकी दृष्टि इस विस्तृत भूमिकाकी किसी एक विशिष्ट वस्तुपर अटक जाती है, और उसकी अन्तर्वृत्तिको अभिव्यञ्जनाके लिए एक माध्यम मिल जाता है। यही कारण है कि एक ही वस्तुसे विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। गोपालके विरहमें आनन्ददायिनी कुञ्जें 'बैरिन' हो जाती हैं। जल-धर जहाँ मिलनके क्षणोंमें आनन्दाश्रु बहाते हैं, वहाँ वियोगके क्षणोंमें अग्नि-वर्षा करते हैं, अतः स्पष्टतया कवि अपनी अनुभूति और भावनाके अनुरूप विषयको रँग देता है, ऐसी अवस्थामें आकर बाह्य, उत्तेजना—जी चाहे विषय कहिये—के साथ कविकी अन्तर्वृत्ति अभिन्न हो जाती है, वह उस तादात्म्यको प्राप्त कर लेता है जिसके कारण विषय और द्रष्टामें अन्तर नहीं रह जाता, जहाँ गायक

और गेय एकाकार, एकात्म हो जाते हैं। गीति-काव्यकी पूर्णता और सफलताका यही रहस्य है। जहाँ कवि विषयके साथ तादात्म्यका अनुभव नहीं करता, वहाँ गीतिकाव्य नहीं हो सकता, और किसी दूसरे काव्यकी रचना चाहे वह कर ले। गीति-काव्यकी सफलताका रहस्य जैसा मैंने ऊपर लिखा है, अनुभूतिकी अन्वितिमें है, अतः अन्तर्द्वन्द्वका रूप इसमें प्रकट नहीं हो सकता। अन्तर्द्वन्द्वमें भावनाका भावनाके साथ द्वन्द्व है। भ्रम वश मनुष्य अपनेमें एक ही व्यक्तित्व मानता है, जिसे हम अन्तरात्मा कहते हैं, वह भिन्न व्यक्तित्वका सूचक है। अन्तर्द्वन्द्वमें अन्तरात्मा, या संस्कार अन्य-भावनाका विरोध करता है। अन्तरात्मा संस्कारका फल है। नाटकमें इस अन्तर्द्वन्द्वका प्रमुख स्थान है। वहिर्द्वन्द्वको उसकी पीठिकाके रूपमें होना चाहिए अतः नाटक, उपन्यास अथवा महाकाव्यमें इस सङ्घर्षका स्थान प्रमुख है बल्कि सङ्घर्षके अभावमें इनमेंसे कोई टिक नहीं सकता। गीति-काव्य सङ्घर्षको नहीं समन्वय और सन्तुलनको देखता है, विज्ञान और काव्य-में उद्देश्य लेकर विरोध नहीं बल्कि पद्धतियोंका विरोध है। गीति-काव्य कविताकी कविता है, इसलिए इसमें अन्तर्द्वन्द्वकी अभिव्यञ्जना नहीं बल्कि भावनाके सामञ्जस्यका रूप उपस्थित होता है, रागात्मक उत्तेजना अथवा प्रेरणाके समय उसकी मीमांसाका समय नहीं रहता, ऐसी अवस्थामें भाव-नाओंके सङ्घर्षका अवसर कहाँ ?

गीतिकार आवेशके क्षणोंको वाणी देता है; आवेशके क्षण स्थाय नहीं; आभ्यासगत जीवनमें ऐसे क्षणोंका ही मूल्य है। ऐसे क्षण जीवन इसलिए आ पाते हैं कि मानसिक स्थिति प्रभावित होनेके लिए तैयार ? शान्त ज्वालामुखी पर्वत हलके कम्पनके द्वारा विक्षुब्ध हो उठता है र उसका विस्फोट समीपस्थ स्थानको आक्रान्त कर उठता है ; वहाँ ज्वाला उसे उभाड़नेके लिए एक मधुर स्पर्श मात्रकी अपेक्षा थी, क

मानसिक स्थिति उस रूपमें रहती है। वैसी अवस्थामें कविकी अनुभूति पूर्ण-तया आत्मनिष्ठ है और एकान्तिक है। ऐसी अवस्थामें पाठक या श्रोतापर पड़नेवाले प्रभावका कारण क्या है ? साहित्य-शास्त्रके अनुसार काव्यके व्यापक प्रभावका कारण साधारणीकरण द्वारा अनुभूति अथवा भावनाको व्यक्ति-विशेषका न बना, अधिक-से-अधिक लोगोंका बनाना है। दोनोंमें यहाँ विरोध नहीं विरोधाभास मात्र है। साधारणीकरण द्वारा कवि अपनी भावनाको विस्तृत क्षेत्र देता है, गीति-काव्यमें, अन्य उपकरणोंसे प्रभविष्णुता मिलनेपर भी प्रभावका कारण रागात्मक आवेशकी अक्षुण्णताके साथ उसका सामान्य रूप ही है। अनुभूति वैयक्तिक होकर भी सहृदयकी है। प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, शोकके कारणोंमे भिन्नता होती है, अनुभूतिमें अन्तर रहता है किन्तु सामान्य धर्मके कारण अनुभूतिमें एकात्मभाव भी है। पाठक वहाँ दूसरेके प्रेम-व्यापारके कारण प्रभावित नहीं होता बल्कि कवि-द्वारा वर्णित विषय उपलक्ष्य मात्र हो जाता है और स्वयं उसकी अनुभूति आ जुटती है। इस प्रकार गीति-काव्यमें सामान्यको विशेष और विशेषको सामान्य रूप प्राप्त होता है।

विधान

कला अभिव्यक्ति है, मानवीय आकांक्षाओं, स्वप्नों और विचारोंकी अभिव्यक्ति है। माध्यमके कारण इस अभिव्यञ्जनाकी अपनी सीमाएँ हैं, जहाँ विषयको अभिव्यक्ति प्राप्त होकर विस्तार पानेका अवसर मिलता है, वहाँ उसे सीमाओंकी परिधिमे सिमटना भी पड़ता है। सीमाका बन्धन अङ्ग-सङ्कोचका कारण बन जाता है। विचार एवं अनुभूतिके सौन्दर्य और चमत्कारके लिए उसकी संवेदनशीलता और प्रभविष्णुताके लिए, इस सीमा-का विस्तार नहीं बल्कि इनसे स्वतन्त्रता अपेक्षित होती है। विचारोंके लिए अतः कल्पना और सहानुभूति ही नहीं उनके उपयुक्त शब्द चमत्कार एवं

नाद-सौन्दर्यकी भी अपेक्षा है। यह विषय काव्य-विधानके अन्तर्गत आता है। भावना और विधानके सम्बन्धकी विस्तृत परीक्षा यहाँ अपेक्षित नहीं। छन्दोंके विरुद्ध हिन्दीमें एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, इस विवादका इतिहास भी हमारे अध्ययनके लिए आवश्यक नहीं। यहाँ इतना निर्देश कर देना आवश्यक है कि छन्द ही विधान नहीं है, यद्यपि उसका एक अङ्ग अवश्य है। विषय (matter) और विधान (form) के रूपमें काव्य अथवा साहित्यके दर्शन उसकी शव-परीक्षा है। किसी भावना अथवा विचारकी सफल अभिव्यञ्जनाके लिए एक ही विधान हो सकता है। काव्य, क्योंकि यह कला है, अभिव्यक्ति है, और सहृदयके सामने अभिव्यक्ति ही रहती है। ऐसी अवस्थामें विधान विषयका अविच्छेद्य अङ्ग है यद्यपि इस रूपमें काव्यकी परीक्षाकी चेष्टाएँ सदासे होती रही हैं। जिस प्रकार विचार अथवा विधानके अभावमें अभिव्यक्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार अभिव्यक्तिके अभावमें विचार या भावनाको विस्तार नहीं मिल सकता और न वह कलाका विषय बन सकती है। विधानका चुनाव जहाँ कविको क्षमता देता है, वहाँ छन्द-निर्माता अथवा पद्यकारकी राहमें रोड़ा अटकाता है। विधानके स्वरूप द्वारा ही अनेक अंशोंमें कवि अथवा पद्यकारका अन्तर ज्ञात होता है। अनुभूतिकी तीव्रतामें चाहे अन्तर हो किन्तु अनुभूति सभीमें होती है। पद्यकार जहाँ अपनी उस भावनाके अनुरूप परिस्थिति और विधान नहीं चुन पाता वहाँ कवि, सच्चे अर्थोंवाला कवि—उस अनुभूति अथवा भावनाको साकार बना देता है। किसी गीति-कारकी विशेषता जाननेके लिए उसके सामान्य गुणोंकी नहीं बल्कि सामान्यके अतिरिक्त उनकी विशिष्टताकी जानकारी चाहिए। व्यक्तिगत परिस्थिति और संस्कार विषयको भिन्न रूप देते हैं और विभिन्न रूपोंके द्वारा कविकी अन्तर्वृत्तिका परिचय मिल सकता है। पन्तकी मधुर, कोमल, संयत शब्दावली और नाद-

सौन्दर्यके द्वारा, जीवन-चरित्रसे अपरिचित रहनेपर भी आन्तरिक कोमलताकी सूचना मिलती है। 'परिवर्तन' नामक कवितामें पन्त नया दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं। प्रगतिशील कही जानेवाली कविताओंमें पुरातन संस्कृति, परम्परा और विचारोंके विरुद्ध उग्र विचार प्रकट किये गये हैं, वहाँ भी पंत-की कोमलता परिलक्षित है। 'ज्योत्स्ना' के गीतोंमें पन्तका सहज, सुकुमार और कोमल व्यक्तित्व फूट पड़ा है।

जगमग-जगमग, हम जगका मग,
ज्योतित प्रतिपग करते जगमग।
हम ज्योति-शलभ, हम कोमल-प्रभ,
हम सहज सुलभ दीपोंके नभ!
चञ्चल चञ्चल, झुक झुक, जल-जल,
शिशु उर पल-पल, हरते छल-छल!

—पन्त

निरालाका भाषा-प्रवाह परुषता लेकर चलता है, उसमें पन्तकी नारी-सुलभ कोमलता, सौन्दर्य और माधुर्य नहीं। स्वतन्त्र बौद्धिक चेतनासे सजग, सहज किन्तु दृढ़ व्यक्तित्वकी छाप शब्दावली और नाद-सौन्दर्यपर है। दार्शनिकताका आग्रह जहाँ उसमें परुषता उत्पन्न करता है, वहाँ जीवनमें सहज सहानुभूतिका उद्रेक भी करता है। शब्द-चयन स्पष्ट रूपसे निरालाके निर्भीक व्यक्तित्वकी सूचना देता है। पन्तजीके शब्द घिस घिसाकर शालिग्राम बनकर निकलते हैं। पन्तकी भाषामें शरत्कालीन गंगाकी स्निग्ध धारा 'शान्त स्निग्ध' है, जिसमें 'ग्रीष्म-विरल' 'श्रान्त, क्लान्त निश्चल' की-सी गति है। निरालामें 'निर्बन्ध, अन्धतम-अगम-अनर्गल' बादलकी गरज है और 'बाधारहित विराट्, विप्लवके प्लावन' की तीव्रता और गति है।

शब्द आपसमें टकराते आगे बढ़ते हैं, इस टकरके कारण जहाँ उनकी गति रुक-रुककर बढ़ती है वहाँ उनके प्राणवान जीवनकी सूचना भी देती है। निरालाकी भाषा प्राणवन्त, सतेज और प्रखर प्रवाहमय है।

झरझर निर्झर-गिरि-सरमें,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागरमें,
सरित-तड़ित गति-चकित पवनमें
मनमें, विजन-गहन-काननमें,
आनन, आननमें, रव-घोर कठोर—
राग अमर! अम्बरमें भर निज रोर!

—निराला

और महादेवी—

घुल गयी इन आँसुओंमें देव जाने कौन हाला।
झूमता है विश्व पी-पी घूमती नक्षत्र-माला!

× × ×

शिथिल चरणोंके थकित इन नुपूरोंकी करुण रुनझुन,
विरहका इतिहास कहती जो कभी पाते सुभग सुन!

इस शब्दावलीमें मधुर किन्तु करुण व्यक्तित्वका आभास मिलता है। 'जगमग-जगमग'के-से सुलभ सलज चाञ्चल्यकी 'शिथिल चरणोंके थकित' शिथिल गतिसे कोई तुलना नहीं; किन्तु महादेवीकी भाषाकी गतिमें 'निराला' के मेघोंका गुरु-गम्भीर गर्जन भी नहीं। विरहमें आँसुओंकी यमुना बहाने-वाली मीरा अथवा अन्य गोपियोंकी-सी अधीरता भी नहीं। निरालाका-सा स्वच्छन्द, और मुक्त प्रवाह भी नहीं। बौद्धिकता जैसे भावनाके साथ घुल-मिल गयी है। नाद-सौन्दर्य, शब्द-सौष्ठव, स्पष्ट सूचना देते हैं कि

महादेवी हमसे दूर हैं, वह अस्पष्ट छायात्मक रूप है, जिसक आभास तो हम पाते हैं किन्तु जिसे स्पर्श नहीं कर सकते। धुँधले, अ-स्पष्ट किन्तु करुण व्यक्तित्वकी छाप इस भाषामें मिलती है।

व्यक्तित्वका विषयके साथ अटूट सम्बन्ध है। मनुष्य अपनी भावना, अनुभूति और विचारोंमें जीवित रहता है। विषयकी प्रधानतामें व्यक्तित्व ही बीजरूपसे है। अभिव्यक्ति ही विषयको रूप देती है ऐसी अवस्थामें अभिव्यक्ति व्यक्तित्वका स्वरूप प्रकट करती है। इस रूपमें विषयको अभिव्यक्तिसे विच्छिन्न करके देखना अनुचित है। जो सामान्य तत्त्व है, उसे व्यक्तित्व नहीं कहा जा सकता है। जो असामान्य है, वही व्यक्तित्व है। प्रत्येक व्यक्तिका अपना भिन्न व्यक्तित्व है किन्तु उसका व्यक्तित्व पूर्णतया स्पष्ट हो, यह सम्भव नहीं। सामाजिकताके साथ व्यक्तित्वका परिपुष्ट रूप सामने रखनेमें ही कविकी सफलता होती है। छिछले व्यक्तित्वका कवि उच्छिष्ट वृत्तिसे काम चलाता है। ऐसी अवस्थामें हमारे लिए निर्णय करना कठिन होता है कि उसे कवि कहा जाय अथवा नहीं। काव्यत्वकी नकल सम्भव नहीं, कारण वह तो वैयक्तिक है अतः प्रभविष्णु कवियोंके विधानकी नकल, उसे ही प्रभावका कारण समझ, ऐसे लोग करने लगते हैं। आजकी व्यक्ति-प्रधान सभ्यता और संस्कृतिमें विभिन्न व्यक्तित्वका विस्तृत रूप मिलता है अतः छिछले कवियोंका सन्तोष केवल एककी नकलसे नहीं होता और वे कभी किसीके पास और कभी किसीके द्वारपर आ खड़े होते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शेली, कीट्स; पन्त, निराला और महादेवीकी छाप क्रमशः उनके भिन्न-भिन्न तथाकथित गीतोंमें उपस्थित होती है। यह निश्चित है कि सबमें समान शक्ति अथवा क्षमता नहीं होती; यह भी सम्भव नहीं कि सभी रवीन्द्रनाथ ठाकुर या निराला हो सकेंगे। कवि भी अपने युगकी देन है, वह समाज या युगको जो वरदान दे जाता है,

उसके मूलमें सामाजिक भावनाका विस्तृत किन्तु अस्पष्ट रूप मिलता है। साहित्य जहाँ समाजको प्रभावित करता है, वहाँ उसीसे जीवनी शक्ति और रस भी पाता है अतः विशिष्ट युगका प्रतिनिधित्व विशिष्ट ही व्यक्ति कर सकेंगे। कालिदासका युग रवीन्द्रनाथ नहीं पैदा कर सकता था और लाख चेष्टा कर आज कोई कालिदास नहीं हो सकता। युगकी चिन्ता-धारा, निरवधि काल तथा विपुला धरित्रीकी चिन्ता-धाराका विकसित रूप धर विशिष्ट रूप ग्रहण करती है। अतः चमत्कार एवं प्रभविष्णुताके लिए नकलकी नहीं अपितु स्वतन्त्र चेतना और व्यक्तित्वके विकासकी आवश्यकता है। नकल द्वारा अधिक-से-अधिक असलतक पहुँचा जा सकता है, नवीन और नूतन जीवनका संस्कार उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

आजका कवि शब्दोंकी महानताके सम्बन्धमें संशयालु है, वह शब्दोंको भावों और भावनाओंका बन्धन मानता है। मैं स्वयं मानता हूँ कि भावनाएँ शब्दोंकी सीमामें बँधकर मर जाती हैं, उनकी गति और गत्यात्मकता नष्ट हो जाती है किन्तु इसके साथ ही यह बन्धन उनके प्रभावका कारण है। यदि शब्दोंकी सीमा वे स्वीकार नहीं करतीं, क्षणिकताके चरम आवेशको विस्तार नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार भावनाओंकी अभिव्यक्तिके लिए उपयुक्त शब्दावलीकी आवश्यकता है उसी प्रकार विशिष्ट शब्दावलीमें ही विशिष्ट भावनाओंकी अभिव्यक्ति हो सकती है। शब्दोंकी भावनामें सूक्ष्म अन्तर होता है अतः कविका कार्य उपयुक्त शब्द-चयन है। अशक्त, अक्षम और अनुपयुक्त शब्दोंका प्रयोग कविके वैसे व्यक्तित्व और अनुभूतिकी सूचना देता है। काव्य अधिक अवस्थाओंमें अचेतन-क्रिया है, अचेतन-क्रियाका अर्थ यह नहीं कि कविकी चेतना काव्य-रचनाके समय सुप्त हो जाती है, बल्कि इसका अर्थ है कि कवि तत्कालीन चेतनामें इतना निमग्न हो जाता है कि उसकी अन्य चेतनाएँ उस समय लुप्त हो जाती हैं,

और वह उस समय आविष्ट-सा हो जाता है। आवेश-कालमें उसका व्यक्तित्व द्वन्द्वात्मक नहीं बल्कि पूर्णतया अन्वित और सन्तुलित है। ऐसी अवस्थाके चित्रमें शब्द और अर्थ-शक्तियोंकी विच्छिन्नता उसके आवेशके-क्षणोंका छिछलापन सिद्ध करता है, और यह भी सिद्ध करता है कि उस कविमें आवेशके क्षणोंका अभाव है अथवा उसकी शक्ति भावनाको अभिव्यञ्जित करनेकी शक्तिसे शून्य है, ऐसी अवस्थामें काव्य-रचनासे विमुख हो जाना ही उसके लिए श्रेयस्कर हो जाता है। यहाँ मैं शब्दको अर्थसे, भावना और अनुभूतिसे अधिक महत्त्व नहीं दे रहा हूँ बल्कि शब्दके महत्त्वका मूल भावनाकी अभिव्यञ्जनामें है ; यदि शब्द-शक्ति इतनी पर्याप्त न हो, अनुभूति स्वरूप ग्रहण न कर सकेगी ; अतः शब्दका महत्त्व कम नहीं हो सकता।

पाठककी कठिनाईके मूलमें भावकी अ स्पष्टता है। काव्यका आनन्द केवल नाद-सौन्दर्य, अलङ्कार-विधान, अर्थ गौरव, कल्पनाकी उड़ान, अनुभूतिकी गहराई आदिमें अलग-अलग नहीं, बल्कि इन सबका समाहित प्रभाव पाठक अथवा श्रोतापर पड़ता है। गीति-काव्यमें अनुभूतिके प्राधान्यपर जोर दिया गया है। अनुभूतिकी अभिव्यक्ति एवं अपने अन्य उद्देश्यकी पूर्तिके लिए कवि भावको मनमाना रूप दे सकता है और इस प्रकार अपनी अनुभूतिकी व्यञ्जना वह करता है। इसमें चातुर्यका वह अवलम्बन करता है, उसीपर पाठक और कविका सम्बन्ध निर्भर करता है। पाठक भावोंकी स्पष्टता चाहता है, और कवि चातुर्य द्वारा अपनी अनुभूतिको प्रभविष्णु बनाना चाहता है। यह कार्य सदा चेतन रूपमें नहीं होता, यह मानसिक प्रक्रिया अचेतन रूपमें चलती रहती है। कवि अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिए संगति(Coherence) का त्याग कर सकता है और अनियमित रूपमें उसकी भावना अभिव्यञ्जित होती है। पाठक इनका

तारतम्य जोड़ नहीं पाता जिससे कवि और पाठकमें व्यवधान उठ खड़ा होता है। शब्द-शक्ति और अर्थ-शक्तिका यह अर्थ नहीं कि छन्दको यदि गद्य रूपमें परिवर्त्तित कर दें, भाव स्पष्ट हो जाय। इस विषयमें कविको एक सीमातक स्वतन्त्रता मिलती है, यह स्वतन्त्रता पाठकका अमोघ अस्त्र और अ-कवि कविका आश्रय है। भाषा इस प्रकार कविकी क्षमता और सीमा दोनों है। काव्यमें प्रभावके लिए चमत्कारपूर्ण शब्द-योजनाका आश्रय कवि लेना चाहता है जिसे काव्यात्मक अभिव्यक्ति (poetic eapression) कहा जाता है। काव्यात्मक अभिव्यक्तिका साधारण अर्थ अलङ्कार-विधानसे लिया जाता है। यह स्पष्ट है कि अलङ्कारोंके समुचित प्रयोग द्वारा विषयके विशिष्ट पहलूकी ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है क्योंकि वे एकाङ्गी होते हैं तथा अलङ्कारोंके प्रयोग द्वारा नूतनता आती है किन्तु चमत्कार पूर्ण उक्ति वैचित्र्य केवल अलंकार-विधान तक सीमित नहीं रह सकता। उक्ति-वैचित्र्य द्वारा भी अर्थ स्पष्ट नहीं किया जा सकता। उक्ति-वैचित्र्यमें कविका ध्यान भाव, अर्थ अथवा अनुभूतिसे अधिक उक्ति-चमत्कारपर रहता है जिसमें अनुभूतिकी तीव्रताका अभाव-सा पाया जाता है। इस उक्ति-वैचित्र्य-में कविको अवकाश मिलना चाहिए जिसमें वह अपनी भावनाओंको उक्ति-के चमत्कारपूर्ण चौखटेमें 'फिट' कर सके।

भावना प्रवहमान प्रवाहकी भाँति है और कविता उस प्रवाहमें बाँध लगा नहर काटनेके कृत्रिम प्रयास जैसा। भाषाका अतः कृत्रिम बन्धन स्वीकार कर भावना अभिव्यक्त होती है, ऐसी अवस्थामें शब्दावली और उसका सामञ्जस्य केवल ऐसा नहीं होना चाहिए कि अर्थ स्पष्ट हो जाय बल्कि भावना अपनी सम्पूर्ण कल्पना-क्षमताके साथ सहसा प्रकाशित और चमत्कृत हो उठे। इस प्रकारके चमत्कार उत्पन्न करनेमें शब्दोंका विशिष्ट मिश्रण ही क्षम हो सकता है और इस क्षमताके सफल प्रयासमें ही

गीति-काव्यकी सफलता है। कथा प्रवाहके आग्रहके कारण प्रबन्ध-काव्यों-में शिथिल पंक्तियाँ भी खप जाती हैं, गीति-काव्यमें ऐसा सम्भव नहीं क्योंकि न तो इसमें कथा-प्रवाहके कारण वेग है और न कुछ पंक्तियोंके शिथिल होनेके कारण उनकी क्षतिपूर्ति अन्य पंक्तियोंके अधिक चमत्कृत होनेसे सम्भव है। गीतिकाव्यमें शब्द-चयनमें अधिक सावधानीकी आव-श्यकता पड़ती है। जिस प्रकार कुशल गायकका मादक और मधुर प्रभाव मनको अधिक देरतक प्रभावित करता है, उसी प्रकार शब्दोंकी झंकार गूँजती रहनी चाहिए। यह नादात्मक सौन्दर्य गीतिकाव्यमें अभिव्यक्ति भावना को तरलता और माधुर्यको विस्तार देता है। महादेवीके इस नादा-त्मक सौन्दर्यमें मन्द्र, मधुर वेग है और निरालामें तेज किन्तु रुक-रुककर आगे बढ़नेवाला वेग है किन्तु कोई बाधा उसे रोक नहीं पाती। बच्चनमें यह वेग तीव्र और अविच्छिन्न है, भाषा बच्चनके लिए व्यवधान नहीं. भावना जैसे स्वर आगे बढ़ती जाती है, भाषा न तो उसके वेगमें व्यव-धान डालती है और न उसे प्रभावित करती है। दिनकरकी भाषामें यह सहज प्रवाह नहीं, किन्तु निराला जैसा रुक-रुककर बढ़नेवाला वेग भी नहीं, महादेवीकी मन्द्र मधुर सहज स्वाभाविकता भी नहीं। जान पड़ता है, कवि भावनाओंके लिए माध्यम ढूँढ़ रहा है, स्पष्ट है कवि भावनासे अधिक विचारोंकी ओर ध्यान दे रहा है। विचार जहाँ स्वानुभूति और भावनाके पीछे-पीछे चलता है, वहाँ सहज मधुर गति आ जाती है। नेपालीके नाद-सौन्दर्यमें पहाड़ी झरनेका झर-नाद है किन्तु स्वाभाविक गति भी है। शब्द-शक्तिसे अनजान कवि जब भाषाके साथ खिलवाड़ करने लगते हैं, कवित्वके प्राण काँपने लगते हैं।

कोयल, दुहरे स्वर मत छेड़!
आः, मनके सुधि व्रण न कुरेद!

'सुधि'के बाद 'व्रण'के 'व्र' पर पहुँचनेपर मालूम पड़ता है, जैसे सहसा गति रुक गयी और 'न'के बाद 'कु'में इतनी तीव्रता आ जाती है कि यह नादात्मक विधान भावनाको जागरित नहीं कर पाता बल्कि शब्द-झङ्कारके कारण विचारोंकी ओर ध्यान लगा देता है, जहाँ, अतः, रागात्मक आवेश प्राप्त होना चाहिये वहाँ सुधि-व्रणके रूपकत्वपर हमारा ध्यान पहुँच जाता है। भाव-सामञ्जस्यमें किसी प्रकार व्यवधान न आनेपर भी अनुभूतिको तादात्म्यकी प्राप्ति नहीं हो पाती। रीतिकी जो प्रतिष्ठा संस्कृत साहित्यमें प्राप्त है — जिसे किसी-किसी साहित्य-शास्त्रीने काव्यकी आत्मातक मान लिया है (रीतिरात्माकाव्यस्य काव्यालङ्कार सूत्र) उसके मूलमें नाद-सौन्दर्यका वही महत्त्व है क्योंकि विशिष्ट पद-रचना को रीति (विशिष्टपद-रचना रीतिः) कहते हैं।

शब्द-सौन्दर्यके साथ हमें छन्दका विचार करना पड़ता है। छन्द-विधान बाह्य स्वरैक्य और स्वर-तारतम्यकी रक्षाके लिए स्वीकृत था। भाषा जिस प्रकार भावनाको कृत्रिमताके बन्धनमें बाँधती है, उसी प्रकार छन्द कविताके लिए बन्धन है। काव्य और पद्य, कविता और छन्दका अन्तर साधारण पाठक नहीं समझ पाता। स्कूली दिनोंसे छन्दबद्ध रचनाको ही कविताकी संज्ञा पाते सुन उसकी धारणा छन्दको ही कविता मान बैठती है। शृङ्गार-कालमें कवित्त और सवैया कवियोंके कण्ठहार बने रहे, दोहा-का भी कम आदर नहीं था। कविताके प्राण इस बन्धनमें छटपटाने लगे और कवियोंने इस सम्बन्धमें प्रयोग किया। वाल्ट विटमैनने इस दिशामें अधिक प्रयास किया और फल-स्वरूप 'मुक्त काव्य' (free verse)-का श्रीगणेश हुआ। 'मुक्त काव्य' और 'मुक्तक' में कोई समानता नहीं। 'मुक्त काव्य' छन्द-बन्धनको अमान्य कर चलता है और 'मुक्तक' छन्द-बन्धन स्वीकार करता है केवल अपने साथके किसी अन्य पद्यसे वह अपनी

मुक्ति घोषित करता है। 'मुक्तक' और गीति-काव्यमें पर्याप्त अन्तर है। गीति-काव्य समाहित प्रभाव उत्पन्न करता है और मुक्तकोंमें छन्द निरपेक्ष हैं और सभी अपने प्रभावके क्षेत्रमें पूर्ण स्वतन्त्र। रवीन्द्रके द्वारा बंगलामें 'मुक्त काव्य'का प्रवेश हो चला था। अंग्रेजीके प्रभावके लक्षण भी प्राप्त हैं। हिन्दी-कविताको परम्परा-भुक्त छन्द-बन्धनसे मुक्ति देनेका श्रेय निराला को है। इस मुक्त काव्यने अन्तरैक्य और आन्तरिक स्वर-सामञ्जस्यका आग्रह लेकर काव्य-क्षेत्रमें प्रवेश किया। गीति-काव्यमें छन्दबद्ध और मुक्त दोनों प्रकारके काव्य-विधान पाये जाते हैं। मुक्त काव्यमें भी प्राचीन छन्दोंके भग्नावशेष मिलते हैं। संस्कार (Pattern) प्राचीन है, केवल योजना नवीन है। परम्परासे आते छन्दोंमें विस्तार और सङ्कोचके द्वारा नव-विधान-का भी प्रयास देखा जाता है। इसके साथ ही मिश्र छन्दोंकी सृष्टि भी हो रही थी। मिश्र छन्दोंमें विभिन्न छन्दोंके चरणोंका समन्वय प्रकट किया जाता है। 'मुक्त काव्य'-गत गीति-प्रभावकी अभिव्यञ्जनामें निरालाको सफलता मिली किन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि छन्द-बन्धनके द्वारा लयात्मक प्रभविष्णुताकी मात्रा बढ़ जाती है। तुकके कारण मालूम होता है जैसे कोई 'सम' पर आ गया हो। अन्त्यानुप्रासके प्रभावका कारण समत्व ही है यदि इस 'समत्व' से पदको स्वतन्त्र रखा जाय तो अन्त्यानुप्रासका जोर कम हो जाता है। गीति-काव्यमें छन्द और भाषाका भावना और अनुभूतिके साथ लयात्मक समन्वय अपेक्षित होता है। 'मूड' के साथ छन्दके लयात्मक सम्बन्धका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। सतेज और उन्मुक्त भावनाके लिए—जिसमें चित्त-विकासका माधुर्य और विस्तार है, प्रवाहशील छन्दकी आवश्यकता है और गम्भीर, विवेकशील एवं विषादपूर्ण भावनाके लिए मन्द गतिसे पूर्ण छन्दकी। इनके विभिन्न मिश्रणद्वारा भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियोंकी सूचना मिलती है। अनुभूतिकी तीव्रताकी निर्देशिका अवयव-जन्य

विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। मनोविकारोंसे रक्त-सञ्चालन क्रियामें तीव्रता और मन्दता आती रहती है। विभिन्न मानसिक स्थितिकी सूचना विभिन्न आंगिक विकारों द्वारा मिलती है उसी प्रकार लयात्मक उत्तेजना और आवेशके द्वारा अर्थ नहीं समझ पानेपर भी मनोवृत्तिकी सूचना मिलनी चाहिए। गीति-काव्यमें बुद्धि-तत्त्वका अभाव नहीं होता, होना भी नहीं चाहिए, अनुभूति और भावनाकी प्रधानता होती है, जिसकी सूचना नाद-विधान और छन्दकी गतिसे मिलनी चाहिए। जहाँ वृत्ति और छन्दकी गतिमें सामञ्जस्य नहीं होता गीति-कविता अपने आदर्शसे गिर जाती है। छन्द-विधान अतः गीति-काव्यकी रीढ़-सी है। बच्चनके छन्दोंमें अनुभूतिके विस्तारको सहज सुलभ माध्यम प्राप्त है और निरालामें शक्ति, पन्तमें माधुर्य है और मात्रा-विशेषमें इनका मिश्रण अन्य कवियोंमें प्राप्त है। मन्दाक्रान्ताकी गति विप्रलम्भ शृङ्गारके लिए अधिक उपयुक्त है। कवित्त और सवैया छन्द शृङ्गार और नीतिके वर्णनके अद्वितीय माध्यम रहे। मुक्त छन्दका आधार कवित्त छन्द अनेक अवस्थामें है अन्त्यानुप्रासहीन ; अथवा तुकें चरणको छिन्न-भिन्न कर इतनी दूर रख दी गयी हैं कि अन्त्यानुप्रासहीनताका बोध होता है किन्तु पढ़नेके समय स्वाभाविक विराम उन्हीं 'स्थलों'पर पड़नेके कारण कानोंमें खटक नहीं मालूम पड़ती। महादेवीके छन्दोंकी गति करुण, विषाद पूर्ण किन्तु आशासम्वलित भावनाके उपयुक्त है और पन्तकी उल्लासपूर्ण भावोन्मेषके उपयुक्त। पन्तकी करुण पंक्तियोंमें क्षोभ है, चञ्चलता है; महादेवी-जैसी मन्दता और स्निग्ध प्रवाह नहीं। भगवतीचरण वर्मा प्रत्येक वस्तुको गति और परिवर्त्तन-शील मानते हैं, प्रेमको भी, आनन्दको भी। यह क्षणिकवाद जीवनको विशिष्ट गति देता है और भावोन्मेषकी यह गति उनके छन्दको मुक्त प्रवाह। रामकुमार वर्मामें विस्मयका आग्रह है और उनके छन्द उत्साह और जिज्ञासाकी गतिका अनुसरण करते हैं। दिनकरके छन्दोंकी कोई स्पष्ट

[illegible] नहीं। [illegible] है, [illegible] दिन-[illegible] मनस्थितिमें [illegible] अवस्थामें आ जाते हैं। इसीलिए गीतोंके छन्दकी द्रुतगति [illegible] अनुरूप [illegible] दी है, [illegible] भावनाके विस्तार और [illegible] मानसिक दशाकी अभिव्यक्ति [illegible] [illegible] ही इसमें [illegible] पाया जा सकता है। अतः, विचार अथवा [illegible] विभिन्न [illegible] नवीन प्रभाव उत्पन्न होता है।

अन्य कलाओंकी भाँति काव्य भी एक कला है। कलामें स्वानुभूतिका आवश्यक अभिव्यक्तिका साधन नहीं, कारण अभिव्यक्ति द्वारा ही अनुभूति स्वरूप ग्रहण करती है; जिस प्रकार चित्रके लिए चित्र-पट और रंग, मूर्ति-कलाके लिए प्रस्तर-खण्ड उसी प्रकार गीति-काव्यमें गति और नाद-सौन्दर्य-की अपेक्षा है। एक ही गीतमें छन्द-परिवर्तनके कारण स्वानुभूति प्रकाश और स्वानुभूतिमें व्यवधान पड़ता है। एक ही प्रकारके छन्द विधानके भीतर [illegible] प्रदर्शित प्रभावकी तीव्रता अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। छन्द-की गतिमें मानसिक स्थितिमें परिवर्तन हो जाता है। वौद्धिक कवितामें इस प्रकार छन्द-परिवर्तन नये विचार या भावको ग्रहण करनेके लिए पाठककी मनोवृत्तिको तैयार करता है। गीति-काव्यमें अनुभूतिकी अन्विति और एकात्मकता आग्रह है। ऐसी अवस्थामें छन्द परिवर्तनके कारण विभिन्न प्रभाव पड़नेकी आशंका है। उसी छन्द-विधानके भीतर लय द्वारा रिक्तता पूर्तिके लिए वर्णोंका त्याग प्रभावको बढ़ा देता है, और अनुभूतिकी चेतन गम्भी-रताके लिए पाठकको प्रस्तुत कर देता है। प्रत्येक भाषामें अपनी प्रतिभा और लयात्मक शक्ति होती है और कविकी शक्ति और सफलता भाषाकी इसी शक्तिकी पहचानमें है। आजके अनेक नौसिखुए कवि भाषाकी इस शक्तिसे अपरिचित रहकर इससे खिलवाड़ करनेका प्रयास करते हैं।

अनुभूतिका उद्भव और विकास क्रम-बद्ध होता है और क्रमशः वह

भावनाका रूप ग्रहण करता है। गीति-काव्यमें अनुभूतिकी विकास-परम्परा-का क्रम पाया जाता है। गीति-काव्यका सौन्दर्य चरणकी लयात्मक गतिमें है किन्तु छन्द-विधानके अन्तर्गत चरणोंके समन्वयमें, जिसका अन्त्यानुप्रास मधुर अथवा तीव्र झङ्कारके साथ नवीन प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार सन्दर्भ वा अवतरण इस क्रमविकासके सूचक हैं। 'वह चली अब अली, शिशिर समीर' (निराला) शीर्षक कवितामें इस प्रकार-के क्रम-विकासका निर्देश किया गया है। इस विधानका ध्यान न रखने-के कारण प्रभावकी अक्षुण्णता बनी नहीं रहती और सामञ्जस्य भी नहीं रह जाता यद्यपि इस सिद्धान्तका पालन सभी कवि सभी अवस्थाओंमें नहीं करते। उत्तेजनशील क्षणोंमें कविकी जाग्रत् प्रतिभाके प्रयोगानुकूल अनेक प्रकारके छन्द-विधान और उनके स्वरूप हैं। विभिन्न छन्दों, लय और सन्दर्भके प्रयोग द्वारा वह भिन्न प्रभाव डाल सकता है किन्तु चतुर गीतिकार छन्दात्मक लय-विधान, स्वरैक्य, अविच्छिन्नता और तारतम्यके द्वारा तरल कोमलताका आवेश कविताके प्राणोंमें फूँक देता है और इनसे समाहित प्रभाव उत्पन्न होता है। नाद-सौन्दर्यके साथ भाव-सौन्दर्यका सामञ्जस्य नव-सौन्दर्यका विधान उपस्थित करता है। उक्तिकी परुषता और तरल प्रसा-दकता और स्निग्धता, छन्दकी मन्दता और तीव्रता, अनुप्रास और लयका अस्पष्ट आवेश, संयत नादात्मकता और सामञ्जस्य, पाठककी कल्पनाको आक्रान्त कर रसानुभूति अतः आनन्दानुभूतिका उन्मेष करते हैं।

मम्मटने अलंकृत काव्यकी स्थिति स्वीकार की है। स्फुट न रहने-पर भी अलङ्कारत्वका अभाव नहीं रहता। अलङ्कारके प्रभावशील होने और चमत्कार प्रदर्शित करनेमें अधिकका अन्तर नहीं। मैंने अन्यत्र लिखा है कि अनुभूतिके अक्षम आवेशको उत्तेजना और प्रभाव देनेके लिए अलङ्कार-विधानका आग्रह कवि-विशेषमें दीखता है। चमत्कार उत्पन्न

शब्दोंके प्रयोगमें ध्यान रखते, किन्तु [illegible] हो जाता है अथवा शब्दोंका पुनर्विन्यास [illegible] होता है; किन्तु जहाँ अलङ्कारका प्रयोग सीमित हो जाता है वहाँ [illegible] करने और भावनाके [illegible] प्रयास दीख पड़ता है। अतः अधिक [illegible] अथवा अलङ्कार-विधानकी ओर गीति-काव्य [illegible] नहीं [illegible]। अलङ्कारके सम्बन्धमें [illegible] कहा है—

तुम वहन कर सको जन मनमें विचार,
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलङ्कार,

पन्तने अलङ्कारकी अनावश्यकता स्वीकार की है किन्तु अलङ्कारोंका प्राचुर्य उनकी कविताओंमें है। यहाँ मैं यह कहने नहीं जा रहा हूँ कि जान-बूझकर पन्तने अलङ्कारका प्रयोग किया है यद्यपि अनेक अवस्थाओंमें अनावश्यक और अशोभन रूपमें उनका समावेश हो गया है। पन्तमें चित्रात्मकता अधिक है, पन्त स्पष्ट चित्रोंके कवि हैं। चित्रमयताका यह आग्रह भावोंको स्थूल रूप देनेका आग्रह करता है और उदात्त कल्पनाकी उड़ान स्पष्ट रेखाओंको अमान्य कर व्योम-कुसुमोंकी ओर पर फड़फड़ानेको उद्यत होती है; ऐसी अवस्थामें अमूर्तके मूर्त-विधानकी प्रधानता होगी। चाक्षुष चित्रोंके साथ श्रव्य चित्रोंका निर्माण कर पन्त अभिनव रूप-रेखा खड़ी करते हैं। अलङ्कार और अलङ्कार-ध्वनिमें अन्तर है। गीति काव्यमें अलङ्कारसे अधिक अलङ्कार-ध्वनिमें सौन्दर्य होता है, कारण वहाँ पाठकका ध्यान वाणीके, चमत्कार और अलङ्कारकी ओर न जाकर अनुभूति और भावनाकी ओर जाता है। शब्द-अलङ्कारका सम्बन्ध श्रुतिसे है और वृत्यानुप्रासके दर्शन गीतिकारकी भाषामें दीख पड़ते हैं। अलङ्कार काव्यकी आत्मा नहीं, इसमें किसी प्रकारकी द्विधा नहीं; किन्तु वाणीके अलङ्कारका महत्त्व है, कारण

ज्ञानका सारा श्रेय ज्ञातसे अज्ञातकी ओर जानेमें है। अलङ्कार इस प्रकार भावनाको स्पष्ट रूपरेखा देते हैं। अलङ्कारोंके बाहरी अथवा अलङ्कार-विशेष-का उदाहरण उपस्थित करनेका प्रयास जहाँ कविताको अति कृत्रिम बना देता है, वहाँ उसके प्रभावको भी कम कर देता है। कला (art) और कलाबाजी (artifices) में अन्तर है। अलङ्कारत्व नक्काशी नहीं; नक्काशी वह तब है जब कविका सारा प्रयास अलङ्कारके चमत्कार दिखानामात्र हो। मम्मटने भी अलङ्कारके इस महत्त्वको दबी जुबानसे स्वीकार किया है।

शब्द-झङ्कार और नाद-सौन्दर्यका सम्बन्ध भी विधानसे प्रत्यक्ष रूपमें है। क्या केवल झङ्कारसे भावनाकी व्यञ्जना हो सकती है? फ्रेंच कवितामें इस शब्द-झङ्कारका प्राधान्य अधिक समयतक रहा, इसके अनुसार अर्थ और भाव प्रधान होते हुए भी स्वानुरूप अनुभूति जाग्रत् करनेके लिए आवश्यक नहीं; कारण उनकी व्यञ्जना शब्द-झङ्कारसे होती है। 'वृत्तियों'—उपनागरिका, कोमला और परुषाका विधान कुछ-कुछ इसी दिशाकी ओर सङ्केत करता है यद्यपि कई रसोंके लिए भी एक ही वृत्ति स्वीकृत है। केवल शब्द-झङ्कार और नादात्मकतासे भावनाकी अभिव्यञ्जना हो सकती है, इस मतको पूर्ण-तया स्वीकार नहीं कर भी इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि शब्द-झङ्कारद्वारा प्रभावकी विशिष्टता बढ़ अवश्य जाती है। वृत्ति (mood) के परिवर्तनके साथ शब्द-झङ्कारका परिवर्तन पन्तकी परिवर्तन कवितामें मिलती है।

'कहाँ आज वह पूर्ण-पुरातन, वह सुवर्णका काल?' की गम्भीर झङ्कार 'मिलनके पल केवल दो चार, विरहके कल्प अपार' में विलीन हो गयी है और वही 'अतलसे उमड़ अकूल, अपार' में कम्पनशील हो गयी है। शब्द-झङ्कार और श्राव्य चित्रोंके निर्माणमें पन्तकी प्रतिभा अधिक सजग रही है:—

मेल नहीं खाता और वह मानवीय बन्धनोंको तोड़कर प्रकृतिके साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित करना चाहता है। मनुष्य भी प्रकृतिक है और इसने अपने चारों ओर अस्वाभाविक बन्धन स्वीकार कर लिये हैं अतः वह इन बन्धनोंके प्रति भी विद्रोह करता है। गीति-काव्यमें अनुभूति और भावनाकी तीव्रता अपेक्षाकृत अधिक होती है। संवेदनशील क्षणोंमें कवि-की चेतना इतनी सजग और सहज संक्षोभ्य होती है कि हलका-से-हलका स्पर्श उसे चञ्चल कर देता है। इस स्पर्शका जैसा ऊपर लिखा गया है, महत्त्व इस संवेदनशीलताके अनुसार होने और तीव्रता प्रदान करनेमें है। इसलिए मैंने ऊपर लिखा है कि गीति-काव्यमें शुद्ध प्रकृति-चित्रणका स्थान नहीं। शुद्ध प्रकृति-चित्रणसे मेरा तात्पर्य प्रकृतिके यथातथ्य चित्रणसे है, बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव ग्रहण करानेसे है। यह कोई आवश्यक नहीं कि अपनी रागात्मक अनुभूतिके आरोपका वह स्पष्ट उल्लेख करे, मात्र संकेत भी पर्याप्त होगा; किन्तु बिम्ब-प्रतिबिम्बवाले चित्र गीतिकाव्यके उपयुक्त नहीं। रीतिकालीन कवियोंने प्रकृतिका चित्रण उद्दीपनके रूपमें किया है। उद्दीपनके शास्त्रीय अर्थका विस्तार सीमित है और गीति-काव्यके चित्रोंसे उन चित्रोंका अधिक मेल नहीं खाता। रीतिकालीन कवि जहाँ प्रकृतिके उपकरणोंमें परम्परागत उद्दीपनत्व मानता है, वहाँ अपनी वृत्तिको संस्कार रूपमें स्वीकार करते हुए उसकी तीव्रताका कायल नहीं रहता; वह मानता है, उन उद्दीपनोंके कारण ही वासनाकी उत्तेजना है। वैसी अवस्थामें चन्द्र, नदीका एकान्त कूल, वासन्ती वायु, आषाढ़के उमड़ते प्रथम मेघ अधिक प्रमुख हो जाते हैं। गीतिकार प्रकृतिके उपकरणोंका महत्त्व तो स्वीकार करता है; किन्तु उन्हें वृत्तिसे अधिक प्रमुखता नहीं देता। वह अपनी वृत्तिका प्रतिबिम्ब प्रकृतिमें देखता है। इस प्रकार प्रकृतिकी आत्मा काव्यकी आत्माके साथ

[illegible]

खोले नयरहियाक द्वार फोड़लिया कुहुक गई ॥

अन्तरकी व्यथा इन पंक्तियोंमें स्पष्ट है । एक गीत है—

गहिरी जमुनवाँके तिरवाँ चनन गछ रुखवा हो ।
तिन डरिया परे हैं हिंडोलवा झुलहिं रानी रुकमिनी हो ॥१॥
झुलतहि झुलत अबेर भा है औरो देर भा है हो ।
मोरा टुटला मोतिन केर हार जमुन जल भीतर हो ॥२॥
धायउ बहिनी चकैया तू हाली बेगि आवउ हो ।
चकई ! चुनि देव मोतिक हार जमुन जल भीतर हो ॥३॥
अगिया लगाओं तोरा हरवा बजर परे मोतिन हो ।
बहिनी ! सँझवैसे चकवा हेरान ढूँढ़त नहिं पावउँ हो ॥४॥

गहरी नदी यमुनाके किनारे चन्दनका एक घना वृक्ष है । उसकी डालमें हिंडोला पड़ा है । उसपर रानी रुक्मिणी झूल रही हैं ॥१॥

झूलते-झूलते देर हो गयी । सहसा उनका मोतियोंका हार टूट गया और मोतीके दाने यमुनाके जलमें जा गिरे ॥२॥

'रुक्मिणीने चकईसे कहा—हे चकई बहन ! जल्दी दौड़कर आओ, और मेरे हारके मोतियोंको यमुनाके भीतरसे चुनकर निकाल दो' ॥३॥

'चकईने कहा—तुम्हारे हारमें आग लगे, मोतीपर वज्र गिरे। साँझसे ही मेरा चकवा खो गया है। ढूँढ़ रही हूँ, किन्तु उसे पाती नहीं' ॥४॥

रुक्मिणी अकेले हिंडोलेपर झूल रही हैं। झूला सावनकी सूचना देता है, बादल उमड़ते होंगे, जिसके लिए किसी गाँवकी विरहणी कहती है—

अरे अरे कारी बदरिया तुहइँ मोरि बादरि।
बदरी ! जाइ बरसहु वहि देस जहाँ पिय छाये॥

साँझके बीते देर हो गयी है नहीं तो 'सँझवै से चकवा हेरान' का तात्पर्य क्या रहेगा? रात हो आयी है, और आकाशमें हैं काले-काले उमड़ते मेघ। बिहारीको भले ही ऐसे समय "रात ग्रोस जान्यो परै लखि चकवा चकईन" का मजमून सूझ-पड़े, पर स्वाभाविकतया मनके सूनेपनको, यह अधिक तीव्र और विषादमय कर देता है। तुलसी इस स्वाभाविकतासे आकृष्ट हुए बिना नहीं रहते और 'घन-घमण्ड नभ गरजत घोरा प्रिया हीन डरपत मन मोरा' से मनकी व्यथा फूट न पड़ती। चकईका प्रियतम खो गया है; पावस-की काली अँधियारीमें [illegible] फूट रही है। और सभ्य एवं सुसंस्कृत [illegible] रुक्मिणी आनन्दके साथ हिंडोलेपर झूल रही हैं। आकाश-के [illegible] कृष्णकी याद नहीं दिलाते, वे कोई गाँवकी गोपी तो हैं नहीं [illegible] अनुहारि' 'उमड़ आगे साँवरे सखि लेहु रूप निहार' [illegible]। [illegible] फुरसत कहाँ जो उनके मोती चुन-[illegible]। [illegible] और दूसरा काम है ही कहाँ? [illegible] सुनकर [illegible] हृदय की क्या अवस्था हुई, उसकी [illegible]। [illegible] मोतियोंके साथ नयनोंके मोती भी [illegible] आता है। साथ ही सभ्यताकी कृत्रिमता,

जहाँ हार्दिक वृत्ति और रागात्मक अनुभूतिके निग्रहका आग्रह है—कितनी दयनीय है। इस कृत्रिमतापूर्ण सभ्यताके प्रति गम्भीर व्यंग्यकी व्यञ्जना यहाँ है। "अगिया लगाओं तोरा हरवा बजर परै मोतिन हो"में रोना, आक्रोश और तिरस्कारकी भावनाका सम्मिलित चित्र देखने योग्य है। चकई-चकवा और सांकेतिक सावनके उमड़ते मेघ उद्दीपन नहीं बल्कि पृष्ठभूमि हैं जिनकी भूमिकामें रखकर रागात्मक वृत्तिको देखनेका प्रयास है। भावना ही भावनाको जाग्रत करती है। सावनका प्रभाव उन्हींके शब्दोंमें—

एक त गोरिया अँगवा क पातरि, दुसरे पिया परदेस।
तिसरे मेह झमाझम बरसै, सावन अधिक अँदेस।
कन्हैया नहीं आये
भादौं रैनि भयावनि ऊधो, गरजै अरु घहराय।
लवका लवकै ठनका ठनकै छतिया दरद उठि जाय।
कन्हैया नहीं आये

[एक तो गोरी अंगकी पतली है, दूसरे पिया परदेशमें हैं, तीसरे झमाझम मेघ बरसते हैं। सावनमें प्राणोंके जानेका अधिक अँदेशा है। हे ऊधो! भादोंकी भयानक रात गरजती और घहराती है, मेघ गरजते हैं, बिजली चमकती है। छातीमें पीड़ा उठ खड़ी होती है। कन्हैया नहीं आये।]

सूरकी गोपियाँ भी कहती हैं—'कारी घटा देखि बादरकी नैन नीर भरि आये' किन्तु 'छतिया दरद उठि जाय' में जो मनोव्यथा, जो वेदना है वह 'नैन नीर भरि आये'में नहीं है। प्रकृतिके ऐसे चित्रणमें प्रकृति अपने रूपमें रहती है किन्तु कवि भावनाका विस्तार उसमें देखता है। उमड़ते मेघको देख उसे प्रियतमकी याद आती है। ज्योत्स्ना-

पुलकित रजनी सहज प्रेमभरे क्षणोंकी याद दिला व्यथाको और तीव्रता, व्याकुलता और गम्भीरता देती है और वही प्रकृति उल्लासके क्षणोंमें नूतन उन्माद, नवपुलक और नवीन चेतनाका सन्देश देती है। प्रकृति वहाँ मुख्य नहीं हो सकती, केवल अपने 'मूड' (वृत्ति)का चित्र कवि प्रकृतिके उपकरणोंमें पाता है।

लखियत कालिन्दी अति कारी।
कहियो, पथिक! जाय हरि सों जो भई विरह जुर-जारी।
मनो पलिका पे परी धरनि धँसि तरँग-तलफ तनु भारी।
तट-बारू उपचार-चूर मनो, स्वेद-प्रवाह पनारी॥
बिगलित कच कुस कास-पुलिन मनो पंकज कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहूँदिसि फिरति है अंग दुखारी॥
निसि दिन चकई ब्याज बकत मुख, किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी॥

इसमें केवल 'सूरदास प्रभु जो गति हमरी सो गति जमुना कारी' विचारणीय है, कारण वही यमुना संयोगके क्षणोंमें उल्लास, आनन्द और मनोविनोदका कारण थी। यमुनाका यह स्वरूप गोपियोंकी मानसिक अवस्थाके कारण है। उसी यमुना-विहारका सुख एक दिन अवर्णनीय था—

विहरत हैं यमुना जल श्याम।
राजत हैं दोउ बाँह जोरी दम्पत्ति अरु ब्रजबाम॥
कोउ ठाढ़ी जल जानु जंघलौं कोउ कटि हृदय ग्रीव।
यह सुख वरणि सकै ऐसे को सुन्दरता को सीव॥

यह सुख, यह आनन्द मनोवृत्तिजन्य है। मन जब प्रसन्न है सारे संसार, विश्वके कण-कण, प्रकृतिके अंग-अंगमें सौन्दर्य और आनन्दका लोक बसा है। जीवनका सौन्दर्य ही चारों ओर बिखरा पड़ा है और विषादके क्षणोंमें प्रकृति भी उदास, मलीन, क्लान्त दीख पड़ती है।

एक दिन आकाशमें काली-काली घटाएँ छा गयीं ; बिजली चमकने लगी ; आँधी-पानीमें कृष्ण और राधिका एक साथ चलते हैं। आकाशमें उमड़ते मेघ, घिरी हुई घटाएँ और इन दो प्राणियोंके उमड़ते हुए हृदय। उस दिन एक नयी घटना घटी। राधिका तरुणी हुई और कृष्ण तरुण। जीवनका सहज स्नेह प्रणयमें परिणत हो जाता है। आज-तक हृदयकी इस वृत्तिसे दोनों अनजान न थे। दोनोंके मिलनका आधार बदल जाता है। वह बालापनका प्रेम भूलनेकी वस्तु नहीं, कारण उसीने नवीन रूप, नूतन आग्रह प्राप्त किया है। उस दिनके मेघ, क्या कहे कोई! कितना महत्त्व है उनका, कितनी सरसता है, कितना उन्माद है, उन बूँदोंमें भीगना कितना सुखकर है!

गगन गरजि घहराई घटा जुरी कारी।
पवन झकझोरि चपला चमकि चहुँ ओर सुवन तनचितै नंद डरत मारी।
कह्यो वृषभानुकी कुँवरि सो बोलिकै राधिका कान्ह घर लिए जारी॥

और—

नयो नेह गेहु नयो नयो रस नवल कुँवरि वृषभानु किशोरी।
नयो पिताम्बर नयी चुनरी नयी नयी बूँदन भीजति गोरी
सूरदास प्रभु नवरस विलसत नवल राधिका ज्यौं वन भोरी॥
नये स्नेह, नये रसकी सृष्टि करनेवाली वर्षाकी नयी-नयी बूँदें

नवीन वेदना, दुसह कष्ट और व्यथाकी सृष्टि करती हैं। आषाढ़के काले-काले-मेघ कालिदासके दक्षको उन्मत्त बनाते हैं।

मघा लोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेष प्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे: ॥
[जब सुहावनी घटा देखकर सुखी अनमने हो जाते।
तब आलिंगन-रसिक कभी क्या रह कर दूर चैन पाते ॥]

पावसके उमड़ते मेघको देख संस्कृतमें एक कविने कहा—

पाथोवाह किमम्बुभिः प्रियतमा नेत्राम्बुसिक्तामही,
किं गर्जैः सुतनोरमन्दरुदितैरुज्जागराभूरपि।
वातैः शीकरिभिः किमिन्दुवदनाश्वासैः सवाष्पैरलं,
सर्वं ते पुनरुक्तमेतदपुनः पूर्वा पुनर्मद्व्यथा।

[रे बादल, तेरे जल बरसानेसे क्या लाभ? क्या धरती वियोगिनीके आँसुओंसे पहले ही गीली नहीं हुई? प्रियाके जार जार रोनेसे सारी सृष्टि रो रही है, अतः तेरा गरजना भी व्यर्थ है। चन्द्रमुखीके मुँहसे आहें निकल रही हैं, वही जलकणसे पूर्ण वायुके लिए पर्याप्त हैं। हाँ, तूने एक बात नयी कर डाली है, वह है मेरी व्यथा। यह पहले कभी न हुई थी।]

सूरकी गोपियाँ भी कहती हैं,—'परम वियोगिनि गोविन्द बिनु, कैसे बितवैं दिन सावनके?' भला कजरारे उमड़नेवाले सावनके मेघ और वियोग! भला सहन किये कैसे जायँ। विद्यापतिका भी यही रोना है—

सखि रे हमर दुखक नहिं ओर—
इ भर बादर माह भादर—
सून मंदिर मोर।

इतना ही नहीं, वह कोयलको संदेशवाहिका बना इस अनूठे प्रेम-पत्रको अपने पियाके पास भेजती है। वर्षा आ गयी। कोयल कहीं दूर देशमें जा बसेगी। वसन्तके साथ वह भी चली जायगी। प्रियतम दूर देशमें हैं। कोयल सम्भव है वहीं जाती हो, फिर उससे अधिक उपयुक्त संदेश-वाहक हो कौन सकेगा? कोयलका लौटना सूचना देता है, वसन्त बीत गया, अब पावस रानीकी कहानी अकथनीय है।

लयलिय लयलिय लिखलहुँ पाँति
बितय चहय पिक आधी राति
काजर मसि नख सँ लिख देल
हृदय क कागद फारिय देल
पवन पाँखि लय लहु-लहु जाय
मेघ चढ़ल अहँ अटि दै आय

[यह लो मेरे प्रवासी साजनके लिए लिखा गया पत्र जो मैंने लिखा है। कोयल, आधी रात बीतनेको आयी। हृदयका कागज फाड़कर आँखोंके काजलकी रोशनाईमें नखकी कलम डुबोकर मैंने पाती लिखी है। मेघ बरसा ही चाहता है, हवाके पंखोंपर चढ़कर धीरे-धीरे दूसरी विर-हिणी कहती है—

अरे-अरे कारी बदरिया तुहइँ मोरि बादर।
बदरी! जाइ बरसहुँ वहि देश जहाँ पिया छाये॥

सूरदासकी गोपियाँ समझ नहीं पातीं कि मथुरामें भी मेघ छाते हैं, अथवा नहीं। यदि आकाशमें मेघ उमड़ते फिर उमड़ते हृदयको रोकना सम्भव नहीं होता और कृष्ण रुक पाते नहीं। कृष्णके वियोगमें प्रचण्ड सूरस

तारक-दल छिपता जाता है।
कलियाँ निकलीं, फूल बिखरते,
मिल सुख दुखके आँसू झरते;
जीवन और मरण दोनोंका राग विहंगम-दल गाता है।
तारक दल छिपाता जाता है।
इसे कहूँ मैं हाल पवनका
या समझूँ उल्लास पवनका ?
अवनि और अंबर दोनोंसे प्रात-समीरणका नाता है॥
तारक-दल छिपता जाता है।

विहंगमके गीतोंको जीवन और मरणका राग न कह ऐसा कहेंगे कि अपने मनोनुकूल भावका आरोप हम उनपर कर लेते हैं। यह बात नहीं है कि विहंगम सुख-दुःखके हास-अश्रु भरे गीत नहीं गाता किन्तु मनुष्य स्वयं अपने हर्ष-विषादमें इतना तल्लीन है कि विहंगमके गीतोंका मर्म वह समझनेकी चेष्टा नहीं करे, इसी लिए झट वह अपने मनकी

इतना ही नहीं, वह कोयलको संदेशवाहिका बना इस अनूठे प्रेम-पत्रको अपने पियाके पास भेजती है। वर्षा आ गयी। कोयल कहीं दूर देशमें जा बसेगी। वसन्तके साथ वह भी चली जायगी। प्रियतम दूर देशमें हैं। कोयल सम्भव है वहीं जाती हो, फिर उससे अधिक उपयुक्त संदेश-वाहक हो कौन सकेगा ? कोयलका लौटना सूचना देता है, वसन्त बीत गया, अब पावस रानीकी कहानी अकथनीय है।

लयलिय लयलिय लिखलहुँ पाँति
वितय चहय पिक आधी राति
काजर मसि नख सँ लिख देल
हृदय क कागद फारिय देल
पवन पाँखि लय लहु-लहु जाय
मेघ चढ़ल अहँ अटि दै आय

[यह लो मेरे प्रवासी साजनके लिए लिखा गया पत्र जो मैंने लिखा है। कोयल, आधी रात बीतनेको आयी। हृदयका कागज फाड़कर आँखोंके काजलकी रोशनाईमें नखकी कलम डुबोकर मैंने पाती लिखी है। मेघ बरसा ही चाहता है, हवाके पंखोंपर चढ़कर धीरे-धीरे दूसरी विरहिणी कहती है—

अरे-अरे कारी बदरिया तुहईं मोरि बादर।
बदरी ! जाइ बरसहुँ वहि देश जहाँ पिया छाये॥

सूरदासकी गोपियाँ समझ नहीं पातीं कि मथुरामें भी मेघ छाते हैं, अथवा नहीं। यदि आकाशमें मेघ उमड़ते फिर उमड़ते हृदयको रोकना सम्भव नहीं होता और कृष्ण रुक पाते नहीं। कृष्णके वियोगमें प्रचण्ड सूरमा

बननेवाले 'दादुर, मोर, सारङ्ग, पिक' आदि क्या उस देशमें नहीं हैं?

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि!
किधौं वहि इन्द्र हठिहि हरि बरज्यो, दादुर खाए शेषनि॥
किधौं वहि देस बकन मग छाड़्यो, घर बूड़ति न प्रवेसनि।
किधौं वहि देस मोर, चातक पिक बधिकन वधे विशेषनि॥
किधौं वहि देस बाल नहिं झूलति गावति गीति सहेसनि।
पथिक न चलत सूरके प्रभु पै जासों कहौं सँदेशनि॥

भावनाके साथ बदलते प्रकृतिके चित्रोंके सम्बन्धमें 'बच्चन' ने लिखा है—

तारक-दल छिपता जाता है।
कलियाँ खिलतीं, फूल बिखरते,
मिल सुख दुखके आँसू झरते;
जीवन और मरण दोनोंका राग विहंगम-दल गाता है।
तारक दल छिपाता जाता है।
इसे कहूँ मैं हास पवनका
या समझूँ उच्छ्वास पवनका?
अवनि और अंबर दोनोंसे प्रात-समीरणका नाता है॥
तारक-दल छिपता जाता है।

विहंगमके गीतोंको जीवन और मरणका राग न कह ऐसा कहेंगे कि अपने मनोनुकूल भावका आरोप हम उनपर कर लेते हैं। यह बात नहीं है कि विहंगम सुख-दुःखके हास-अश्रु भरे गीत नहीं गाता किन्तु मनुष्य स्वयं अपने हर्ष-विषादमें इतना तल्लीन है कि विहंगमके गीतोंका मर्म वह समझनेकी चेष्टा कैसे करे, इसी लिए झट वह अपने मनकी

भावनाका आरोप उनपर कर लेता है। परिस्थितियोंके सीमा-पाशमें आबद्ध जीवनकी विवशता, विषादकी स्पष्ट छाया हृदयपर छोड़ जाती है। जीवन, इस सारे संसारके साथ विषादके सम्बन्ध-सूत्रसे बँधा है। जीवनकी यह कठिनता निराशा और उदासीनताको जन्म देती है और उसका एक पूर्ण चित्र 'कीट्स' 'ओड टु नाइटेंगेल' शीर्षक कवितामें उपस्थित करता है—

Fade away, dissolve, and quite forget
What thou among the leaves hast never known,
The weariness, the fever, and the fret
Here. where men sit and hear each other groan;
Where palsy shakes a few, sad, last grey hairs,
Where youth grows pale, and spectre thin,
and dies;
Where but to think is to be full of sorrow
And leaden-eyed despairs,
Where Beauty cannot keep ber lustrous eyes,
Or new love pine at them beyond to-morrow.

इसमें वैयक्तिक विषादकी भावनाके साथ सम्पूर्ण जगत्के विषादका संवेदनशील चित्रण है।

कवि प्रकृतिमें अपनी भावनाओंका आरोप नहीं करता। जीवन और उसकी परिस्थितियाँ उसे पीड़ित और व्यथित करती हैं। यह संसार, अनाचार, क्रूरता, अकृतज्ञता और द्वेष, पीड़ा-व्यथाका संभार लेकर चलता है। जहाँ कलेजेके दो टूक होते हैं, हृदय जहाँ मसल दिया जाता है, भावनाएँ कुण्ठित हो जाती हैं, प्रेयसी जहाँ रूठ जाती

नहीं ; कोई सङ्घर्ष नहीं ; कोई कसक नहीं ; कोई दुराव छिपाव नहीं। इसीलिए वह पीछे छूट जाती है, सहज स्वाभाविक प्रबल आकर्षण मनोवेग आवरणका बन्धन तोड़ देता है। एक प्रकारसे जीवन और उसकी गूढ़ परिस्थितियोंके समक्ष अपनी विजय-पराजयकी स्वीकृति और उससे पलायनकी मनोवृत्ति इनके भीतर है, किन्तु ऐसा समझना उचित नहीं होगा कि वह आँख-मूँदकर भागनेका प्रयत्न करता है। बल्कि प्रकृतिका सहज सुन्दर स्वरूप उसे आकृष्ट कर लेता है और उस स्वरूप विधानमें ही उसे आनन्दानुभूति होती है एवं प्रकृति जीवनके अजस्र आनन्द-भोगका केन्द्र बन जाती है। गीतोंकी रचनाके समय आनन्द, उल्लास और इनके अतिरिक्त अन्य किसी भावनाकी उत्तेजना ऐसे कविको नहीं रहती। ऐन्द्रिय सौन्दर्य विधान सौन्दर्य-भावनाको आक्रान्त कर लेता है, मनोवृत्ति उमड़ पड़ती है। अनुभूति जग जाती है और उसकी भावना

आनन्द स्रोतमें डुबकियाँ लगाने लगती है। अनायास उसका सौन्दर्य-बोध नये संसारमें प्रवेश कराता है और इस प्रकार भावनाएँ संगीतके परों-पर चढ़कर लय और स्वर भरने लगती हैं और अनुभूतिकी चेतना उसे एक विधान अथवा अभिव्यक्तिका माध्यम देती है। सौन्दर्य-बोध, और अनुभूतिकी चेतना अभिव्यञ्जनाके साथ मिलकर एकाकार हो जाते हैं; एकात्मता ग्रहण करते हैं और कविता रूप ग्रहण करती है। उसके गीतोंका और कोई लक्ष्य नहीं, अपने गीतोंमें अभिव्यक्त आनन्द और उल्लासको ही कवि महत्त्वपूर्ण समझता है। आनन्दके साथ एकात्म होकर वह अपने आपकी चेतनाको भी थोड़े समयके लिए खो बैठता है। उसकी चेतना, उसकी जागृति केवल एक दिशाका संकेत करती है। आवेशके इन क्षणोंके अपक्रमणके बाद ही उस आनन्दको वह व्यथा-दग्ध संसारको बाँट देना चाहता है, वह उस उल्लासको सर्वसाधारणका बना देनेका प्रयास करता है; निश्चया-त्मक रूपमें यह उसका विचार है, जिसकी पीछे चलकर उद्भावना होती है। उस आनन्दमय सृष्टिके समय वह अपने आपको भूल बैठता है, संसार, यश, सहानुभूतिको भी, केवल उसके लिए सौन्दर्य और आनन्दकी अनुभूतिमात्र सत्य हैं। उस समय काव्यकी रचनाका उद्देश्य—

'काव्यम् यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये' अथवा 'कान्तासंमि-तरायोपदेशयुजे' नहीं, केवल 'सद्यः परिनिर्वृतये' रह जाता है। सौन्दर्य ऐसी अवस्थामें किसी विशिष्ट रूपमें नहीं रहता बल्कि सम्पूर्ण प्रकृति सौन्दर्यका समाहित चित्र उपस्थित करती है। वह फूलोंकी सुगन्धिसे आकृष्ट है, बादलोंसे आकर्षित। कोयलकी कूक और आमकी बौरें उसे आकुल करती हैं; निर्झरका संगीत उसकी हृदय-तंत्रीके तारोंको हिला देता है किन्तु यह सारा सौन्दर्य एक सूत्रमें बँधा है। वह सार्वभौम सौन्दर्यका अंग-मात्र

खुले पलक फैली सुवर्ण छवि
जगी सुरभि डोले मधुवाल,

यहाँतक कि असीम उल्लासको पन्त सर्वत्र व्याप्त देखने लगते हैं—

एक ही तो असीम उल्लास
विश्वमें पाता विविधाभास;
तरल-जलनिधिमें हरित विलास,
शान्त अम्बरमें नील विकास;
वही :उर उरमें प्रेमोच्छ्वास,
काव्यमें रस, कुसुमोंमें वास,
अचल तारक पलकोंमें हास,
लोल लहरोंमें लास !
विविध द्रव्योंमें विविध प्रकार
एक ही मर्म-मधुर झंकार !

किन्तु यह असीम उल्लास जिसकी सर्वत्र व्याप्ति है इन्तको अधिक समयतकके लिए अपनेमें बाँध नहीं पाता और भावना-सापेक्ष्य प्रवृत्तिका रूप उनके सामने आ उपस्थित होता है। और—

पपीहोंकी वह पीन पुकार,
निर्झरोंका भारी झर्-झर् ,
झींगुरोंकी झीनी झनकार
घनोंकी गुरु गम्भीर घहर;—

पर मुग्ध कविके प्राण गा उठते हैं—

शारद-काननमें सीप-सीप नभ करता रजको विरल आज,
बरसाता पथमें हरसिंगार केशरसे चर्चित सुमन लाज,

कण्टकित रसालोंपर उठता—
है पागल पिक मुझको पुकार।
लहराती आती मधु बयार।

प्रकृति विचार और बुद्धिकी पीठिकाके रूपमें ही महादेवीमें उपस्थित होती है। गीतोंमें एक भिन्न संकेत है जिसकी अत्यन्त न्यूनता महादेवीके गीतोंको कल्पना-बहुल, रूप-रेखा सीमाहीन और धुँधला बना देती है। पाठक कविके साथ समरसता नहीं कर पाता और इसलिए महादेवीके

अशरीरी सौन्दर्य और भावनाको अस्पष्ट दुरूह कह अलग हटा देना चाहता है ; और काव्य-दृष्टिसे महादेवी मीराकी ऊँचाईपर कम ही पहुँचती हैं, ऐसा कह उठता है। मीराके गीतोंमें जहाँ ऐन्द्रियता है, शारीरिकता और रूपकी स्थूलताके दर्शन हैं, वहाँ महादेवीकी मन्द्र गम्भीर, अनुभूतिकी कल्पना और बुद्धिका सहयोग मिला है। यह दूसरी बात है कि महादेवीका यह चित्र अनेकोंके लिए अस्पष्ट रह जाता है, वे अनेक रागात्मक क्षणोंकी अनुभूति पकड़ नहीं पाते और विचारोंके प्राचीरोंमें बन्द भावनातक पहुँच नहीं पाते ; और यह भी दूसरी बात है कि उनका आध्यात्मिक आवेश 'गिरिधर' को सीमाओंमें आवृत नहीं करता। यह तो महादेवीकी देन है कि वे इस आध्यात्मिक भावनाको मुक्ति देती हैं। कबीरमें जहाँ यह रूप साम्प्रदायिकताको लेकर उपस्थित होता है, वहाँ महादेवी उसे करुण कोमल अभिव्यक्ति देती हैं। मीराके प्रभावका कारण अनुभूतिकी गहराई माननेवालोंका अर्थ उस अनुभूतिकी स्वच्छन्द अभिव्यक्तिसे ही है।

प्रकृतिके बाह्य सौन्दर्य, उसके अतिव्यास और तथ्यगत रूप तथा आँखोंको तृप्त कर सकनेवाले आकर्षणके प्रति महादेवीकी चेतना जाग्रत नहीं। पन्तकी ऐन्द्रियता और सौन्दर्यकी प्राकृतिक परिणतिमें महादेवीका मोह नहीं। उसका रूप और उसका सङ्गीत अनुभूति और भावनाको जाग्रत अवश्य करते हैं किन्तु वे वहाँतक रुकती नहीं। निरालाकी आध्यात्मिकता चेतनाका प्रवाह भी उसमें नहीं; पन्त प्रकृतिके उपकरणोंसे सन्देश, संवेदनशीलता, प्रेरणा अथवा विफलताका भाव भी जहाँ ग्रहण करते हैं महादेवीमें वैसा आग्रह नहीं। प्रकृति चित्र उपस्थित करती है किन्तु भावनाकी भूमिकाके रूपमें, अनुभूति सापेक्ष प्रकृतिके कुछ चित्र महादेवीमें हैं किन्तु वह उनकी मुख्य प्रवृत्ति नहीं जान पड़ती। प्रकृतिकी अन्तधारा

और उसकी आध्यात्मिक अतः रहस्यात्मक अभिव्यञ्जना ही अभिप्रेत है। महादेवी प्रकृतिको पन्तकी भाँति चेतना तो देती हैं किन्तु दोनोंकी चेतना भिन्न प्रकारकी है। महादेवीमें प्रकृतिके प्रति प्रेम कहीं नहीं लक्षित होता। ऐन्द्रिय रूप-आकर्षणका आभास यत्र-तत्र हिन्दी-गीतोंमें मिलता है। अधिकांश गीतोंमें अपनी भावनाका प्रसार ही पाया जाता है—

पर्ण कुञ्जोंमें न मर्मर गान
सो गया थककर शिथिल पवमान
अब न जलपर रश्मि बिम्बित लाल
मूँद उरमें स्वप्न सोया ताल
सामने द्रुम राजि तमसाकार
बोलते तममें विहग दो चार
झींगुरोंमें शोर खगके लीन
दीखते ज्यों एक रव अस्पष्ट अर्थ-विहीन
दूर श्रुत अस्फुट कहींकी तान
बोलते मानो तिमिरके प्रान। —दिनकर

प्रकृतिके उल्लासपूर्ण सौन्दर्यका चित्र यहाँ है—

वकुल-मुकुल-मन्द अन्ध कुञ्ज-कुञ्ज डोले
अरुण-तरुण किरण संग तिमिर पुञ्ज डोले
मधुप मुग्ध झूम रहे
फुल्ल कुसुम चूम रहे
करमें मधुपात्र लिये
द्वार द्वार घूम रहे

विहँस रही नव कलिका द्वार बन्द खोले　—नेपाली

×　　×　　×

दिवानी वह पूनोकी रात
जवानी वह पूनोकी रात
कि हँसता तन्द्रामें भी विश्व
कि जगता निद्रामें भी विश्व
कि जुगनू बन उड़ते हैं स्वप्न
कि तारे बन जुड़ते हैं स्वप्न　—नेपाली

नेपाली प्रकृतिके शांत और स्निग्ध रूपसे कम आकृष्ट नहीं। नेपाली संसारकी कृत्रिमता और बाधा बन्धनसे त्राणका मार्ग प्रकृतिकी गोदमें पानेके अभिलाषी हैं। जीवनका सौन्दर्य नष्ट हो गया है, कानून सरकार और अदालतें नये बन्धनकी सृष्टि कर मानवताका नाश कर रही हैं। प्रकृति जीवनको शान्ति, और सान्त्वना देती है। 'जीवन यहाँ रातदिन हिल-मिल, खेल परस्पर, छोल परस्पर 'और' संध्या खुली-धुली पावसकी, 'आयी वनमें अभी उतरकर' इसीलिए वह कह उठता है 'चल दे मस्त मगन आनन्दित कवि मालवकी एक डगर पर' ; कारण :—

दूर यहाँसे घनी बस्तियाँ,
मानव-मानवमें अभ्यन्तर;
दूर कलह, अति दूर मलिनता,
दूर कपटके तन्तर-मन्तर।

पन्त और नेपाली दोनों प्रकृति-सौन्दर्यसे आकृष्ट हैं किन्तु पन्तका प्रकृति-प्रेम कोमल-भावनाका मधुर रूप हमारे सामने उपस्थित करता

प्रकृति ऐसी अवस्थामें अपना जीवन और अस्तित्व रखती है, उसके जीवनमें विकास, उन्माद और ह्रास है। मानव उस प्रकृतिकी गोदमें पला अनजान और निरीह शिशु है, चेतना और कर्तृत्व-हीन। प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता मूर्त्त रूप धारण कर लेती है। बादल केवल उड़ते हुए जीवनसे विच्छिन्न प्राकृतिक उपकरण मात्र नहीं रह जाते, हरसिंगार रात्रिके अन्तिम प्रहरमें झड़ पड़नेवाला मात्र पुष्प नहीं रह जाता, बल्कि उसमें प्राण है, नव-विधान है। सौन्दर्यका मूर्त्त-विधान नवीन उन्मेष देता है, यद्यपि प्रियतम या बालाके रूपोंका दर्शन उसमें नहीं होता। ऊषा केवल आकाशकी रक्तिम आभा मात्र नहीं रहती, अरुण प्रभात और सूर्योदयका केवल सन्देशवाहक प्रकृतिका एक अंगमात्र नहीं रह जाती बल्कि साकार और मूर्त्त है। ऊषा भागती है, अरुण उसके चुम्बनके लिए मतवाले और मत्त प्रेमीकी भाँति उसके पीछे भागता है। चाँदनी केवल आलोक मात्र ही नहीं देती। पन्तमें भी ऐसा आवेश दीख पड़ता है। 'छाया' केवल आश्रय और. विश्रामदायिनी गोदमात्र नहीं बल्कि 'बिरह मलिन दुख विधुरा' भी है और 'विजन निशा'में 'प्रियतमके गले' लगते देख कविको अपने प्रियतमके बिछुड़नेकी याद आ जाती है। बादल 'सुरपतिके अनुचर' और 'जगत्प्राणके सहचर' हो जाते हैं। इस प्रकारके प्रकृति चित्रण मुख्यतया विशेषणोंमें जीवित रहते हैं। प्रारम्भसे लेकर अन्ततक विशेषणोंकी भरमार रहती है, किन्तु उनमें प्रकृतिका स्वरूप-विधान मिश्रित रहता है, केवल जहाँ विशेषण और अलङ्कारके चमत्कारसे उसे मूर्त्त-विधान देनेकी चेष्टा होती है, वहाँ गीति-काव्यका स्वरूप अक्षुण्ण नहीं रह पाता।

झलमल-मुक्तादल-नव जल-धर—

जलधर कुन्तल जाला।

की अवस्थामें पहुँचनेपर भी कलात्मकता और उसके प्रत्यक्षीकरणके साधनोंके रूप-परिवर्त्तनके कारण नवीन आवेश उसमें मिलता है। हिन्दी-के आधुनिक काव्य-कालमें प्रकृतिको विस्तार मिला है किन्तु अभी वह अपने पूर्ण-प्रभावके साथ किसी कविमें उतर नहीं सकी और न यह सम्भव है। अंग्रेजीके रोमांटिक युग-सा आजका युग नहीं। युगीन प्रभाव काव्यपर अचेतन रूपमें पड़ता है, जहाँ यह प्रभाव प्रत्यक्ष रूपमें प्रकट होता है, वहाँ वह कलाकी परिधि छोड़कर प्रचारकी राज्य-सीमामें प्रवेश करता है। कल्याण-अकल्याणके विचारोंसे दूर कलात्मक रूपसे इसे हम स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु इसके साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि युगकी छापसे हीन कला नहीं हो सकती, आँख बन्द कर कल्पनाके सहारे किसी नवीन लोकको खड़ा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार चिरन्तन सत्य और युग-धर्ममें विरोध नहीं खड़ा होता बल्कि युगकी वाणी शाश्वत और चिरन्तन वाणीके परिवर्त्तित रूपमें प्रकट होती है। यह परिवर्त्तन ही युगकी विशिष्टताको प्रत्यक्ष करता है अतः समाजकी सांस्कृतिक, कला-त्मक भावनाका विकास बाह्य परिस्थितियां और उन्मेषकी सूचना देता है। उस रोमाञ्चवादी युगकी अब न तो परिस्थितियाँ रहीं और न वह आवेश रह सकेगा। प्रत्येक कवि, साहित्यिक अथवा विचारकके निर्माणमें उसके युगका हाथ है, यद्यपि उसकी महानताके मूलमें साधारण विचारोंके विरोध दीख पड़ते हैं, इस विरोधके अभ्यन्तरमें युग-भावनाका आभास अवश्य मिलेगा। इस प्रकार आजकी बुद्धिवादिता जीवनको आविष्ट क्षणोंमें हमारी चेतनाका त्याग नहीं करती और फलतः चित्रोंमें बौद्धिकता आ जाती है। इस बौद्धिकताका कई रूपोंमें प्रवेश काव्य-क्षेत्रमें होता है। कुछ कवि प्रकृतिको संसारका मूल मानने लगते हैं; कारण सभ्यता और संस्कृति प्रकृति प्रकृति और अ[illegible] प्रकृतिके संघर्षके कारण उत्पन्न होती

है—'मेरे दुखमें प्रकृति न देती क्षणभर मेरा साथ'—रामकुमार वर्मा । प्रकृति प्रकार सभ्यता और उसके विकासके मार्गमें बाधक होती रही । प्रकृतिसे प्रेरणाके स्थानमें बाधा सदा मिलती रही । प्रकृतिका यह क्रूर परिहास है, वह हमारे दुःखोंमें साथ नहीं देती, रोनेपर हँसती है, खिलखिलाती है, हँसनेपर चिढ़ाती है, क्षणिकताकी ओर संकेत देकर सुखके क्षणोंमें विष घोल देती है । हमारे अच्छे दिनोंको मिटाती और उन्हें स्थिर और चिर नहीं होने देती । प्रकृति क्रूर है, कर्कश है, कठोर है । इसका सौन्दर्य भी मानव-सौन्दर्यकी भाँति क्षणिक और अस्थायी प्रभावका है । प्रकृति किसी भी अवस्थामें संवेदनशील नहीं । इसी बौद्धिकताका दूसरा रूप प्रकृतिसे उत्तेजना और प्रेरणा पानेकी अभिलाषा रखता है । इसमें जिज्ञासा और विस्मयके भाव मिले हैं । आध्यात्मिक एकता अथवा प्रकृतिकी आत्मिक और एकान्तिक स्थितिमें इस बौद्धिकताका आग्रह हम देखते हैं । प्रकृतिको एक सम्बन्ध-सूत्रमें पिरोनेका कार्य बुद्धि करती है किन्तु इसकी चेतना अनुभूतिगम्य होती है । प्रकृतिके उपकरणोंसे अज्ञात प्रियतमका सन्देश अनुभूतिके बौद्धिक आधारके कारण है । इस प्रकार प्रकृति और गीति-काव्यकी प्रकृतिमें अविच्छेद सम्बन्ध है । केवल प्रकृतिके यथा तथ्य अथवा अति अलंकृत चित्रणके लिए इसमें संकुचित स्थान है ।

मानवता

प्रकृतिसे सन्देश प्राप्त करनेवालेकी दृष्टि प्रकृतिसे आबद्ध होनेके कारण भूल जाती है कि सन्देश वहन करनेवाला व्यक्ति है, सन्देशका माध्यम और आधार व्यक्ति है। व्यक्ति भी प्रकृतिका अंग है, और मानवता एवं उसकी अकांक्षा, स्वप्न और विचारकी अभिव्यक्ति गीति-काव्यके लिए अपेक्षित हो जाती है । लोक-गीतोंमें वैयक्तिकताकी छाप

अधिक है किन्तु हमें सदा ध्यान रखना होगा कि काव्यकी सफलता वैयक्तिक होकर भी 'टाइप' (type) होनेमें है, उस व्यक्तित्वका उभार ऐसा न हो कि सामाजिक आधार वह खो दे। व्यक्तिकी रागात्मक अनुभूति और चेतनासे उद्बुद्ध गीति-काव्य इसी सीमामें सीमित नहीं रह सका और सम्पूर्ण मानवताके प्रति प्रेम और आस्थाका राग उसे प्राप्त हुआ। मानवताका यह प्रेम किसी समाज, व्यक्ति अथवा राष्ट्रकी सीमामें बँधा नहीं रह सका। कविके अन्तरकी धारा प्रस्तर कारामें अवरुद्ध न रह सकी बल्कि उन्मुक्त हो प्रखर वेगसे धराको सिञ्चित कर उठी। कवि देखता है, मानवता आज कराह उठी है, मनुष्य पशुसे भी अधिक दुरन्त और कराल हो उठा। यह पशुता मनुष्यको मनुष्य नहीं रहने देती। जीवन दुर्वह और कठिन है। सारी प्रकृतिमें आनन्द और उल्लास है। धराके उपवनमें बसन्तका श्री-सौरभ है और मानवताके उदास उन्मन वनमें विस्तृत और शुष्क पतझड़। उसकी 'विगलित करुणा उदार' हिमालयकी छाती फाड़ उमड़ पड़ती है। कवि गाता है—

> वह आता—
> दो टूक कलेजेके करता पछताता पथपर आता।
> पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
> चल रहा लकुटिया टेक,
> मुट्ठीभर दानेको—भूख मिटानेको
> मुँह फटी पुरानी झोलीका फैलाता—
> दो टूक कलेजेके करता पछताता पथपर आता। —निराला

इन पंक्तियोंकी महत्ता, यथा-तथ्य वर्णन, अपूर्व चित्रमत्ता, लयात्मक आवेशमें नहीं बल्कि उस मानवीय संवेदनमें है जो वाल्मीकि-

की वाणीमें गीतिचयके करुण हृदयके कारण फूट पड़ी थी। करुणाकी व्यञ्जना कविकी गम्भीर रागात्मक अनुभूतिकी सूचना देती है। 'दो टूक कलेजे'में जो विदग्धता, करुणा, विवशता, आवेश और संवेदन है, वह अनुभूतिगम्य है। 'टूटे फटी झोलीका फैलाता'में विवशता मूर्त रूप धारणकर उपस्थित हो जाती है। जीवनकी कातरतामें प्राणोंका रस निरालाने घोल दिया है। पन्तमें मानवताके प्रति आस्था कम नहीं और उससे सहानुभूति भी कम नहीं, किन्तु पन्तकी सहानुभूति बौद्धिक है रागात्मक नहीं, अतः निरालाके संवेदनात्मक चित्रोंमें तीव्रता है वह पन्तकी संवेदनामें नहीं। पन्तने स्वयं स्वीकार किया है कि ग्रामीणोंके प्रति बौद्धिक सहानुभूति ही उन्होंने दी है। पन्तकी ग्राम युवतीका चित्र है—

रे दो दिनका
उसका यौवन !
सपना छिनका
रहता न स्मरण !
दुखोंसे पिस ,
दुर्दिनमें घिस ,
जर्जर हो जाता उसका तन !
ढह जाता असमय यौवन धन !
वह जाता तटका तिनका
जो लहरोंसे हँस खेला कुछ क्षण !!

ग्राम-युवतीके इस चित्रमें कोई स्थानीय महत्त्व नहीं दीख पड़ता। यौवनके ढलने और सपनोंकी चञ्चलताद्वारा उस चित्रमें कोई विशिष्टता नहीं आ सकी है। महादेवीने लिखा है—

विकसते मुरझानेको फूल, उदय होता छिपनेको चन्द,
शून्य होनेको भरते मेघ, दीप जलता होनेको मन्द,
यहाँ किसका अनन्त यौवन ?
अरे अस्थिर छोटे जीवन !

फिर ग्राम-युवतीके क्षणिक यौवन-उभार और उसकी म्लानताके लिए रोना क्यों ? 'दुःखोंसे पिस' और 'दुर्दिनमें घिस' में भी 'पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक, चल रहा लकुटिया टेक' की सी-गम्भीर संवेदना और करुणा नहीं; किन्तु मानवताके विकृत और शापित, तापित, उत्पीड़ित समाजका चित्र यहाँ है। पन्तका रागात्मक आवेश चिन्तन और बौद्धिकता का फल है, इसमें 'वाद' की ध्वनि अधिक और वास्तविक सहृदयता-की कम है। 'दिनकर'में मानवताकी दीनताके प्रति जागरूकता है—

सब हँसी-खुसी बँट गयी
रुदन ही पड़ा हमारे भाग्य आन। —दिनकर

'हाहाकार' में कविकी वाणी मानवताके हाहाकारका चित्र उपस्थित करता है। अल्प संख्यक शोषक वर्गके स्वार्थपर बलि चढ़नेवाली मानवता-का करुण चित्र है। जीवनकी विषमता, परिस्थितियोंकी कठोरता, मनुष्य-की विफलताओंके चित्रणमें 'दिनकर' अधिक सफल है किन्तु 'दिनकर' यह आवेश सम्पूर्ण मानवताको अधिक देरतक नहीं देख पाता। भारत-की सीमाओंमें घिरी दृष्टि अतीतके प्रति मोह, और राष्ट्रियताका उन्मेष जगाती है। विश्व-बन्धुत्व अथवा मानवताकी सामान्य-भूमिपर कविताका स्वरूप खड़ा नहीं होता और वह भारतकी वाणीके रूपमें प्रकट हो उठती है। इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि उसका यह आवेश बौद्धिक

नहीं रागात्मक है। रागात्मकताके लिए, सत्यताके निर्वाहके लिए जीवन-व्यापार और कविताकी भावनामें सामञ्जस्य-सूत्रका अन्वेषण करनेवाले काव्यकी आभ्यन्तरिक चेतनासे जाग्रत आत्मानुभूतिका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। अनुभूतिकी सत्यता और स्वरूपकी सत्यतामें अन्तर है और अनुभूतिकी सत्यताके लिए स्वरूपकी सत्यता अनिवार्य भी नहीं। मनोवृत्तियोंके शोध और स्थानान्तरकरणद्वारा ही काव्य व्यक्तित्व और वैयक्तिकताकी सीमासे दूर होकर सामान्य रूप ग्रहण करता है। 'दिनकर' धरतीके गानपर मुग्ध हैं किन्तु धरती भारतीय है, उनकी वाणी भारतका क्रन्दन है। पन्तकी भाँति निरी बौद्धिकताका आग्रह दिनकरमें नहीं। जहाँ पन्तमें बौद्धिकताका आग्रह अधिक है, वहाँ दिनकरमें अति भावुकता (Sentimentalism) उनके राष्ट्रिय गीतोंके प्रभावके मूलमें मुख्यतया वे नाम हैं, जिन्हें सुनकर जनता फड़क उठती है, उसे अतीत गौरव और वर्तमान दुरवस्थाका ध्यान आ जाता है। इस प्रकार जन मनोविज्ञानकी अनुकूलता ग्रहण करनेसे दिनकरकी कविताका प्रभाव अधिक हो जाता है और प्रभावके मूलमें कवित्वसे अधिक जन-साधारणकी दुर्बलता और शीघ्र भड़क उठनेवाली भावना है। महादेवीके गीतोंमें मानवताके प्रति जो सहृदयता है वह उसके सानूहिक रूप अथवा जन-साधारणके लिए नहीं है। साधनाकी एकान्तिक भावनाका रूप ग्रहण करनेवाली कवितामें मानवताके सामान्य दर्शन सम्भव नहीं हो सकते। आत्माकी सार्वभौमताके रहते हुए भी वेदना वैयक्तिक है और व्यक्तिगत कारणोंसे, चाहे वह आध्यात्मिक ही क्यों न हो, उत्पन्न होती है। इस प्रकार जीवनके करुण विषादके भीतर भी महादेवीकी भावना मानवताके प्रति उन्मुख नहीं हो सकी है। बच्चनकी वेदना परिस्थितिजन्य है, उन परस्थितियोंका सामाजिक आधार भी है किन्तु भावना 'बच्चन' की अपनी है।

विश्व-पीड़ासे सुपरिचित
हो तरल बनने पिघलने
त्याग कर आया यहाँ कवि

'स्वप्न लोकोंके प्रलोभन' में विश्व-पीड़ासे परिचित होनेका दावा करनेवाले 'बच्चन' में विश्व-पीड़ा और मानवताके प्रति संवेदना नहीं है। निजत्वसे कविता इतनी घिरी है कि उसे मानवताको देखनेका, उसके दुःख-दर्दकी पहचान करनेका अवसर कहाँ? इसी लिए उसका मोह अपनी अन्तर्ज्वाला पर है—

हाथ ले बुझती मशालें
जग चला मुझको जलाने
जल उठीं छूकर मुझे वे
धन्य अन्तर्दाह मेरी

रामकुमार वर्मा सौन्दर्य और अन्तर्जगतके गीतिकार हैं। गीतिकार अन्तरकी रस सिञ्चित भावनाको यदि व्यक्त नहीं कर सका तो वह गीतोंकी सफल रचना नहीं कर सकता। इसीलिए प्रत्येक गीतिकार अन्तर्जगतसे सम्बद्ध है। डा० वर्माका यह आन्तरिक आवेश मानवताको नहीं देखता, उसे प्रेरणा चाहिए—चाहे वह सौन्दयिक हो अथवा भावात्मक। डा० वर्माकी 'आँखोंमें आँसू हैं फिर भी' उनका रहस्य जाननेके लिए बाह्य संसारको नहीं बल्कि अन्तर्जगत्को, 'छिपा उसमें कोई अनजान'को देखना होगा। भगवतीचरण वर्माकी 'भैंसा गाड़ी' शीर्षक कविता मानवताकी करुण पुकार है किन्तु श्री वर्माका यह राग नहीं, प्रेम और उसके रूपसे ही वे अधिक आकृष्ट हैं। जीवनका सामाजिक आधार है

किन्तु जीवनकी यथातथ्यताका वर्णन आस्कर वाइल्डकी भाँति भगवती-चरण वर्माको अभीष्ट नहीं।

राष्ट्रीयता

मानवीय दृष्टिकोणका विकास सम्पूर्ण मानव-समाजकी ओर उन्मुख न होकर अपने देश, जाति या समाजतक सीमित भी रह गया। राष्ट्रियता और अन्तारराष्ट्रियताका विवाद अधिक पुराना नहीं है। राष्ट्र-वादिता जहाँ मनुष्यको गम्भीर चेतना और उत्तेजना देती है वहाँ दृष्टिको सीमित भी कर देती है। इन गीतोंमें राष्ट्रीय जागरणकी उद्भावना हमें मिलती है। राष्ट्रीय जागरणके लक्षण भारतेन्दुके गीतोंमें प्राप्त होते हैं। राष्ट्रिय गीतोंको किसी एक 'रस'के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। एक प्रश्न और है। क्या इस राष्ट्र-प्रेमकी अनुभूति सम्भव है? और यदि सम्भव है तो उसमें गहराई कितनी हो सकती है? प्राचीन आचार्योंने शृङ्गारको सीमित कर अन्य 'रति' (देवादि विषयक रति आदि) को भाव माना है और उसकी 'रस' में परिगणना नहीं की। इस भक्ति अथवा प्रेमका आलम्बन देश और उसके उपकरण हैं। अति-राष्ट्रियताका प्रचण्ड मोह अन्ध-विश्वास और एकांगी दृष्टिकोणको जन्म देता है। राष्ट्रि-यता और देशभक्ति दोनों एक नहीं हैं, राष्ट्रियता अनेक अंशोंमें बौद्धिक है और भक्ति रागात्मक; यद्यपि इस रागात्मिकतामें बौद्धिकताका मिश्रण रहता है। राष्ट्रियताके उपकरणोंमें अपने देशके प्रति प्रेम, अपने अतीत-की उज्ज्वलता के प्रति मोह, देशके शत्रुओंपर, आक्रोश अपनी अकर्मण्यता-पर शोक और विषाद एवं भविष्य निर्माणके प्रति आवेश और उत्तेजना हैं। इस प्रकार प्रेम, अभिमान आक्रोश, उत्साह दर्द और ग्लानिके भावोंसे पूर्ण देशभक्तिके गीत हैं। देशभक्ति-पूर्ण गीतोंको अलग कोटिमें

रखनेका यह तात्पर्य नहीं कि इस प्रकारके गीत काव्यके रचयि-ताओंमें इन सभी उपकरणोंका समान प्रभाव है बल्कि किसीमें एक तत्वकी प्रधानता है, किसीमें दूसरे तत्वकी। राष्ट्रियताके उद्भवका कारण राष्ट्र और राजाकी भिन्नता है। पूर्व समयमें राजा ही राष्ट्र था अतः राजभक्ति और देशभक्तिमें कोई अन्तर नहीं था। राष्ट्र और राजाके विदूरीकरणके प्रभावसे, भारतवर्षमें विदेशी सत्ताकी स्थिरता और उसके कारण उत्पन्न भावनाके कारण राष्ट्रियताका जन्म हुआ। विदेशी शासनने अचेतन रूपमें सारे भारतवर्षको एक सूत्रमें पिरो दिया। राष्ट्रिय गीतोंमें इन भावोंकी पुष्ट व्यञ्जना मिलती है।

अपने देशकी प्रकृति, यहाँके मनुष्योंसे प्रेम, इसकी धूल और वायुसे प्रेम गुप्तजीके गीतोंमें अधिक है। देशके इस रूप-विधानमें देवत्वकी भावनाका आरोप भी कहीं-कहीं प्राप्त होता है और कहीं-कहीं शुद्ध स्वरूप-प्रेमके दर्शन भी होते हैं। दैवीकरणमें सामान्यको विशेष रूप दिया जाता है और इस प्रकार 'जननी जन्मभूमि' को सर्वगुणपेत, और सौन्दर्य-शालिनी समझा जाता है। इस कारण सम्यक् दृष्टिसे अपने देश और उसकी महत्ताका विचार नहीं हो पाता। हीनताके भाव उच्चताके भावोंके रूपमें प्रकट होते हैं। अपने देशका इतना अधिक प्रेम दूसरोंको नीचा समझनेको बाध्य करता है। अति राष्ट्रियताका प्राबल्य प्रथम यूरोपीय महासमरके पश्चात् अधिक हुआ और इसके मूलमें आर्थिक नीति थी भारतवर्षके गिरि, निर्झर, वन, बाग और तड़ागके प्रति प्रेम श्रीधर पाठकमें कम नहीं। कृष्णकी—प्रियतमकी—जन्मभूमि होनेके कारण रसखानि भी ब्रजके करील कुञ्जोंपर 'केतिक हूँ कल धौतके धाम' व चुके थे। ग्राम-गीतोंमें भी यह प्रेम कम नहीं। ससुराल जाते समय ग्राम-बालिका रो-रोकर कहती है "जिस प्रकार वनकी चिड़िया उड़

बागमें आती है, उसी प्रकार पिताका घर छोड़ बेटी ससुराल चली। सावन आ गया, आसमानमें मेघ उमड़ रहे हैं। दुलहिनकी आँखें अमराईके बीच पड़ी राहपर लगी हैं। नैहरसे कोई आया नहीं। आमोंकी डालीसे हिंडोले झूलने लगे होंगे। सखियाँ झूमर और मलार गा रही होंगी। हाय रे, यह भी कोई भाग्य है जो सावन ससुरालमें बीते। इसे राष्ट्रियता नहीं कह सकते किन्तु अपने देश (स्थानके अर्थमें) से प्रेम, जिससे बालपनसे साथ रहा, उसके प्रति आकर्षण स्वाभाविक रूपसे प्रकट होता है। इस सहज स्वाभाविक प्रेममें छल, राजनीतिक चाल, आर्थिक उलट-फेरका आग्रह न होकर निश्छल हृदयका उद्गार है। देशकी प्रत्येक वस्तु सुन्दर है। भला कौन ऐसा देश है, जिसका प्राकृतिक सौन्दर्य इससे बढ़कर हो। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी 'जय जय भारत भूमि भवानी'में मातृभूमिको देवी मानकर उसका गुण-गान किया है। अन्य गीतिकारोंने भारतीय ग्राम, जन, प्रकृतिका रागात्मक अनुभूतिमय चित्र उपस्थित किया है।

एक मावों नामक स्त्री कहती है—'दम-दम लेता जा, मुझे सियालटी खन न था। [मैं तो जिस समयसे अपना घरबार छोड़कर यहाँ आयी हूँ, मुझे सोते-जागते, प्रतिक्षण अपने खेतोंकी ही सुधि आती है।]

जय-जय प्यारा भारत देश,
जय-जय प्यारा ज़ग से न्यारा, शोभित सारा देश हमारा।
जगत मुकुट जगदीश दुलारा, जय सौभाग्य सुवेश ॥जय०॥

अतीतकी उज्ज्वलताकी ओर सहसा ध्यान जाता है। अतीत गौरवके कारण छाती फूल उठती है। जिस समय सारा संसार अज्ञानान्धकारमें

भटक रहा था उस समय भारतीय सभ्य थे, ज्ञान-गानके गानसे दिशाएँ गूँज रही थीं। उपनिषद् आत्मा परमात्माकी मीमांसामें लगे थे। शस्त्र-भारसे दबी धरतीकी आत्मा काँप रही थी, उस समय महावीर और बुद्ध संसारको अहिंसाकी शिक्षा दे रहे थे। अशोककी अहिंसा पराजितकी अकर्मण्यता नहीं वल्कि विजयी राजाका अस्त्र बनकर चली। भारतीय प्राचीन विद्या, बुद्धि, संस्कृति, सभ्यता, साहित्यके प्रति जागरूकताका उद्भव हुआ। अतीतकी ओर ध्यान जानेका कारण वर्तमानकी अपनी हीनता है। कविका सन्देश है, सदा हमारी अवस्था ऐसी नहीं रही। एक दिन हम भी उन्नत और सजग थे। हमारी आजकी नक्कारखानेमें गूँजनेवाली तूती कभी बोलती भी थी। अतीत ऐसी अवस्थामें उद्बोधन देता है, अपने पूर्व गौरवकी याद दिला आत्मसम्मानका भाव उत्पन्न करता है और इस प्रकार वर्तमानसे त्राण पानेके लिए सहारा देता है। इस प्रकार अतीत केवल आवेश, साहस और उन्मेष ही नहीं देता बल्कि सान्त्वना भी। प्रताप और शिवा, गुरु गोविन्द और झाँसीकी रानी इस राष्ट्र-प्रेमके प्रतीकके रूपमें आते हैं, वे आदर्श हैं। एक दिन स्वतन्त्रता-युद्धका सञ्चालन इन्होंने किया था अतः अनुकरणीय हैं। इस प्रकारकी गीति-कविताओंमें कवियोंकी सस्ती भावुकता अधिक दीख पड़ी है, शायद गहरी आत्मानुभूतिका वह विषय भी नहीं। ऐसी अवस्थामें इन कविताओंका आधार अत्यन्त छिछला हो जाता है। अपनी विवशताके कारण उत्पन्न आत्म ग्लानि और भारतीय समाजकी दयनीय दशासे उत्पन्न शोकके कारण करुणा और सहानुभूतिका उद्भव साहित्यमें नवीनता देगा। करुणा और सहानुभूति, रोष और उत्साह, प्रेम और त्यागकी भावनाओंका एकीकरण इन कविताओंकी अपनी विशेषता है और इस दृष्टिकोणसे इनमें नवीनता पर्याप्त है। रस-

वादी कविकी करुणा स्वकीय थी, सहानुभूतिके साथ उसका साहचर्य नहीं था। राष्ट्रिय गीतिकारमें देशकी अवस्थासे जहाँ क्षोभ है वहाँ पीड़ित जन्म-भूमिके निवासियोंके प्रति सहानुभूति है। अनेक लोगोंने ऐसे गीतोंकी रचनासे परम्पराका पालन किया है, इसमें सन्देह नहीं, ऐसे कवियोंका भी अभाव नहीं जो Weather Cock हैं, किन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि अनेककी कविताओंमें अन्तरका रस भी विद्यमान है। रसा-त्मकता तथा अन्ययकी कसौटी सहृदयकी भावना मात्र है। यदि समान रसकी अनुभूति ऐसे गीतोंसे जग सकती हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें रसानुभूतिके तत्त्व नहीं। इसके साथ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि ऐसे गीत अति भावुकता (Sentimentalism)के कारण स्थानीय प्रभावकी होती हैं, कारण जिस आधारपर वह टिकी रहती है, उसके प्रभाव-के कारण सम्बन्ध भावनाएँ हैं। ऐसी कविताओंसे यदि उन उपकरणोंको हटा लें तो कविता महत्त्वहीन, परकटे कबूतरकी भाँति पृथ्वीपर आ गिरती है। उस प्रभावके मूलमें अतीतके मोहकी भावना रहती है और वर्तमानके प्रति आक्रोश एवं तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक व्यव-स्थाके प्रति असन्तोष और इस विदेशी सरकार और विदेशियोंके प्रति घृणा।

वर्तमान अवनतिके प्रति क्षोभकी भावनाके दर्शन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई। हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई'में मिलते हैं। किन्तु यहाँ स्मरण रखना होगा कि भारतीय दुर्दशाके प्रति क्षोभ, और राष्ट्रिय भावनाका विकास भारतेन्दुके मुक्त गीतोंमें नहीं बल्कि नाटकोंके गीतोंमें हुआ। उन्हें पूर्ण गीति-काव्यका स्वरूप उस समय प्राप्त न हो सका था। माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और 'दिनकर'में इनमेंसे अनेक भावनाओंके दर्शन किसी न किसी रूपमें मिलते हैं। प्रगतिवादी कविता बौद्धिक है,

उसमें रसानुभूतिके तत्त्व अमान्य अक्षर हैं। कविताके सामाजिक आधारकी उपेक्षा किये बगैर कहा जा सकता है कि बौद्धिक चेतना जहाँ क्रान्ति और कुछ सामाजिक व्यवस्थाको उलटनेका भार वहन करती है, वहाँ अनुभूति-को भी अपने अधीन रखनेका प्रयत्न करती है। यदि बौद्धिक चेतनाके साथ रागात्मक आवेगका समन्वय हो जाय कविता स्वरूप विधान करती है। इन कविताओंसे रसानुभूति होती है, इनकार अभी मुमकिन नहीं, शायद हो भी नहीं सकता कारण रसानुभूति वैयक्तिक है और रसानुभूतिके लिए पाठकको कविके उस मानसिक धरातलपर पहुँचना होता है। किन्तु प्रश्न वहीं जटिल हो जाता है, जहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि कविको वैसी अनुभूति हुई है अथवा नहीं। काव्यमें सत्यताके प्रश्नको मैं सदा खुली आँखों देखनेका प्रयत्न करता रहा हूँ। मैं घटनाओंकी सत्यता अथवा स्वरूप-सत्यताको आवश्यक नहीं समझता मैं अनुभूतिकी सत्यताका कायल हूँ। कवि अनुभूतिको उसके वातावरणसे अलग कर उसे दूसरा रूप देता है। ऐसी अवस्थामें मैं समझता हूँ कि मजदूर-वर्गमें रहनेवाले व्यक्तिमें सामन्तशाही भावनाएँ हो सकती हैं। वास्तविक कारण मानसिक संस्कार Pattern और make-up है। सिद्धान्तोंकी चर्चा छोड़कर यह कहा जा सकता है कि ऐसे गीत प्राप्त हैं, जिनमें आशा, निराशा, रोष, क्षोभ, उत्साह, ग्लानि, मोहकी अभिव्यञ्जना हुई है।

बौद्धिकता

गीति-काव्य अनुभूति-प्रधान, रागात्मक आवेशपूर्ण क्षणोंकी लयात्मक वाणी है। कविताका प्रभाव चाहे वह किसी प्रकारकी कविता हो, उसकी संवेदनशीलता और तदनुरूप भावना जाग्रत कर सकनेकी शक्ति-में है। कविता तर्क-प्रणाली नहीं है और तर्क-सम्मत रचनाओंको शायद

भूतिको भावनाके रूपमें उपस्थित करे। यह अधिक अंशोंमें अचेतन मानसिक क्रिया है। अनुभूति किस समय भावना बन जाती है, यह कविको पता नहीं रहता और अनायास विचार अनुभूतिके साथ घुल-मिल जाते हैं। यह बुद्धिका व्यापार नहीं अपितु बौद्धिक चेतनाका फल है। गीति-कविता और प्रत्येक प्रकारकी कविता जब बुद्धि-व्यापार हो उठती है तब वह कविता नहीं रह जाती। पन्तकी प्रगतिशील कही जानेवाली कविताओंमें बौद्धिकताके इसी प्रबल आग्रहके कारण कवित्वसे अधिक बुद्धिवादका समावेश हो गया। कवि जहाँ जान-बूझकर ज्ञान-विज्ञान छाँटने लगता है, वह कविसे अधिक उपदेशक बन जाता है। ऐसी कविताओंसे रसानुभूति नहीं हो सकती। अचेतन मानसिक क्रिया होनेपर भी बुद्धि और अनुभूतिके सामञ्जस्यपर ही गीति-काव्यकी सफलता निर्भर करती है। पन्त—प्रगतिवादी पन्तमें यह अधिक मात्रामें दीख पड़ती है। दार्शनिकता बुद्धि-व्यापारका फल है अतः दर्शनका अधिक मात्रामें आग्रह काव्यत्वको नष्ट कर देता है। दार्शनिकताकी बौद्धिकतापर विचार आगे चलकर किया जायगा; यहाँ बुद्धि-तत्त्वके साधारण रूपपर हमें विचार करना चाहिए। मात्राके सम्बन्धमें एकमत होना शायद सम्भव नहीं। विचारोंकी पुष्टताके कारण काव्यत्वमें स्पष्टता आवश्यक नहीं, कारण अनेक अंशोंमें कवि विचारोंको छिपानेका प्रयास करता है। राष्ट्रिय कहे जानेवाले गीतोंमें रसात्मकताके अभावका कारण बौद्धिकताका आग्रह भी है। बौद्धिकता और बुद्धि-व्यापारके फलमें भी अन्तर है, बौद्धिकताके आग्रहके कारण गीति-काव्य जहाँ विचार-प्रधान और आदर्श-प्रधान हो जाता है वहाँ बुद्धि-व्यापार बौद्धिक जिज्ञासाका फल होनेपर काव्यत्व ही नष्ट कर देता है। ग्राम-गीतोंमें बौद्धिकता अनुभूतिके ऊपर शासन नहीं करती। उनमें

जन्य काल्पनिक चित्र वहाँ नहीं मिलते। ग्राम-गीतोंका यह मर्म समझने-के लिए काव्य-परम्परा और कवि सम्प्रदायानुमोदित संस्कारकी आवश्यकता नहीं; कवि और उसके पाठकमें बौद्धिक समझौतेकी आवश्यकता नहीं; एक दूसरेके समक्ष एकदम खुले हैं, क्योंकि दुराव नहीं। 'कविता मात्रके आस्वादके लिए जिस सहृदयता, जिस रसिकताकी अपेक्षा होती है उसमें बुद्धिका पराभव रहता है। हृदय सनातन है, बुद्धि गति-शील है।' (सुधांशु: जीवनके तत्त्व और काव्यके सिद्धांत पृ० १९७) बात, कुछ ऐसी नहीं। इसमें बुद्धिका पराभव नहीं बल्कि बुद्धि और अनुभूतिके सम्यक् सामञ्जस्यकी अपेक्षा है। हृदयका यहाँ अर्थ रागात्मक प्रवृत्तिसे लेना चाहिए। हृदयको चिरन्तन कहनेका यदि यह अर्थ हो कि रागात्मक अनुभूतियोंके प्रकार अथवा मात्रामें कोई अन्तर नहीं होता तो यह भ्रामक होगा। रागात्मक अनुभूतिके आवेश, आवेग, तीव्रता आदि-के मूलमें मानसिक क्रियाका अचेतन प्रभाव है। सौन्दर्यानुभूतिकी क्षमता बौद्धिक चेतनाके कारण भिन्न हो उठती है। सौन्दर्यकी भावना ही भिन्न रूपसे उपस्थित होती है। काव्य-रसिकके लिए तर्क-हीन बननेकी आवश्यकता नहीं बल्कि बुद्धिको रागात्मकताके साथकी आवश्यकता होती है। कामायनी (श्रद्धा-रागात्मकता) और इड़ा (बुद्धि-तर्क) के संयोगसे ही कलाका जन्म होता है। बुद्धिवादिता कहकर तिरस्कार करनेका मूल कारण रागात्मक अनुभूतिका अपरिचय है। सत्यताके लिए घटनाओंकी सत्यतासे अनुभूतिका सत्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। सूरकी गोपियोंमें स्वाभा-विकता है, नन्ददासकी गोपियोंकी भाँति पाण्डित्य नहीं; वे नन्ददासकी गोपियोंकी भाँति तर्क और बुद्धिके कारण सगुण-निर्गुणकी विवेचना नहीं करतीं। गुणोंके उद्गम-विकासपर पाण्डित्य नहीं बघारतीं, सहज स्वाभाविक रूपमें मनोवृत्ति और मनोदशाका निवेदन करती हैं किन्तु ऐसा भी नहीं

कि वे गाँवकी रहनेवाली ग्वालिनमात्र हैं, वे अहीरनकी छोहिरियाँमात्र भी नहीं, बुद्धि और तर्कसे अपरिचित भी नहीं, फिर भी बुद्धिको वे हार्दिकतासे ऊपर नहीं जाने देतीं। यह गोपियोंकी अबुद्धिवादिता नहीं, बल्कि एकांतिकता सिद्ध करता है। इसका जीवनकी विस्तृत पृष्ठ भूमिपर विचार आवश्यक है। 'मीरा'की तल्लीनता और निर्भीकताका मूल बुद्धिहीनता नहीं बल्कि चेतनाका ज्वलन्त रूप है। बुद्धिवादिता आज अपने अत्यन्त छिछले अर्थमें प्रयुक्त होती देखी जा रही है। जीवन-व्यापारके मार्गमें मनुष्यने जिन कृत्रिम बन्धनोंको स्वीकार कर लिया है सुगमताके लिए उनका निर्वाह आवश्यक हो जाता है; ऐसी अवस्थामें व्यक्ति-विशेषके लिए चारों ओर नजर रखकर चलना, भयाकुलता और संशयके साथ प्रगतिशील होना बौद्धिकताकी कसौटी हो गयी है। अनुभूतिकी तीव्रताके समक्ष इस कृत्रिमताकी चेतना अति प्रबुद्ध चेतना (Supercons-ciouness) के कारण दब जाती है जिस प्रकार गैसके प्रकाशमें लाल-

विना दुखके सब सुख निस्सार,
विना आँसूके जीवन भार;
दीन दुर्बल है रे संसार,
इसीसे दया, क्षमा औ प्यार;
आजका दुख कलका आह्लाद,
और कलका सुख आज विषाद;
समस्या स्वप्न-गूढ़ संसार,
पूर्ति जिसकी उसपार;
जगत जीवनका अर्थ विकास,
मृत्यु, गति क्रमका ह्रास;—पन्त

जगकी अनित्यता देख पन्तमें स्वाभाविक क्षोभ जाग्रत हो उठता है। वे जिस चिरन्तन भावनाको साकार करना चाहते हैं, उसके अनित्य रूपको देख निराशा और क्षोभसे चञ्चल हो उठते हैं। किन्तु परिवर्तन रूपका परिवर्तन है, कुछ तत्त्वका नहीं। इस अनित्यताके भीतर कविकी बुद्धि [illegible] देखती है और अनित्यतामें सान्त्वना प्राप्त करती है। [illegible] आवेग जगकी अनित्यता देख जाग्रत होता है। वह जीवनकी [illegible] और विकलताओंकी ओर आकृष्ट होता है। उसकी जाग्रत [illegible] 'दिव्य सौन्दर्य, स्नेह-आकार, भावनामय संसारको 'कहीं राखी' और 'कहीं [illegible]' बनते देखती है किन्तु बौद्धिक चेतना अन्ततक [illegible] है और भावनाके स्थानमें दार्शनिक [illegible] प्रश्न भी उठता है। फिर भी वह बुद्धि-व्यापार अथवा [illegible] नहीं।

[illegible] भावना है प्रति क्षणमें
नव [illegible] तुषार कणमें

रागात्मक वृत्तिका उपयोग प्राप्त हो, गीति-काव्यमें उन्हें स्थान प्राप्त है। कविताके साथ दार्शनिकता — इसके व्यापक अर्थमें — सम्बन्ध अक्षुण्ण है। दार्शनिकता, आध्यात्मिकता अथवा धार्मिकता बुद्धि-व्यापारका फल मात्र न होकर रागात्मक आवेग पूर्ण हो, केवल इसीकी आवश्यकता है। इनके आवेगके कारण विचार-धारा अथवा दृष्टिकोण परिवर्तित हो सकता है अथवा रागात्मक आवेग विचारके साथ मिलकर इस प्रकारकी भावना-का रूप ग्रहण कर सकता है। लेकिन दर्शनके वाद-विवाद और अध्यात्म के पद-विरल चिन्तन छन्दोंमें बाँध देनेके कारण ही गीतोंकी संज्ञामें नहीं। भक्तिमें रागात्मक आवेगका आधार होनेके कारण गीति-काव्यके तत्त्व हैं। आत्म निवेदन और विनयमें अधिक अंशोंमें परम्पराका पालन हुआ है जिससे उनमें व्यक्तित्व और वैयक्तिकता, एवं स्वानुभूति और भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए स्थान कम रह गया। गीति काव्य रूढ़ि-वादिता सहन नहीं कर सकता। अनेक भक्तोंके कथन ही नहीं बल्कि शब्दावली तक एक है। एककी भावनाको दूसरेकी भावनासे अलग कर सकना सम्भव नहीं होता। यहाँ तक कि अनेक बड़े बड़े कवियोंकी वाणी-में एक दूसरेकी ध्वनि आती है। इसे देखकर ही किसी आलोचकने इन्हें गीति-काव्यके अन्तर्गत नहीं गिना है। इस प्रश्नपर विचार करते समय आलोचकको यह नहीं भूलना चाहिये कि परम्परा और प्रगति सापेक्ष हैं। आजकी परम्परा कलकी प्रगति थी और आजकी प्रगति कल-की परम्परा होगी। परम्पराके इस प्रवाहमें नवीनताके उन्मेषसे दीप्त सक्षम कवि नयी टेकनीक उपस्थित करता है। साधारण और अक्षम किन्तु काव्यत्वके मोहमें जकड़े व्यक्ति कविताके प्रभावका कारण उस टेकनीक उस विधानको ही समझ लेते हैं ऐसी अवस्थामें उसकी नकल प्रारम्भ हो जाती है केवल टेकनीककी अनुभूति की नहीं, कारण उसकी नकल

सम्भव नहीं। रागात्मक आवेशके क्षीण क्षणोंको कल्पनाद्वारा उत्तेजना देनेका प्रयास होता रहता है। प्रत्येक प्रकारकी कविताके उद्भव और विकासके उपयुक्त सामाजिक परिस्थितिकी अपेक्षा होती है। सामाजिक स्थितिके परिवर्तनके साथ सामाजिक भावना परिवर्तित होकर नये रूप विधानकी अपेक्षा करने लगती है किन्तु परम्परा और काव्यत्वके निश्चित सिद्धान्तका मुखापेक्षी कवि वीरोंके पुराने नारोंको झंकृत करनेमें ही लीन रहता है, जब कि उसके लिए लोगोंके कान पुराने हो चुके रहते हैं। प्राचीन कवियोंके प्रभावके मूल हृदयकी अप्रगतिशीलता अथवा अबौद्धिकता नहीं बल्कि रागात्मक अनुभूतिके आवेशकी तीव्रता है। छायावाद-युगीन कविताके प्रवाहमें आँसुओंका अर्घ्य चढ़ानेवाले कवियोंकी संख्या कम नहीं। आज भी यह रोग कम नहीं हुआ है, और रोने वालोंके आँसुओंसे पत्रप-त्रिकाओंकी चुनरीमें दाग लग रहा है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि इनमेंसे अनेक प्याजका रस आँखोंमें लगाकर रोनेका स्वांग भरनेवाली चल चित्रोंकी तारिकाओंकी भाँति रोते नहीं, बहाना करते हैं बल्कि यह कहना चाहता हूँ कि रागात्मक आवेशके क्षीण क्षणोंमें अनुभूतिकी गहराईका बहाना वे करते हैं ओर इस प्रकार वैसी कविताको जन्म देते हैं। प्रत्येक युगमें फैशनकी चाल रहती है। वेश-भूषा, बातचीतसे लेकर कविता आदि कलाओंतकमें। ऐसे लोग फैशनके शिकार होते हैं। भक्ति कालके कवियोंमें यह फैशन न हो, यह सम्भव नहीं, अतः धार्मिक गीतोंके विरुद्ध निर्णय देते समय इन Pretenders की ओर ही हमारा ध्यान नहीं जाना चाहिये। कोई कवि अपनेको छिपाकर काव्य रचना नहीं कर सकता और यदि वह ऐसा करता है, उसका व्यक्तित्व ही उसे धोखा देगा। व्यक्तित्वकी अभिव्यक्तिको भी इसके व्यापक अर्थमें लेना पड़ेगा। शब्दोंके साथ एक कठिनाई है कि भावात्मक शब्द सभी

इन्हें लगाकर भविष्य स्वप्नमें
आप कहाँ छिप जाता है ?
सब जीवन बीता जाता है ।

जीवनकी अनित्यताका एक दूसरे दृष्टिकोणसे निरूपण है । इसमें भी निराशा है । जीवनमें यह रोना बना रहता है कि हम सुखके क्षणोंको बाँध नहीं रख पाते, वे क्षण उड़ते चले जाते हैं । हाय री विवशता, इन्हें रोकनेकी चाह करते भी मनुष्य रोक नहीं पाता, यह निर्बलताकी सीमा है। मनुष्य कितना निर्बल, अक्षम और दीन है ! प्रत्येक क्षण जीवनकी नयी कठिनाइयोंसे परिचय करा कहाँ छिप जाता है ? बेबसी, लाचारीका स्थूल रेखा-चित्र यहाँ है किन्तु इस चित्रमें मनोवृत्ति, और बुद्धिका सामञ्जस्य है । यद्यपि उनकी अनित्यता और विवशताके प्रति बौद्धिक जागरणके लक्षण कम नहीं । बौद्धिक जिमनास्टिकके लिए दूर जानेकी आवश्यकता नहीं, हिन्दीके आधुनिक साहित्यमें इसके पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हैं ।

दर्शन, आधार अध्यात्मका धार्मिक सदा बना रहा । धर्म शब्दका प्रयोग यहाँ इसके विस्तृत अर्थमें मैं कर रहा हूँ अन्यथा भौतिक दर्शनको धर्मका आधार प्राप्त कहाँ ? प्रत्येक धर्मका दार्शनिक आधार है । अतः धर्म और दर्शन एक दूसरेका सहाय्य प्राप्त कर आगे बढ़ते रहे हैं । आध्यात्मिकता दर्शनके फलस्वरूप है । दर्शन धर्मका विचारात्मक और धर्म दर्शनका क्रियात्मक रूप है । आध्यात्मिकता बौद्धिकताको भावनात्मक बनानेका प्रयास करती है । इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्मका विभिन्न रूपोंमें हमें दर्शन होता है । धार्मिकतामें विश्वास रखनेवाला Realization प्रत्यक्षीकरणमें आस्था रखता है और इस प्रकार अनास्था और जिज्ञासाको दबा रखना चाहता है । धर्मकी इस आस्थाको तर्क-सम्मत आधार देनेका प्रयास दर्शनद्वारा

किया जाता है, कारण दर्शनका मूल जिज्ञासा है। धर्मके क्रियात्मक रूपका पालक धार्मिक है दार्शनिक नहीं और क्रियाके मूलभूत सिद्धान्तकी परीक्षा, और व्याख्या करनेवाला तत्त्व-चिन्तक दार्शनिक है, धार्मिक नहीं। तत्त्व-चिन्ताका अतः सम्बन्ध दर्शनसे है। काव्यका यह तत्त्व-चिन्तक आधार भी है, जिसे काव्य-दर्शन कहा जा सकता है, काव्य-शास्त्र नहीं। काव्य-दर्शनका जीवन दर्शनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। अध्यात्मवादका सम्बन्ध आत्मा-परमात्माके सम्बन्ध और उनके बौद्धिक निरूपणसे है। अध्यात्मवाद और धर्म विश्वासको लेकर चलते हैं और दार्शनिकता जिज्ञासा अथवा अनास्थाको; किन्तु इसकी परिणति भी आस्थामें होती है। धर्म और भक्तिका चिर साहचर्य नहीं है, जैसा साधारणतया लोग समझते हैं। धार्मिक भावनामें रागात्मक आवेश है अथवा नहीं इस प्रश्नपर विचार करनेका यहाँ अवसर नहीं। धार्मिक कृत्योंके साथ गीतोंका साथ आवश्यक सा है। धार्मिक त्योहारोंपर गीतनाट्य, वाद्यकी योजना-का विधान प्रत्येक धर्ममें है, संस्कारोंके साथ भी गीतोंका विधान है, इन संस्कारोंको पीछे चलकर इतनी प्रमुखता मिली कि वे स्वयं धार्मिकता-के अनिवार्य अंग बन गये। बहुत सम्भव है, धार्मिक कृत्योंकी एक रसताको सरस बनाने और रागात्मक आवेश उत्पन्न करनेके लिए या कृत्रिम साधन हो। धर्ममें बुद्धिके लिए स्थान नहीं, वहाँ विश्वास लेक चलना पड़ता है। फलस्वरूप ज्ञान उसका साथ नहीं देता। भक्ति राग त्मक वृत्तिका शोधित रूप है किन्तु शोधका कारण ज्ञान और उसक अपेक्षा है इसीलिए भक्तिके लिए ज्ञानकी और ज्ञानके सम्यक् प्रभाव लिए भक्ति अथवा श्रद्धाकी आवश्यकता है। गीतोंमें रागात्मक अनुभू की नितान्त अपेक्षा है, बौद्धिकता उसकी सम्पूर्तिके लिए ही आ सक है अतः यदि धार्मिक भावना, आध्यात्मिकता और दार्शनिकताको उपर

व्यक्तियोंमें भी एक ही भावके दूसरे प्रभाव (Shade) को प्रकट करते हैं अतः भाव-समतामें अनन्तर आ जाता है। शब्द और उसके गुणोंके शब्दोंके सम्बन्धमें भी यह पूर्ण सत्य है। व्यक्तित्वका अर्थ, व्यक्तिके विचार, दृष्टिकोण, भावना और अनुभूतिके साथ उसके प्रकार— जैसे गम्भीर, छिछला, कृत्रिम, प्रभावशाली, सामान्य आदिसे भी सम्बन्ध रखता है। गीति-काव्य इसे पूर्ण रूपसे स्पष्ट कर देता है। केशवदासकी कविता किसी गम्भीर व्यक्तित्वकी सूचना नहीं देती। रामचन्द्रिका लिखनेपर भी उन्हें कोई भक्त स्वीकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार विद्यापतिको दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक कवि कहनेके लिए केवल साहसकी ही अपेक्षा नहीं बल्कि व्याख्याको प्रकृत मार्ग छोड़ दूसरा मार्ग ग्रहण करना पड़ेगा। वह अनेक अंशोंमें कविकी विशेषता न होकर व्याख्याकारकी विशेषता होगी और इस प्रयासको बिहारी सतसईकी वैद्यकी टीकासे अधिक महत्त्व नहीं मिल सकता। राधाकृष्णको आलम्बन रूपमें ग्रहण करनेका कारण सेंसर (Censor) से बचनेका प्रयास है यदि सामाजिक भावना और कवियोंकी भावनामें सामञ्जस्य होता कवियोंको इस प्रकारके वक्र मार्गका अवलम्बन नहीं करना पड़ता। सूर-तुलसी-विद्यापतिमें भावोन्मेषकी इतनी तीव्र क्षमता है कि व्यक्तित्वकी स्पष्ट अभिव्यक्तिके अभावमें भी उनकी मनोवृत्तिका भेद छिपा नहीं रहता। सूरकी संवेदनशील प्रवृत्ति और तुलसीकी गम्भीरता और व्यापकतामें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। सूरमें जहाँ गम्भीरता है वहाँ तुलसीमें व्यापकता; सूरमें स्वच्छन्दता है और तुलसीमें संयम। विद्यापतिकी कविता उनकी सौन्दर्य-प्रियतासे ओत-प्रोत है किन्तु न तो सूरका भावोन्मेष है और न तुलसीकी व्यापकता। मीराकी तल्लीनता भी नहीं किन्तु आकर्षणका तीव्र आग्रह, अवश्य है, विशदता नहीं लेकिन प्रभाव है। विद्यापति सौन्दर्यको स्थान स्थानपर

देखते हैं, उनके रूप विधानमें प्रभावसे अधिक चिन्मत्ता है। तुलसीका सौन्दर्य-बोध व्यापक प्रभावका कारण है। इस प्रकार गीति-काव्यकी प्रकृतिद्वारा व्यक्तित्वके प्रकार और प्रवृत्तिका संकेत मिलता है।

केवल राधाकृष्णके नाम लेने मात्रसे ही धार्मिकताका आरोप नहीं समझना चाहिये। भिखारीदासने अपनी कविताको 'राधा-गोविन्द'के गुण गानेका बहाना कहा है। अपनी वासनाको राधा-कृष्णमें स्थापित करने-का प्रयास उस समयके कवियोंका है, जैसे आजका कवि अपनी वासनाको प्रकृतिमें वितरित देखता है। कबीरमें धार्मिकता कम, दर्शनका आग्रह और आध्यात्मिकताका आवेश अधिक है। कर्म-काण्डवादी धर्मोंका विरोध कबीरका लक्ष्य है अतः तर्क और विचारका अवलम्बन, चमत्कार-प्रदर्शन, कृत्रिम गम्भीरताका आरोप कबीरमें है किन्तु इसके तलमें कबीरका सहज, स्वाभाविक, सरल और अकृत्रिम व्यक्तित्व और निश्छल प्रेम भी है। उद्दंडता कृत्रिम है और निर्भीकता स्वाभाविक। कविकी मानसिक प्रवृत्तिको उसकी परिस्थिति और युगकी पृष्ठभूमिमें देखना पड़ेगा। आजका युग धार्मिक नहीं है और न धर्मकी अधिक प्रबलता रह सकेगी, इसका कारण धर्मकी रागात्मक अनुभूति उत्पन्न कर सकनेकी अक्षमता है। व्यक्तिके प्रति जो वृत्ति है वह धर्म और ईश्वरके प्रति भक्तिका स्वरूप लेती है, सामाजिक व्यापारपर वह नीति है, दोनोंका समन्वय धर्म-नीति है। काव्य-के प्रति [illegible] मात्र राजनीति है। इस प्रकार राजनीतिक, सामा-[illegible] [illegible] दूसरे ईश्वरका विधान कर लिया है अतः [illegible] [illegible] और बौद्धिक युगमें नहीं रह सकता। [illegible] कुठाराघात किया है। किन्तु आध्या-[illegible] और [illegible] कम नहीं हो सका है यद्यपि [illegible] भावनाके अन्तिम कलाकार हैं।

दर्शन स्वयं काव्य नहीं और न उसे काव्य रूपमें ग्रहण किया
जा सकता है। जिसमें दार्शनिक सिद्धान्तोंको छन्द-बन्धनकी चेष्टा है, उस
काव्यत्व नहीं है चाहे, वह बड़ासे बड़ा दार्शनिक क्यों न हो। दर्
चिन्तनके क्षेत्रमें है और गीति काव्य अनुभूतिके। अनुभूति और चिन्तन
समन्वय करनेकी चेष्टा रहस्यवादमें हुई है। अज्ञात प्रियतमके प्र
मनोवृत्तियोंकी सरल विवृत्ति सम्भव है अथवा नहीं, यह प्रश्न दूसरा है
कलाकार किसीकी अनुभूति प्रकृतिके उपकरणोंमें अथवा व्यक्त जगत
जाता है अथवा व्यक्तके किसी रूपसे आकृष्ट हो चिन्तनद्वारा अव्यक्त
प्रति रागात्मक सम्बन्धका आभास-मात्र प्राप्त कर सकता है, उसमें रहस्
वादिता है। जीवन और कलाको एक साथ मिलाकर देखनेव
कलाकारके विचार, अन्तर्प्रकृति और प्रवृत्ति, एवं उनके शोध
स्पष्ट नहीं देख पाते. अतः उनकी धारणाएँ भ्रमात्मक आधार
स्थित हैं। चिन्तन और अनुभूतिके सामञ्जस्यसे रहस्यवादिता
मधुर रूप यहाँ देखनेको मिलता है—

मेरे ओ विहंग से गान !
नभसे अपरिमित में भले हो पंथका साथी सवेरा,
खोजका पर अन्त है यह तृणोंका लघु बसेरा !
तुम उड़ो ले धूलिका
करुणा सजल वरदान ! —महादे

किन्तु चिन्तन वह भी अपना नहीं, जो दार्शनिकोंके परम्परा
विचार हैं, उन्हें छन्दोंमें बाँधना गीति-काव्य नहीं हो सकता। गीति
काव्य दार्शनिकोंके चिन्तनको भावना और अनुभूतिके क्षेत्रमें उतार दे
है, यदि चिन्तनका आग्रह लेकर हमारे सामने उपस्थित हो वह गीति

काव्य नहीं । परम्परागत दार्शनिक चिन्तनका अधिक प्रभाव इन पंक्तियोंमें मिलता है—

> मैं ही साधक साधना, साध्य
> सेवक, सेवा मैं स्वयं सेव्य
> बाधक, बाधा मैं ही अबाध्य —प्रभात

प्रगतिशील कही जानेवाली कविताओंमें अध्यात्म और धर्मकी भावना नहीं है किन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शनका प्रभाव स्पष्ट है । उनमें कवित्वका अभाव इसलिए नहीं है कि दार्शनिक आधार उन्हें प्राप्त नहीं बल्कि इसलिए है कि बौद्धिकता और चिन्तन ही प्रमुख रहते हैं, अनुभूति कुनमुनाकर रह जाती है अथवा जगती नहीं । इसके साथ ही

सौन्दर्यानुभूतिका आधार वस्तु नहीं स्वयं द्रष्टा है। अधिकरण और वस्तु दोनोंके समन्वयमें सौन्दर्यानुभूति अतः कलात्मक प्रवृत्तिकी सन्तुष्टि है। वस्तु द्रष्टाकी सौन्दर्य-भावनाकी सन्तुष्टिका आधार है और द्रष्टामें उस वस्तुसे चेतनाके उन उद्बुद्ध क्षणोंमें सौन्दर्यानुभूति ग्रहण करनेकी शक्ति। मानवता सदा सौन्दर्यके निरीक्षण-परीक्षण और निर्माणमें लगी रही और इस सौन्दर्य-भावनाका विकास और उसकी अभिव्यक्ति सभ्यता और संस्कृतिकी चेतनाके साथ सम्बद्ध हो गयी। 'शायरी मर चुकी अब जिन्दः न होगी यारो' में हालीने बुद्धिवादिताके कारण होनेवाले काव्यत्व-ह्रासकी ओर संकेत किया है किन्तु वहाँ उसने सौन्दर्य-भावनाके विकासकी ओर ध्यान नहीं दिया। सौन्दर्यके इस व्यापक प्रभावसे मानवको कभी मुक्ति नहीं मिल सकी और न मिल सकेगी। केवल स्वरूप-विधान और जिन उपकरणोंसे सौन्दर्य-भावनाकी परितुष्टि होती रही, उनमें अन्तर आता रहा। इस सौन्दर्य-भावनाकी परिणति नारी-सौन्दर्य (पुरुष-सौन्दर्य भी), प्रकृति-सौन्दर्य, नाद और शब्द-सौन्दर्यके रूपमें हुई। प्रकृति-सौन्दर्य एवं नाद और शब्द-सौन्दर्यकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। सौन्दर्य मनुष्यको प्रभावित करनेमें अधिक प्रबल है, अतः काव्यमें इसका अन्यतम स्थान है। गीति-काव्य, कविताकी कविता है, अतः इसमें सौन्दर्य-चित्रण प्रचुर मात्रामें मिलता है। मानवीय सौन्दर्य केवल बाह्य नहीं, आन्तरिक भी है। अतः इस प्रकार सौन्दर्यके दोनों रूपोंका प्रत्यक्षीकरण मिलेगा। नारी-सौन्दर्यका चित्र ग्राम-गीतोंमें मिलता है। गीति-काव्यकी स्त्रैण प्रकृति है, इसका तात्पर्य यह है कि भावुकता और कोमल-भावनाका प्रसार इनमें अधिक है एवं गीतोंका प्रचार स्त्रियोंमें अधिक होनेके कारण उनके जीवनको घेरनेवाली घटनाओंका चित्रण अधिक है। नारी-सौन्दर्यका चित्र है—

जिरवै अस धन पातरि कुसुम अस सुन्दरि।
रामा चढ़ि गई पिया की अटरिया सोई सुख नींद ॥

[धनि (स्त्री) जीरेकी तरह पतली और कुसुमके फूलकी तरह सुन्दरी है। वह अपने प्राणप्यारेकी अटारीपर चढ़ गयी और सुखकी नींद सो गयी।]

चूमौं मैं ननदी क ओठवा चउर अस दँतवाँ

[ननँद, मैं तुम्हारे होठ चूमती हूँ, तुम्हारे चावल ऐसे नन्हें नन्हें दाँत चूमती हूँ।]

अगहन कुँआरी करती सिंगार। सिमाती बसतर सोने के तार।
पाट पटम्बर कुलही के भानि, माथे चीरा जड़े कलीदार ॥
गले वैजन्ती

[अगहनमें कुमारियाँ शृंगार करती हैं। जरीके तारोंसे वस्त्र सिलाती हैं रेशमी कपड़े पहनती है। मायेपर सुन्दर चीर और गले वैजयन्ती माला पहनती हैं।

पुरुष-सौन्दर्यके एक-आध चित्र हैं—
आँखि तोरी देखूँ ये दुलहा अमवा की फँकिया रे
भौंह तोरी चढ़ली कमान रे

[हे दूल्हा! आँखें तो तुम्हारी आमकी फाँकें हैं और तुम्हारी तो चढ़ी हुई कमान हैं।]

एक विवाहार्थिनी बालिका अपने पितासे वरके सौन्दर्यके सम्ब

कहती है—'तारे ओँ चिन्नी चन्द' (तारोंमें चन्द्रमाकेसमान) वर चुनना। मिथिलाका एक गीत है—

एहि चितचोरवा के चोखे हगकोरवा
ओठवा अनुठवा कहओलनि हे

[हे सखि ! इस चितचोरकी आँखोंकी कोर नुकीली है। होठ अनूठे हैं।]

एहि चित चोरवा के लालि लालि ठोरवा
मन मोरवा भरमओलनि हे।

[हे सखि, इस चित-चोरके लाल-लाल होठ हैं और इन्होंने मेरे चित्तको भ्रममें डाल दिया है, आकर्षित कर लिया है।]

विद्यापतिके गीतोंमें सौन्दर्य-चित्रण अधिक है। संस्कृत काव्यकी परम्परासे प्रेरणा पानेके कारण सौन्दर्यके प्रत्यक्षीकरणमें उपमा, रूपक आदि सादृश्य मूलक अलंकारोंका प्रयोग विद्यापति और इनके बादके भक्त कवियोंने किया। सौन्दर्य स्थूल रेखाओंमें घिरा और स्पष्ट है। इस सौन्दर्यके चित्रणके आधार-स्वरूप उपमानोंमें सौन्दर्यकी कल्पना अनेक अवस्थाओंमें परम्परा-गत रही। चन्द्र, भ्रमर, पिक, दाड़िम, नागिन कमल, सिंह आदि सर्वमान्य उपमान रहे। सादृश्य मूलक अलंकारोंमें भी प्रभावका अधिक हाथ रहा लेकिन रूढ़िगत होनेपर वास्तविकताका वह अंश दूर हो गया और केवल परम्पराके प्रतिपालनमें ही सौन्दर्य-वर्णनकी इति-श्री हो गयी। रीतिकालमें आकर यह मनोवृत्ति इतनी अधिक विकृत हो गयी कि कवियोंकी नायिकाएँ वीभत्स चित्र उपस्थित करने लगीं। अतिशयोक्ति अपने उस विकृत रूपमें

उपस्थित हुई, जिसमें हास्य और व्यंग्यका उपादान बनने लगी। 'कटि' के वर्णनमें कवियोंकी अतिशयोक्तिको भी पर लग गये हैं। पद्माकर कटिके लोपके सम्बन्धमें कहते हैं—'जानि न ऐसी चढ़ाचढ़िमें केहिं धौं कटि बीचहि लूट लई सी' और बिहारीकी नायिकाकी कटि तो 'सूछम कटि परब्रह्म लौं अलख लखी नहिं जाय' है। 'शंकर' महाराजको 'भावमें अभाव है अभाव में धौं भाव भर्‌यो' के समान 'कमरकी अकथ कहानी' दीख पड़ती है। कमरकी इस बारीकीका वर्णन उर्दूका एक कवि करता है—

सनम सुनते हैं तेरे भी कमर है।
कहाँ है, किस तरफ को है, किधर है।

इसे ही दृष्टिमें रखकर 'अकबर' इलाहाबादीने लिखा था—

मगरिबने खुर्दबींसे कमर उनकी देख ली
मशरिककी शायरीका मजा किरकिरा हुआ।

कटाक्षोंकी तेजीसे डरकर 'आलम' उपदेश देते हैं कि 'काजर दे नहिं एरि सुहागिन, आँगुरी तेरी कटैगी कटाछन' और पद्माकरकी नायिका 'अनियारे चल लखि' 'कजरा देत डुराय'। ऐसी नायिकाएँ आज खैरियत है दिखायी नहीं पड़तीं अन्यथा नारी स्वातंत्र्यके इस युगमें न जाने कितनोंके मन प्राण बिंधते और छिदते, इसकी गणना कोई गणितज्ञ ही कर पाता। विद्यापतिकी सौन्दर्यान्वेषिणी आँखें राधाके रूपपर अटक जाती हैं। उनकी तूलिकासे अंकित चित्र है—

कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल
ता अरुझायल हारा;

जानि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल,
चाँद विहिन सब तारा।
चाँद सार लए मुख घटना करुँ,
लोचन चकित चकोरे;
अमिय धोल आँचर धनि पोछलि,
दह दिसि भेल उँजोरे।
नाभि-विवर कयँ लोम-लतावलि,
भुजगि निसास पिपासा;
नासा खगपति चंचु भरम भय,
कुचगिरि संधि निवासा।

विद्यापति, सूर और तुलसीके नारी-चित्रोंमें ऐन्द्रियता और भावात्मकताका सम्मिश्रण है। 'सूर ऐसो रूप कारन मरत जिव विन प्यास' की आकुलता तुलसीकी सीतामें नहीं। सीतामें सौन्दर्य-प्रकाश कम नहीं किन्तु वह आँखोंको जलाता नहीं बल्कि शीतल प्रकाश है, जिसे संयम और संकोचका साहचर्य है। जगज्जननीका वासनामय चित्र उपस्थितकर तुलसी अपनी लेखनीको कलंकित कर 'कुकवि' कहा अपयशके भागी बनना नहीं चाहते। कालिदासने कुमारसंभवमें पार्वतीके रूप-वर्णनमें जिस स्वच्छन्दताके साथ चित्र उपस्थित किया है, तुलसीदास वैसा नहीं करते। तुलसी सीतारामके भक्त हैं, अतः मनोवृत्तिका शोध आवश्यक हो जाता है। सूरकी भक्ति पद्धति तुलसीसे भिन्न है अतः सूरको सौन्दर्य-शील चित्रणमें जितनी स्वतन्त्रता है, उतनी रामके साथ भिन्न सम्बन्ध होनेके कारण तुलसीको नहीं। विद्यापति इस प्रकारका कोई बन्धन स्वीकार नहीं करते अतः जो स्वतन्त्रता, स्पष्टता और ऐन्द्रियता विद्यापतिकी राधामें है, वह

ूर और तुलसीमें नहीं । तुलसीमें जो गम्भीरता है, वह उनमें नहीं । तुलसीका सौन्दर्य-चित्र नारीका चित्र नहीं, देवीका चित्र है और विद्यापतिका चित्र सामान्य नायिकाका । सूरदासका चित्र पूर्णतया मानवीय सौन्दर्य है जिसमें आकर्षण है, मोह है, तृप्ति है, ज्वाला है, और साथ ही अनिर्वचनीय आनन्द भी । सूर यदि अलंकार विधानका मोह छोड़ चित्रणपर उतर आते, उनका चित्रण अधिक प्राणवान हो जाता । रीतिकालमें इस सौन्दर्य-विधानकी विकृत मनोवृत्ति कवियोंमें लक्षित हुई । नारी सौन्दर्यका चित्र अत्यन्त परम्पराभुक्त और रूढ़ हो गया । सौन्दर्य केवल वाह्य रह गया उसे भावात्मकता प्राप्त न हो सकी । रीतिकालीन कवि सौन्दर्यको इतना स्थूल समझ बैठा कि वह अंगोंके वर्णनमें ही संकुचित हो बैठा । अंग-विशेषके वर्णनमें जितना श्रम व्यय किया गया उतना यदि सौन्दर्यके सम्यक् प्रभावका वर्णन होता तो कविता धन्य हो उठती । उस ऐन्द्रियतामें सौकुमार्य एवं अनुभूतिसे अधिक शब्द-चित्र उपस्थित किया गया । खड़ी बोली काव्यका स्वरूप ग्रहण कर भी इतिवृत्यात्मक अथच स्थूल चित्रोंसे परिपूर्ण रही । मैथिलीशरण गुप्त एवं हरिऔधमें उस चित्रमत्ताका अभाव नहीं । गीति-काव्य मात्र सौन्दर्यके वर्णनके अनुपयुक्त है जबतक उस सौन्दर्यके प्रति रागात्मक अनुभूति न हो । प्रबन्ध काव्यमें सौन्दर्य-चित्रणके लिए स्थान अधिक है, कारण कथाके आग्रहके कारण वर्णनात्मक शैली कवि अपनाता है । उसके सौंदर्य चित्रणके लिए रेखाओंकी स्पष्टता, स्थूलता और अतिरञ्जना अपेक्षित होती है किन्तु गीति-काव्य वृत्ति और 'मूड' को अभिव्यक्त करता है अतः सौन्दर्यका संकेत वह दे सकता है जिसमें मानसिक वृत्तिके प्रकाशके लिए उसे अवसर प्राप्त हो, ऐसी अवस्थामें सौन्दर्य-वर्णनके लिए गीतिकाव्यकी रचना नहीं की जा सकती । सौन्दर्यके इस प्रभावको छायावादी

कविने लक्षित किया अतः उसके रूप-चित्रोंमें अस्पष्टता, भावात्मकता है और है ऐन्द्रियताका अभाव-सा है। शायद इसी अस्पष्टता और सूक्ष्मताके कारण व्यंग्य रूपसे इस प्रकारकी कविताको छायावादकी संज्ञा मिली। रूप और सौन्दर्यको आत्म-प्रकाशके लिए नयी दिशा और चेतना प्राप्त हुई। छाया-वाद-युगीन सौन्दर्य अ-तन है, जिसका प्रभाव तो स्पष्ट है किन्तु उसमें इतनी सूक्ष्मता है कि उसकी अनुभूति ऐन्द्रिय नहीं भावात्मक हो गयी है। उसके दर्शन यत्किञ्चित उसके प्रभावमें दीख पड़ते हैं। इसके साथ ही अंगोंकी रीति-कालीन प्रधानता जाती रही अतः समग्र रूपसे सन्तुलित और समन्वित सौन्दर्य-चित्र स्वानुभूतिकी प्रेरणासे जाग्रत होकर उपस्थित हुए। प्रसाद रूप और यौवनके गीतिकार हैं। सौन्दर्यकी मोहकता उन्हें मुग्ध करती है, यौवन-विलास उन्माद देता है। पन्त प्रकृति और उसके सरलपनसे आविष्ट हैं अतः बालापनके चित्रोंके प्रति उनमें मोह है। निराला सौन्दर्यको स्थूल और सूक्ष्मकी सीमाओंसे स्पर्श कराते दीख पड़ते हैं। सौन्दर्यका संकेत भूमिका, पृष्ठभूमि और भावनासे मिलता है। संकेत-वादकी शास्त्रीय रक्षाका भाव निरालामें नहीं किन्तु निरालाके सौन्दर्य-चित्रोंके संकेत हैं और इस प्रकार सुकुमारता एवं अस्पष्टताके साथ भावा-त्मकता और सौन्दर्यगत प्रभावका चित्रण है। महादेवीमें स्थूलताका आग्रह नहीं दीख पड़ता ऐसी अवस्थामें सौन्दर्यका भावात्मक आवेश ही उनके गीतोंमें अधिक मिलता है। पन्तकी कामिनी पङ्खड़ियोंसी कोमल और सुकुमार, भावनाओं सी उन्मुक्त और विस्तृत, यौवन-सी मादक और विषाद-सी करुण है। उसे स्पर्श करते भय लगता है, कहीं 'दलि मलियत' न हो जाय किन्तु वह अपूर्व है; स्थूलता और सूक्ष्मता दोनोंके मध्य कोई रेखा खींची नहीं जा सकती। सौन्दर्य कुछ ऐसा है कि वह दीख पड़ता तो अवश्य है किन्तु

भुजाओंमें बँध पाता नहीं, स्नेहकी बूँदों-सी तरल और आविल। प्रसादके सौन्दर्य-चित्र मनोरम और रमणीय हैं। वासनाका शोध और संस्कार है किन्तु पन्त की-सी न तो तरलता है और न सूक्ष्मता ही बल्कि है चित्रमत्ता, ऐन्द्रीयता और विलास-वैभव। मालूम पड़ता है जैसे सौन्दर्य स्वयं अँगड़ाई ले रहा हो। इसके साथ ही सौन्दर्य-दर्शनके चित्रको प्रसाद अंकित करते हैं। पन्तके चित्र जहाँ भावनाके प्रसारके कारण शुक्रकी भाँति दूर किन्तु प्रभावोत्पादक होते हैं, वहाँ प्रसादके चित्र हमारे सामने रहते हैं किन्तु स्थूल इतने नहीं कि उन्हें भुजाओंमें कस लिया जा सके। रामकुमार वर्माके चित्रोंमें इतनी मांसलता भी नहीं, दूरी का यह भाव भी नहीं।

> एक सुन पड़ी 'ध्वनि' सी जो उस बालाकी उस बार,
> ऐंठ गयी वह भ्रू पर कुछ तिरछी - सी धनुषाकार।
> केश [illegible] कर गिरे कपोलों पर होके उन्मुक्त,
> आँखें भी हो गयीं शीघ्र दो - चार अश्रु से युक्त।

और —

> देखा एक रूप, जिसमें है मादकताका सार,
> लोट रहा उसके चरणोंपर यौवनका संसार।
> प्रतिबिम्बित है अंग-अंगमें अजित अनंग अनूप,
> [illegible] [illegible] नेत्रोंमें बहता है आसवका रूप।
>
> —रा० वर्मा

[illegible], चित्र आदिके [illegible] रीति-[illegible] और न पन्तकी [illegible] है। [illegible] है, [illegible]

मिश्रण है किन्तु कहीं अतिरञ्जन नहीं। पन्तकी सुकुमारता नहीं किन्तु माधुर्य है। रूप-विलासके चित्रकार पन्तका चित्र है—

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कानसे मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला तन।
सुरीले ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान
विकच बचपनको, मनको खींच,
उचित बन जाता था उपमान।

× × ×

रंगीले गीले फूलोंसे
अधखिले भावोंसे प्रमुदित
बाल्य सरिताके कूलोंसे
खेलती थी तरङ्ग-सी नित।

एक चित्र और—

कपोलोंमें उरके मृदु भाव
श्रवण नयनोंमें प्रिय बर्ताव;
सरल संकेतोंमें संकोच,
मृदुल अधरोंमें मधुर दुराव!
उषाका था उरमें आवास,
मुकुलका मुखमें मृदुल विकास;

चाँदनीका　　स्वभावमें　　भास
विचारोंमें　　बच्चोंके　　साँस　　　　　—पन्त

उपर्युक्त चित्र पन्तकी 'आँसू'की बालिकाका है । आँसूकी बालिका-से प्रथम उमड़ते आँसुओंकी बूँदका ध्यान आता है किन्तु उस तरलतामें रूप-सौन्दर्यका विधान है । आँसूकी बालिका बालिका बनकर सामने आ खड़ी होती है । इस बालिकाका सौन्दर्य अनूठा है किन्तु अपना-पन नहीं, वह ऊषाके अरुणिम आलोक-सी सुषमापूर्ण और आँसुओं-सी तरल है बिलकुल छुईमुई-सी । शायद यह आँसूकी बालिका है इसलिए तो नहीं, जरा पन्तकी ग्राम-युवतीका चित्र देखा जाय—

सरकाती पट
खिसकाती लट
शरमाती झट
वह नमित दृष्टिसे देख उरोजोंके युग घट !
हँसती खल-खल
अबला चञ्चल
ज्यों फूट पड़ा हो स्रोत सरल
भर फेनोज्ज्वल दशनोंसे अधरोंके तट !

[illegible] 'नटी-सी नव [illegible] सुन्दर' में भी वही तरलता है, वही [illegible] है, वही [illegible] चंचल यौवन-मद-भार है । रेखाएँ कुछ अधिक [illegible] हैं कारण यथार्थवादिताका आग्रह जो है । प्रसाद रूप और सौन्दर्य, यौवन और उन्मादके कवि हैं । इस दृष्टिसे प्रसाद पूर्णतया [illegible] और [illegible] भावोंसे प्रेरित हैं । भावात्मकता और भावुकताका [illegible] नहीं । [illegible] रूप-विधान और भाव सौन्दर्यको मूर्त रूप देनेका

आयत्त प्रसादका है वहाँ उसके प्रति मानसिक आसक्ति और आकर्षण-का आवेश प्रसादमें कम नहीं; प्रसादके सौन्दर्य-चित्र वास्तवमें अपने व्यापक प्रभावके कारण पहचाने जाते हैं, तूलिकाको इस सावधानीसे कवि उठाता है कि कहीं रंग गहरा न हो जाय, कहीं एक रंग फैलकर दूसरे रंगका प्रभाव मिटा न दे। 'कामायिनी' में रूपके चित्रमें प्रसादने अपूर्व सफलता प्राप्त की है। प्रसादके चित्रोंमें गति और लयके साथ संयम है निरालाके सौन्दर्य-चित्र सक्षम, स्पष्ट और आकर्षक हैं, निरालाके सौन्दर्य चित्रोंमें एक दृढ़ता है जो किसी अन्यके चित्रोंमें नहीं। इनमें गत्यात्मकता है, गति है, क्षमता है, ओजस्विता है, किन्तु माधुर्यपूर्ण और सुकुमार। 'जुहीकी कली' कवितामें 'निराला' सौन्दर्य-चित्र उपस्थित करते हैं—

निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवनकी मदिरा पिए,
कौन कहे ?

तथा— सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर

दिनकरकी सौन्दर्यवट-पूर्ण नारी उन्मुक्त है, प्रगल्भ है, उसे लाजके बन्धन नहीं; कभी वह शर्माती है तो भी क्षणभरको। प्रेममयी है, शृंगार-सौभाग्यकी रूपवती बाला भी वह है किन्तु वह सहज स्वच्छन्द है, वह केवल सुकुमारताके भारसे दबनेवाली भी नहीं, चपल और उन्मद यौवनका विलास उसमें है। 'हर सिंगारकी डाली' से उसके अरमान

चाँदनीका　　स्वभावमें　　भास
विचारोंमें　　बच्चोंके　　साँस　　　　— पन्त

उपर्युक्त चित्र पन्तकी 'आँसू'की बालिकाका है। आँसूकी बालिका-से प्रथम उमड़ते आँसुओंकी बूँदका ध्यान आता है किन्तु उस तरलतामें रूप-सौन्दर्यका विधान है। आँसूकी बालिका बालिका बनकर सामने आ खड़ी होती है। इस बालिकाका सौन्दर्य अनूठा है किन्तु अपना-पन नहीं, वह ऊषाके अरुणिम आलोक-सी सुषमापूर्ण और आँसुओं-सी तरल है बिलकुल छुईमुई-सी। शायद वह आँसूकी बालिका है इसलिए तो नहीं, जरा पन्तकी ग्राम-युवतीका चित्र देखा जाय—

सरकाती पट
खिसकाती लट
शरमाती झट
वह नमित दृष्टिसे देख उरोजोंके युग घट !
हँसती खल-खल
अबला चञ्चल
ज्यों फूट पड़ा हो स्रोत सरल
भर फेनोज्ज्वल दशनोंसे अधरोंके तट !

तथा 'घटा-सी नव प्रसादकी सुन्दर' में भी वही तरलता है, वही मुक्ति है, वही स्नेह-सरल चंचल यौवन-मद-भार है। रेखाएँ कुछ अधिक स्पष्ट अवश्य हैं कारण यथार्थवादिताका आग्रह जो है। प्रसाद रूप और सौन्दर्य, यौवन और उन्मादके कवि हैं। इसी दृष्टिसे प्रसाद पूर्णतया मानवीय और मानवीय भावोंसे प्रेरित हैं। भावात्मकता और भावुकताका अभाव नहीं। जहाँ रूप-विधान और भाव सौन्दर्यको मूर्त रूप देनेका

यहाँ चित्र स्पष्ट है, स्थूल रेखाओंमें घिरा। इस प्रगल्भताके किञ्चित् दर्शन इन पंक्तियोंमें होते हैं:—

सकूँगी कैसे स्वयं सँभाल
तरंगित यौवनका रसवाह
ग्रन्थिके ढीले कर सब बन्ध
नाचनेको आकुल है चाह
डोलती श्लथ कटि-पट के संग
खुली रसना करती झनकार
न दे पायी कङ्कनमें कील
रासकी मुरली उठी पुकार

छायावादी-युगमें आकर सौन्दर्य अपरूप, सूक्ष्म और अशरीरी तथा भावात्मक हो गया था। वह इस लोकका नहीं बल्कि क्षितिज लोकका वासी था जिसका आभास तो मिलता रहा किन्तु अस्पष्टताके कारण उसकी अनुभूति नहीं हो पाती, वह एक प्रकारसे अगम्य, भेद-मय और रहस्य बना रहा है। रहस्यवादिताके मूलमें जो व्यक्त-अव्यक्तके रागात्मक सम्बन्धकी अभिव्यञ्जना है, उसके साथ सौन्दर्यके मधुर, मादक किन्तु अस्पष्ट चित्रणके मेलसे दुर्बोधताकी सृष्टि होती चली गयी। सौन्दर्य चित्रण अपना स्थूल आधार पानेके लिए सदा व्यग्र रहा और इस प्रकार स्थूलताका यत्किञ्चित, कम-बेश सम्मिश्रण गीति-काव्यमें मिलता है। ऐसे अस्पष्ट चित्रोंके कारण अनुभूतिको चिन्तनका अधिक अवलम्ब लेना पड़ता है और कल्पना उसमें रङ्ग भरती है। इन सौन्दर्य चित्रोंके प्रत्यक्षीकरणमें कल्पनाको विस्तृत और उन्मुक्त छोड़ना पड़ता है तभी उन्हें साकार किया जा सकता है। स्थूलताके प्रति विद्रोह करनेका यह अर्थ हो गया कि

फूलते हैं। वह सँभलकर नहीं चलती, वह अपरूप वाला संकोच, जो चाहे कोई शील कह ले, को मानकर नहीं चलती। अपनी चकित और चपल दृष्टि वह सब ओर डालती चलती है। पन्तकी बालिका बाला हो बन गयी, प्रौढ़ा कहते झिझक होती है। रामकुमार वर्माके चित्रोंसे इसमें स्थूलता अतः स्पष्टता अधिक है। निरालाका सक्षम आवेश भी नहीं, प्रसादका उन्मद विलास-वैभव भी नहीं किन्तु सौन्दर्यका अ-सूक्ष्म किन्तु भावात्मक चित्रण है। वह कामिनी है—

दाँतों तले अधरको दाबे, कसे उबलते मनको,
चलती हो ऐसे कि देखती ही ज्यों नहीं किसीको।
लेकिन सब को बचा काम करनेवाले वे लोचन,
कहते हैं तुम बिन देखे देखा करती बहुतोंको।
तुम्हें ध्यान रहता कि पीठ सहलाती कितनी आँखें,
बँधे चले आते कितने मन छलकी हुई लटोंसे।

वह बाला अपने सौन्दर्यके प्रति जागरूक है और शास्त्रीय भाषाका प्रयोग करें तो 'ज्ञात यौवना'। 'काँप रही शंकिता मृगी-सी वह सिकुड़ी सिमटी भी' ऐसी नारीके प्रति कविका आकर्षण नहीं, अतः वह कहता है 'दूर करो इस मुखसे पट को' और रूपके इस चित्रको स्पष्ट करता हुआ कहता है—

आँखोंमें नीली काजल, लम्बी रेखा सेंदुरकी
नासिकाग्रसे चली गयी है ऊपर चीर चिकुरको—
सीधी रेख बना; कच दोनों ओर सजे हैं ऐसे,
कटकर दी हो राह तिमिरने जैसे किसी किरणको।

स्थान नहीं; विवाहके पूर्व दर्शनमें जो आकर्षण है, उसमें शरीर और शरीर-धर्मकी आकुलता और चंचलता नहीं। प्रेम यहाँ एकदम भावात्मक है किन्तु प्रेम केवल भावनाओंमें नहीं जीवित रहता है, उसके लिए शरीर-गत अभिव्यक्ति और आवेश आवश्यक हैं। प्रेमके इस भौतिक और शरीरी आधारकी चेतना विद्यापतिमें है, विद्यापतिको युवतियोंमें उन्मद यौवन-विलास और पिपासा है; सूरकी गोपियोंका प्रेम उन्मादकारी, 'लोक-लाज' 'कुलकी कानि' का विरोध नहीं माननेवाला गम्भीर किन्तु संव्रत है। विद्यापतिकी राधाका प्रेम उच्छ्वसित है, जिस प्रकार बरसाती नदीका फेनिल प्रवाह। मिलनेके लिए जानेमें इषत् संकोच उसे होता है किन्तु वह 'अभिसार' करती है, मान करती है। विरह-व्यथा उसे पीड़ित करती है, उसके अगाध प्रेमका परिचय देती है। चण्डीदासकी राधाका प्रेम संकोचशील और भय-संयुत है, प्रेमोन्मादिनी तो है वह कारण कृष्ण अर्थात् प्रेमी ही उसके प्राण हैं किन्तु वह कोमल है, अत्यन्त कोमल है। चण्डी-दासकी राधा भयसे त्रस्त है, लोग क्या कहेंगे, इसकी चिन्ता है, 'कानू' कब विलग हो जायँगे, इसकी आशंका है। हृदयका उच्छ्वसित आवेग छातीमें बँधा नहीं रहता और वह फूट पड़ता है। विद्यापतिकी राधाका प्रेम इतना भयसंकुल नहीं, एकदम निश्शंक भी नहीं। सूरकी राधाका बाल-स्नेह क्रम-क्रमसे प्रेममें बदल जाता है, अतः यौवन-कालीन मिलनकी भाँति संकोच, झिझक, गोपन और आशंका भी नहीं। विरह-कालमें भी सूरदासकी राधा गम्भीर है, गोपियाँ जहाँ प्रगल्भाकी भाँति उद्धव और भ्रमरको उल्टा-सीधा सुनाती हैं, वहाँ राधाका प्रेम इतना गम्भीर, इतना मार्मिक और गहरा हो उठता है कि वाणी मूक हो जाती है। युगकी प्रेम-भावनाकी छाप इस प्रेमपर है किन्तु इस प्रेममें स्थिरता है, गम्भीरता है और है आत्मसमर्पण। सूरकी गोपियोंमें इतना त्याग-भाव आ जाता है

कवि कल्पनाकी उच्चतम उड़ानमें ही काव्यकी श्रेष्ठताका स्वप्न देखने लगा। सादृश्य एवं साधर्म्यके साथ समान प्रभावकी प्रेरणासे आविष्ट कवि कल्पनात्मक साधर्म्य एवं सादृश्यकी चिन्तनासे प्रेरित कल्पना करने लगा। इस प्रकारके चित्रोंमें क्रमशः स्पष्टता और स्थूलता आती रही और इस स्थूलताको स्पष्ट रेखाओंसे घेरनेका प्रयास ंचलके गीतोंमें मिलता है। 'निष्फल आरजू बेबसी' की कहानी उसमें मिलती है। सौन्दर्य सम्पूर्णतः मानवीय है, मानव हृदयको स्पर्श करता हुआ जीवनको घेरता हुआ।

सौन्दर्यका आकर्षण सबसे बड़ा आकर्षण है; इसके प्रति चेतनाका जागरण उतना ही स्वाभाविक है जितना समीरका कम्पन, लहरोंका उत्थान, जीवनका प्रवाह। क्षणिक आवेश, आकर्षणको लोग वासना कहते हैं, और इसके व्यापक और अपेक्षाकृत स्थायी प्रभावको प्रेम। वासना प्रेम-का मूल है। वासनाका शोधित रूप ही प्रेम कहा जाता है, वह भी वासना है, प्रचण्ड वासना,—यह सत्य है कि वासना शब्दका प्रयोग मैं इसके व्यापक और विस्तृत अर्थमें कर रहा हूँ। प्रेम जीवनकी करुण किन्तु मादक कहानी है। वियोग जीवनकी दुःखद कहानी है। जो बिछुड़ कर मिला नहीं, वह अभागा है; जिसे वियोग हुआ नहीं, उसने प्रेमका स्वाद जाना नहीं; किन्तु जीवनमें जिसने किसीसे प्रेम नहीं किया उसके जैसा अभागा इस संसारमें कोई नहीं। प्रेमकी अनुभूति अतः गीतिकारों के लिए बड़ी प्रेरणा रही है। कोई विरह-बालाको गीतोंका उपहार दे रहा है, कोई प्रेमके स्थायित्व और आदर्शके गीतोंसे वायुमण्डल कँपानेकी चेष्टा कर रहा है। कोई प्रेमकी विफलताके गीत गा रहा है। शृंगार जिसका स्थायी भाव रति है, काव्यका अनेक अंशोंमें मूल है किन्तु प्रेमके प्रति दृष्टिकोण सभी कवियोंका एक नहीं। तुलसीका प्रेम एकनिष्ठ है। राम-सीताके प्रेमका विकास जिन परिस्थितियोंमें होता है, उनमें रोमांसका

स्थान नहीं; विवाहके पूर्व दर्शनमें जो आकर्षण है, उसमें शरीर और शरीर-धर्मकी आकुलता और चंचलता नहीं। प्रेम यहाँ एकदम भावात्मक है किन्तु प्रेम केवल भावनाओंमें नहीं जीवित रहता है, उसके लिए शरीर-गत अभिव्यक्ति और आवेश आवश्यक हैं। प्रेमके इस भौतिक और शरीरी आधारकी चेतना विद्यापतिमें है, विद्यापतिको युवतियोंमें उन्मद यौवन-विलास और पिपासा है; सूरकी गोपियोंका प्रेम उन्मादकारी, 'लोक-लाज' 'कुलकी कानि' का विरोध नहीं माननेवाला गम्भीर किन्तु संव्रत है। विद्यापतिकी राधाका प्रेम उच्छ्वसित है, जिस प्रकार बरसाती नदीका फेनिल प्रवाह। मिलनेके लिए जानेमें इषत् संकोच उसे होता है किन्तु वह 'अभिसार' करती है, मान करती है। विरह-व्यथा उसे पीड़ित करती है, उसके अगाध प्रेमका परिचय देती है। चण्डीदासकी राधाका प्रेम संकोचशील और भय-संयुत है, प्रेमोन्मादिनी तो है वह कारण कृष्ण अर्थात् प्रेमी ही उसके प्राण हैं किन्तु वह कोमल है, अत्यन्त कोमल है। चण्डी-दासकी राधा भयसे त्रस्त है, लोग क्या कहेंगे, इसकी चिन्ता है, 'कानू' कब विलग हो जायँगे, इसकी आशंका है। हृदयका उच्छ्वसित आवेग छातीमें बँधा नहीं रहता और वह फूट पड़ता है। विद्यापतिकी राधाका प्रेम इतना भयसंकुल नहीं, एकदम निश्शंक भी नहीं। सूरकी राधाका बाल-स्नेह क्रम-क्रमसे प्रेममें बदल जाता है, अतः यौवन-कालीन मिलनकी भाँति संकोच, झिझक, गोपन और आशंका भी नहीं। विरह-कालमें भी सूरदासकी राधा गम्भीर है, गोपियाँ जहाँ प्रगल्भाकी भाँति उद्धव और भ्रमरको उल्टा-सीधा सुनाती हैं, वहाँ राधाका प्रेम इतना गम्भीर, इतना मार्मिक और गहरा हो उठता है कि वाणी मूक हो जाती है। युगकी प्रेम-भावनाकी छाप इस प्रेमपर है किन्तु इस प्रेममें स्थिरता है, गम्भीरता है और है आत्मसमर्पण। सूरकी गोपियोंमें इतना त्याग-भाव आ जाता है

कि वे कृष्णकी मंगल-कामना करती हुई उनके न आनेपर भी सन्तोष कर ले सकती हैं। 'मेरे नैना विरहकी बेलि बई। सींचत नीर नैनके सजनी मूल पताल गई' कहनेवाली वे गोपियाँ कहती हैं—

जहँ-जहँ रहौ राज करौ तहँ-तहँ, लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु, न्हात खसै जनि बार॥

यह प्रेम उस अवस्थामें पहुँच गया है, जहाँ प्रियकी मंगल-कामनाके रूपमें अविचल प्रेम बदल जाता है। प्रिय चाहे जहाँ रहे, कुशलसे रहे, चाहे वह भूल ही क्यों न जाय! यह भावना निराशाके कारण नहीं, प्रेमके अभावका परिचायक नहीं बल्कि उस दृढ़ विश्वासका परिचायक है जिसमें अपने प्रेम और उसके गाम्भीर्यमें इतना विश्वास रहता है कि प्रियतमके प्रेमकी आस्था डिगती नहीं। गोपियोंका विश्वास इतना दृढ़ है कि देखकर आश्चर्य होता है। "ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अन्तहि कान्ह हमारो' में जो औदार्य, जो आस्था, जो गाम्भीर्य है, वह अनिर्वचनीय है। 'जा पर जाकर सत्य सनेहू, सो तेहिं मिलहि न कुछ संदेहू' देखता हूँ, असत्य हो जाता है, अगर इन गोपियोंका स्नेह सत्य नहीं तो संसारमें और कोई दूसरा स्नेह सत्य नहीं। जीवनका यह करुण उपहास है, ट्रेजेडी है जो कृष्ण मथुरासे लौटकर नहीं आते, ब्रजमें फिर नहीं जाते। गोपियोंका यह विरह-व्यापार पं० रामचन्द्र शुक्लके शब्दोंमें 'बैठे-ठालोंका' व्यापार भले हो किन्तु अपूर्व है, अन्यतम है, अद्वितीय है जिसमें सम्पूर्ण चेतना प्रियके प्रति जागरूक है, प्रियतमपर न्योछावर है।

परकीया प्रेम

दरबारमें आकर राधाका प्रेम वह स्निग्ध नहीं रहा, वह साधारण नारीका प्रेम रह गया। परकीया प्रेमका आधिक्य हमारे भयका कारण नहीं।

'विदेशी साहित्यके प्रभावसे भारतीय-दाम्पत्य जीवनकी सुरुचिमें बड़ा व्याघात उत्पन्न हुआ और निष्क्रिय राजे-महाराजोंकी रंगरेलियोंके सुर तानपर कला गीत भी नाचने लगा'[1] में स्पष्ट रूपसे इस प्रवृत्तिको उचित न ठहरानेका प्रयास है। एक तो मुगल कालतक विदेशी साहित्य-का प्रभाव अत्यन्त सीमित क्षेत्रमें पड़ा, कारण फारसी उस कालकी राज-भाषा थी और उसी साहित्यका प्रभाव भी पड़ सकता था। सूफी सम्प्र-दायका प्रेम इस रूपमें अलौकिक है कि रूपकत्वके द्वारा साधकका साध्यकी ओर जाने और मार्गकी कठिनाइयोंका सांकेतिक वर्णन मिलता है। काव्योंका आधार ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक होनेपर भी उनकी अभिव्यक्ति लोकोत्तर रूपमें हुई। इतना स्पष्ट है कि प्रेम-मार्गी शाखाके प्रमुख कवि जायसीका भी प्रभाव अधिक सीमित रहा। उस शाखाकी अनेक रचनाएँ तो आज भी उपलब्ध नहीं। कबीरपर सूफी मतका प्रभाव कुछ पड़ा अवश्य किन्तु उसमें परकीया तत्त्वका विधान नहीं है। मृगावती अपने प्रेमीको प्राप्त कर लेती है। पद्मावतीका विवाह रतन-सेनके साथ हुआ। इन्दुमती भी उसकी विवाहिता थी। सूरदासकी राधा कृष्णकी दुल्हन हैं (श्री लाल गिरिधर नवल दुलहे दुलहिन श्री राधा)। गोपियोंको परकीया माननेमें जो अड़चनें थीं उनकी दूसरे रूपमें यहाँ व्याख्या कर उन्हें दूर करनेकी चेष्टा है। परकीया-प्रेम भारतवर्षमें बहुत पुराने समयसे विशेष सम्प्रदायमें धर्मके समान चला था। इसका अस्तित्व ऋग-वेद, और छांदोग्य उपनिषदमें मिलता है। बुद्धके समयमें भी यह प्रथा प्रचलित थी और उन्होंने उसकी निन्दा की।[2] बौद्धधर्मके पतन-कालमें संघमें जो अनाचार फैला उसके दर्शन उस धार्मिक साहित्यमें और धर्मके

१—जीवनके तत्त्व। और काव्यके सिद्धान्त : सुधांशु पृ० २१८.

२—नगेन्द्र मोहन बोस, पोस्ट सहजिया कल्ट

विकृत रूपान्तरमें होते हैं। राधा आभीरोंकी प्रेम देवी हैं। संस्कृत साहित्यमें वर्णन न मिलनेपर भी लोक-साहित्यमें उनके प्रेमका वर्णन है। आभीर जाति भारतमें ईसाकी प्रथम शताब्दीसे पूर्व आयी, अतः उनके प्रेम-विकासमें भारतीय परम्पराके परकीया- प्रेमको अधिक उत्तेजना मिली। दूसरी बात दाम्पत्य जीवनमें प्रेम-विकास जो क्षेत्र है, वह अत्यन्त सीमित और संकुचित है। विवाहके बाद प्रेमका विकास क्रम-क्रमसे होता है और अनेक रूपोंमें विवशता और त्यागका फल है। त्यागके कारण उस प्रेममें आवेग और उन्माद नहीं! स्वकीया प्रेम घरके समीपकी बहती धारा है जिसका जल सदा प्राप्त है अतः प्यासकी अधिकताका कहीं कारण नहीं। मिलनकी उत्कंठामें वह आवेश नहीं हो सकता। परकीया-का प्रेम संरक्षित जल है जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं अतः मिलनकी उच्छ्व-सित उत्कंठा और प्रबल आग्रह है। प्रेमके बाद विवाह होनेके कारण विवाहके बादका प्रेम यूरोपीय साहित्यमें अधिक व्यापक और विस्तृत नहीं हो सका। यहाँ विवाहके बादका प्रेम आविष्ट नहीं कर सकता। प्रेमो-च्छ्वासकी निवृत्तिमें अतः परकीया तत्त्वका विकास हुआ। राजे महराजोंकी रंग-रेलियोंसे परकीया-प्रेमका तत्त्व विकसित नहीं हुआ; उनमें न तो प्रेम था और न उसके लिए उत्कंठा। जहाँ किसीसे मनकी वासनाकी पूर्ति हो जाय, वहाँ प्रेम नहीं होता। परकीया-प्रेमके लिए भी व्यक्तिका एक होना आवश्यक है। गणिकाओंको नायिकाकी श्रेणीमें रखना ही अनुचित है। जहाँ पैसोंके बल शरीर क्रय किया जा सकता है, वहाँ प्रेमकी स्थिति हो ही नहीं सकती, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह किसीकी एकनिष्ठ प्रेमिका बनकर नायिका न बन सके। स्वकीया और परकीयाका भेद नियमके आधारपर किया गया है। मानव-प्रकृतिके विश्लेषणसे प्रेम-तत्त्व अधिक गूढ़ पाया जाता है। अधिक रूपोंमें भारतवर्षमें प्रेमपर नैतिकताका

बंधन लगा रहा है ! स्वकीया प्रेम इसी नैतिकताके आग्रहका फल है। समाजकी प्रारम्भिक अवस्थामें प्रेम सामाजिक रूपमें स्वतन्त्र था, बाधा-बन्धनहीन और उन्मुक्त, अतः प्राकृतिक। क्रमशः नैतिकताके कारण इस भावनामें अन्तर आता गया और स्वकीया-प्रेममें बाँधनेपर आवेशहीन। केवल विवाहके आधारपर स्वकीया या परकीया मानना इसी नैतिक दृष्टि-कोणका फल है। प्रेम इस बाधा-बन्धनको नहीं मानता कारण इस अवस्थामें वृत्तियाँ इतनी प्रबल रूपमें आक्रान्त हो जाती हैं कि कोई दूसरी चेतना बची नहीं रह जाती। जहाँ संकोच, लाज, भय है वहाँ इस चेतना-का सम्यक् रूपसे आक्रान्त होना सिद्ध नहीं होता। बुद्धि, विवेक इसी भय और चिन्ताके नाम हैं। प्रेम-तत्त्वकी गम्भीरतामें ज्ञान बह जाता है। सूरकी गोपियाँ इसी प्रेमकी अजस्र प्रवाहिनी स्रोतमें आकंठ निमग्न हैं। भारतेन्दुकी राधा और गोपियाँ इसी प्रकारकी हैं। मैथिलीशरण गुप्तकी यशोधरा, उर्मिला स्वकीया हैं और विरहके कारण उच्छ्वसित। यशोधरा-का उच्छ्वास संयत है, उर्मिला तो ऊर्म्मि है किन्तु प्रेमके स्थायित्वमें किसी-को सन्देह नहीं। सौन्दर्यके सूक्ष्म आधारके कारण छायावादी कवियोंके प्रेम-स्वरूपमें थोड़ा अन्तर आया। इनके यहाँ आकार प्रेम भी सूक्ष्म और आग्रह आकुल होकर भी अनंग है। प्रेमके शरीर-धर्मका अभाव इन कवियोंमें मिलता है। मोहको प्रेमसे नीचा माननेका कारण उसका अपे-क्षाकृत अस्थायित्व ही है, चाहे उसे किसी प्रकार कहा जाय। प्रेमका अति उज्ज्वल, और सूक्ष्म स्वरूप स्वीकार करनेके कारण यह प्रेम भी छायात्मक हो गया। रहस्यवादमें प्रेमका सम्बन्ध और भी सूक्ष्म हो जाता है कारण प्रियतम अव्यक्त और अशरीरी रहता है किन्तु शरीर तत्त्वका आरोप प्रकारान्तरसे उसपर हो जाता है। प्रियतमका अव्यक्त होना, जहाँ बन्धन उत्पन्न करता है, कारण स्वरूपकी अनुभूति सम्भव नहीं, वहाँ उसे

नवीन उन्मेष भी देता है कारण उसके स्वरूपके प्रत्यक्षीकरणके अभावमें नवीन आवेश कवि या साधकमें पाया जाता है। पन्तका प्रेम अधिक गम्भीर नहीं जान पड़ता। आकर्षण अधिक है किन्तु उस आकर्षणमें ही पन्तकी प्रकृति रमती नहीं और दूसरा आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींच लेता है। निरालाका प्रेम बादल रागकी भाँति आवेगपूर्ण और सूक्ष्म है। पन्तका प्रेम जहाँ कोमल मक्खनसा है, वहाँ निरालाका सतेज और मुक्त। पन्तका प्रेम बालिकाका सहज आकर्षण है, खिलौनाके प्रेमसे अधिक, व्याकुलता और व्यापकता लिए हुए किन्तु निरालाका पुरुष-प्रेम है, सर्व ग्राही और संकोच, भयसे उन्मुक्त। महादेवीका प्रेम इस लोकका नहीं, वह उस ऊँचे स्तरपर है कि ऐन्द्रीयता स्पर्श कर नहीं पाती। उसका आभास ही मात्र मिलता है। यह स्नेह-उज्ज्वल, तरल-कोमल, हास-अश्रुमय प्रेम अनिर्वचनीय है। यह प्रेम यहाँ साकार होता है—

वेदनामें जन्म करुणामें मिला आवास
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात

ऐसी अवस्थामें जीवन प्रेममय है, और प्रेम जीवनमय। दोनों एकाकार हो गये हैं और जीवनके साथ 'सारी सृष्टिका कथा करने चली अभिसार'। यह उस प्रियतमकी अनुभूति तो है किन्तु 'कौन तुम मेरे हृदयमें' का प्रश्न भी है। इसमें आकर प्रेमको छायात्मकता प्राप्त हुई किन्तु उस स्थायित्वकी माँग सदा रही। दिनकर इसी स्थायित्व और विकासकी ओर संकेत करते हैं—

तृणवत धधक धधक मत जल सखि।
थोड़ी आँच धुनि विरहिनकी
नहीं लपटकी चहल पहल सखि,

किन्तु प्रेमके उत्कट आवेशका परिचय अंचलके गीतोंमें है ; उसमें उद्दाम प्रभाव है, तीव्रता है, आवेग है। भगवतीचरण वर्मा जहाँ प्रेम-को उसके वास्तविक रूपमें देखते हैं, वहाँ उसे क्षणभंगुर किन्तु मोहक, उत्तेजक और प्राणोन्माद-दायक मानते हैं। प्रेम प्रेमका काल भी हो सकता है, प्रेम सदा वरदान नहीं, अभिशाप भी है। प्रेम वह आवेश है, वह उत्तेजना है जिसमें ज्ञान और धैर्य बह जाते हैं। इतनी मुग्धता और रोमांचकारिता है, इस प्रेममें। सूरकी गोपियाँ मन यदि हाथमें रहता 'निर्गुण'को ले लेतीं किन्तु यहाँ इसका भी समय नहीं, ज्ञानके इस अप्रभावका ज्ञान रह जाता है अतः तल्लीनता नहीं रह जाती—

आज ढीले पड़ रहे हैं
ज्ञानके विकराल बन्धन।

जीवन अस्थायी है, क्षणिक है; यह प्रेम, यह मिलन अस्थायी हैं। पलभरके इस जीवनके बाद, अनन्त सूनापन है, निस्सीम प्यास है, अतः जी भर हँस-हँसा लेना ही अपेक्षित है—

पलभर जीवन, सूनापन
पलभर तो हँस बोल प्रिये

और

भरे हुए सूनेपनके तम
में विद्युतकी रेखा-सी
असफलताके पटपर अंकित
तुम आशाकी लेखा-सी।

प्रेम स्निग्ध है, आह्लाददायी है, जिसकी छायामें जीवनका आतप मिट जाता है। रसकी धारा है, जो उच्छ्वासों के निर्मित संसारमें चन्द्रिम

ज्योत्स्ना है, पुलक है, सिहरन है, उन्माद है। प्रेम जीवनकी मनोरम कल्पना है, जीवनकी स्वर्णिम घटना है, जीवनमें बिजली-सी इसकी कौंध है जो विलीन हो जाती है अतः कल भविष्यकी चिन्ता व्यर्थ है। इन क्षणों-का ही जीवनमें महत्त्व है। अतः कवि कहता है—

सुखकी राकाका केवल
है एक मनोरम काल

किन्तु प्रेम, इसके साथ ही, जीवनका एकान्त वरदान नहीं है, महादेवीके शब्दोंमें 'शापमय वरदान है। इस संसारमें कहीं प्रेम नहीं, व्यर्थ ही लोग आत्मतुष्टिके लिए प्रेम प्रेमकी रट लगाते हैं।

प्रेम कहाँ है ? घृणा उसीमें
करती है विश्राम

× × ×

तथा कोमल छविका मोल। वासनाके उपहारोंमें
और प्रेमका मोल रत्नके—हीरोंके हारोंमें—
करता है संसार, यही है उसकी रीति निराली
अंधकारसे तारोंका विक्रय करती निशि काली
यह न स्थान है जहाँ प्रेमका—
मूल्य लगाया जावे।—रामकुमार वर्मा

प्रेम क्या है कोई बता दे जरा, यह वैसी अनुभूति है जो चित्रोंमें उतरती नहीं—

हम तौर इश्कके तो वाकिफ नहीं हैं लेकिन,
सीनेमें जैसे कोई दिलको मला करे है। —मीर

कभी अधरपर हास—नेत्रमें,
कभी अश्रुकी धार है।
हास रुदनके इस मिलापका,
नाम कहो क्या प्यार है!—डा० वर्मा

प्रेमकी इस असफलताकी अनुभूति 'प्रसाद' में इस प्रकार प्रकट होती है —

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब।
आँसूके कन-कनसे गिनकर
यह विश्व लिए है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार?—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

प्यार कभी मिलता नहीं, वह तो केवल देनेकी वस्तु है, एकांगी है, फिर प्रतिदानकी आशा कैसी? इसका भाव कैसा?

इस प्रकार प्रेम गीतोंकी आत्मा है, प्रेम जीवनकी प्रबल अनुभूति है, अतः जीवनपर उसका व्यापक, विस्तृत और गम्भीर प्रभाव है। प्रेम-का अतः ग्राम-गीतोंमें कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं, बल्कि वे गीत अधिकांश अवस्थाओंमें प्रेमके निश्छल भावसे ओत-प्रोत हैं उसमें गम्भी-रता, तीव्रता, आवेश है। प्रेममें जोगिन होनेका एक लोक-गीत यहाँ है—

जोगियाके लालि-लालि आँखिन हे जइसे चम्पाके फूल
एजी वइसने जे हमरो चुन्दरियान हे दुनू तालमतूल

जोगियाके गोरमें खड़ऊआ शोभै हे हाथ शोभै करतार
एजी मुखवामें मोहिनि बमुलियान हे मोहे जग संसार
जोगियाके शोभैन मृगछालन हे हमरो पट चीर
एजी दुनुकेसिअएबइन गुदरिआन हे होयबइ संगे रे फकीर।

करुण-रस

गीत-काव्यकी आधार-शिलाके रूपमें करुण-रस स्थित है। जीवनके विषाद और उसके व्यापक प्रभावकी चर्चा प्रसंगवश पीछेकी पंक्तियोंमें हुई है। प्रेम और विषादका चिर सम्बन्ध है। जिसने प्रेम किया शायद उसे रोना ही पड़ेगा, ऐसा कवियोंने नियम-सा बना रखा है। आँसुओंका अर्घ्य प्रेम-देवतापर चढ़ाना आवश्यक है वेदनाका अतः गीतोंमें प्रमुख स्थान है। वैसा और कारणोंसे भी है, जीवनकी विषमता, असफलता अत्याचार, क्रूरता और आर्थिक असन्तोषके कारण भी है। वेदनाका यह व्यापक रूप गीतोंके लिए अधिक उपयुक्त नहीं होता और न इनकी व्याख्याके लिए उनमें स्थान है। वेदनाको अपनेसे भिन्न कर देखनेका प्रयास करनेपर उसमें तीव्रता नहीं रहती किन्तु उसका चित्र स्पष्ट अवश्य रहता है। सामाजिक विषमताके कारण उत्पन्न वेदनाका चित्र ग्राम-गीतोंमें मिलता है।

हे भोला बाबा केहन कयलौं दीन
खेती पथारी भोला से हो लेला छीन
भाई सहोदर से हो भे गेल भीन
घर में न खरची बाहर न मिले रीन
गाँव के मालिक न पड़े दइय नीन
एके गो लोटा छलइ भाइ भेलइ तीन

पनिया पिवइत काल होइय छिना छीन
एके गो वैल वच गेल महाजन लेलक रीन
कर कुटुम्ब सब भेलइ परमीन

[ओ भोले शंकर, तुमने मेरे दिन कितने दुखद बनाये ! जो थोड़ी बहुत खेतीवारी थी, वह भी तुमने छीन ली। और तो और सगे भाइयोंने बँटवारा कर लिया। घरमें खर्च नहीं है बाहर ऋण नहीं मिलता। गाँवका जमींदार रातमें चैनकी नींद नहीं सोने देता। एक लोटा है, और भाई तीन हैं। अतः पानी पीनेके वक्त छीना झपटी होती है। एक बैल बच गया था, जिसको महाजनने ऋणमें हड़प लिया। हाय हित-मित्र और सगे-सम्बन्धी सभी पराये हो गये।]

वेदनाका किन्तु प्रकृत रूप गीति-काव्य अथवा लोक-गीतमें प्रेम-जनित विरहके रूपमें प्रकट हुआ है। आँसुओंके मर्मको समझनेके लिए आँखोंको ही नहीं वल्कि भावनाको देखना पड़ेगा। वेदना व्यथाकी जननी है, पीड़ाका आवास है किन्तु 'प्रेमकी पीर'के प्रति कवि विमुख नहीं होता। वेदना जलन उत्पन्न करती है —

अरी वेदने ! सिखलाया है
किसने राग विहाग ?
जला रही आकाश सभी, ले
पूर्व दिशाकी आग।

क्यों करने आयी है मुझसे, चिर संचित अनुराग ?
ए अनन्त यौवनवाली ! तू बार बार मत जाग !

—रामकुमार वर्मा

इसी वेदनाके लिए 'मीरा' ने कहा था—

हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाणे कोय

वेदनाको 'द्विज' 'अमर शान्तिकी दायिनी' और 'सकल सुखोंका सार' मानते हैं। आँसुओंके लिए हमें अधिक दूर नहीं जाना पड़ेगा। आजका साहित्य इन आँसुओंकी धारासे परिपूर्ण है। इसमें कितनोंके आँसू नकली हैं, कहना सम्भव नहीं। अनेक रोनेके लिए, हमें दिखानेके लिए कहना चाहिये, रोते हैं। वेदना मनोवृत्तियोंका संस्कार और परिष्कार करती है। वेदना वैयक्तिक जीवनतक सीमित नहीं रहती बल्कि सम्पूर्ण मानव-जीवनके प्रति उन्मुख हो जाती है, वैसी वेदना विश्व-हित, लोक-कल्याण, मानव-प्रेममें परिवर्तित हो जाती है केवल व्यक्ति विशेषका जीवन आविल नहीं करती। विश्व-वेदनाके गीतोंका अभाव भी नहीं। रहस्यात्मक आग्रह ले कवि केवल मानवीय पीड़ाओंका गायक नहीं रहता, बल्कि कण-कण अणु-परमाणुकी वेदना उसकी वाणीमें मुखर हो जाती है। महादेवीके गीतोंमें इसका पूर्ण संकेत मिलता है। वह वेदना मिलनका सोपान बन कर आती है, वह करुण मधुर है, कोमल सुकुमार है जिसमें जीवनका कम्पन और भावनाका स्पन्दन है।

गीति-काव्य और कल्पना

गीतिकाव्यके अनुभूति-प्रधान रचना होनेके कारण कल्पनाकी अपेक्षा इसमें रहती है। लोगोंमें भ्रम-सा फैल गया है कि कल्पना स्वतन्त्र है, उसका अनुभूतिसे कोई सम्बन्ध नहीं। इस विषयपर यहाँ विस्तृत विचार करनेका अवसर नहीं, इसपर हमने 'आधुनिक हिन्दी कविता' में विस्तृत रूपसे विचार किया है यहाँ केवल इतना ही कहना अलम् होगा

कि अनुभूतिके आधारपर ही कल्पनाका प्रासाद खड़ा होता है। कल्पनाके द्वारा अनुभूत अनुभूतिको जन्म नहीं दिया जा सकता, कल्पना अनुभूतिको नया स्वरूप देती है, उसे उत्तेजना और प्रेरणा देती है किन्तु किसी भी अवस्थामें उसे उत्पन्न नहीं कर सकती। 'फैंसी' की अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता स्वीकार करनेका इतना ही अर्थ है कि कल्पनापर नियंत्रण सम्भव है और 'फैंसी' इस प्रकारके बौद्धिक नियंत्रणकी सम्भावना अधिक रूपमें स्वीकृत नहीं करती। गीतिकार अनुभूतिके अभावमें जहाँ कल्पनाद्वारा आवेश उत्पन्न करनेका प्रयास करता है, वहाँ वह अलंकारत्व और नक्कासीका शिकार बन जाता है। गीति-आवेशके लिए कल्पना उतनी ही अपेक्षित है जहाँ-तक अनुभूतिको आवश्यक प्रसार मिल सके। कल्पना अनुभूतिको आकार और स्वरूप देती है किन्तु कल्पनाके आधारके कारण चित्रोंमें अधिक सूक्ष्मताके प्रवेशका भी भय है। साधर्म्य और सारूप्यको सीमासे बाहर समान-प्रभावके क्षेत्रमें प्रवेश करनेवाली कल्पना ऐसे विधान उपस्थित करती है जो मानस-गोचर नहीं रहते। पन्तकी कल्पना उदात्त और स्वरूप विधायिनी है महादेवीकी कल्पना विस्तार देती है, व्यापकता देती है किन्तु स्थानीयता नहीं। दिनकरकी कल्पना 'व्योम कुञ्जों' से मुक्त हो 'वैशाली और नालन्दा' के दूहोंपर विचरती है। कल्पना जहाँ प्रियको प्रकृतिमें फैली देखती है, प्रियतमको अणु-परमाणुमें परिव्यास देखती है, जहाँ सम्पूर्ण सृष्टिमें प्रियतमका सौन्दर्य-विलास पाती है वहाँ प्रियामें ही सब कुछ देख पाती है। बल्कि सम्पूर्ण विश्वसे भी अधिक अपूर्व और अमूल्य बन जाती है। चन्द्रिम मुसकान, पिकका मतवालापन, निर्झरोंका मुक्त संगीत, ऊषाके कपोलोंका अरुण राग, मेघोंकी करुणा सब कुछ यहाँ प्राप्त है।' कल्पना उस ज्योत्स्नाकी भाँति है जो सबको मधुरता और रहस्यात्मकता देती है।

जीवन

जीवन अस्तित्वका समानार्थक शब्द नहीं। साहित्यमें समानार्थक शब्द होते ही नहीं; जिन्हें लोग सामानार्थी शब्द कहकर पुकारते हैं उनके अर्थ और भावमें पर्याप्त अन्तर रहता है। जड़ वस्तुओंमें अनस्तित्व नहीं, उनमें जीवनका अभाव अवश्य रहता है। जीवन और जीवनाभासमें कम अन्तर नहीं। 'आहार निद्रा भय मैथुनञ्च' के आधारपर पशु और नरका भेद नहीं किया जा सकता बल्कि इन प्राथमिक आवश्यकताओंसे ऊपर उठनेमें ही मनुष्यत्वका विकास है। जीवनका आधार अस्तित्व है और अस्तित्वका आधार जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताएँ; अतः इनकी जीवनमें अपेक्षा है और मानव-चेतना इनके सहज अन्वेषणमें लगी रही और आजतक लगी है। जीवन-संघर्षमें अति आक्रान्त व्यक्तिके जीवनमें कला-संस्कृतिका विकास नहीं हो सकता। जिस समय मानव-चेतना पूर्णतया प्रकृति-संघर्षमें लगी रही उस समय कही जानेवाली ललित कलाका जन्म नहीं हुआ। कलाका उपयोगी आधार भी है किन्तु इस उपयोगिताका आधार भी मानवीय विचार और दृष्टिकोण हैं। इस प्रकार मनुष्य अपनी अनुभूतियों, आकांक्षाओं और विचारोंमें जीवित रहता है। अतः गीति-काव्यमें जीवन-दर्शनका उपयुक्त और उच्च स्थान है। यथार्थवादके नामपर जीवनपर किये गये अत्याचारका किन्तु इसमें स्थान नहीं हो सकता। जीवनका हर्ष-उल्लास, अश्रु-रुदन ही तो गीत है।

गीति काव्यमें चित्र

संगीत स्वर और नादका आधार ग्रहण कर श्रुति और रागात्मक अनुभूतिकी अभिव्यञ्जना करता है। चित्र-कलामें रंग, तूलिका और पटका आधार स्वीकार करना पड़ता है। स्थूल आधार स्वीकार करनेपर भी

चित्रमें गीतकी भावना है। अत्यन्त सूक्ष्म आधार स्वीकार कर संगीतकी संकेतात्मक शक्ति नियमित और सीमित हो जाती है। काव्य-कला चित्र-कलाका आधार छोड़ उसकी चित्रमत्ता ग्रहण कर लेती है और संगीतकी व्याप्ति उसे देती है। इस प्रकार चित्र और संगीतके सम्मिश्रणद्वारा नवीन प्रभाव उत्पन्न करती है। भावनाओंकी स्वरूप स्पष्टताका कारण और उसके मानस-गोचर होनेका रहस्य इसी चित्रमत्तामें मिलेगा किन्तु चित्रका उपयोग गीति-काव्यमें केवल इसीलिए होता है कि रागात्मक आवेशको स्वरूप मिल जाय; केवल चित्रके लिए चित्रांकन गीति-काव्यका विषय नहीं हो सकता। इसीलिए मात्र स्वरूप विधायिनी कविताको संगीतात्मक एवं गीति-काव्यके अन्य उपकरणोंसे संयुत रहनेपर भी सफल नहीं कहा जा सकता। कविकी अस्पष्टताके मूलमें भावना और उसके स्वरूपकी विभिन्नता रहती है। महादेवीके चित्र अधिक अस्पष्ट भावनाको अति काल्पनिक विस्तार दे उसे शब्दकी सीमामें घेर रखते है। महादेवी इतना अधिक व्यापक और विस्तृत हो जाती हैं कि शब्द उनके समीपतक पहुँच नहीं पाते। महादेवीकी भाव-धारामें प्रवेश पानेके लिए उसी उन्मुक्त भावुकता और उदात्त कल्पनाके मनोराज्यमें प्रवेश करना पड़ेगा। वचनकी लोकप्रियता-का कारण अपेक्षाकृत सरल चित्रोंके संगीत-बोधमें है। प्रसादके गीतोंमें भावनाका अमूर्त-रूप-विस्तार और शब्दोंकी संकेतमत्ता है। भगवतीचरण वर्मामें चित्रमत्ता पर्याप्त है। दिनकरने चित्रोंमें स्पष्ट रंग भरनेकी चेष्टा की है। रामकुमार वर्माके चित्रोंमें स्पष्टता है किन्तु उसके साथ ही भावनाका विस्तार भी कम नहीं। चित्रगत भूमिका भावनाके विकास और विस्तार, और उसकी सूचनाके लिए है। प्रकृति और सौन्दय चित्रोंके सम्बन्धमें विचार करते समय इस विषयपर प्रकारान्तरसे विचार हो गया है। यहाँ एक चित्र है—

"यहाँपर दरिया है सुनसान
यहाँपर कम पानीका जोर
हवाकी हलकी है झकझोर
लहरके धक्के हैं कमजोर
यहाँपर सोया है तूफान
यहाँ सूनी दरियाका छोर
यहाँपर मँड़राती है लहर
तीरसे टकराते हैं शोर
चला दे मस्तीमें पतवार लहरकी बौछारोंकी ओर।

—नेपाली

आकृति और विस्तार

गीति-काव्यके प्रभावका कारण, अनुभूतिकी तीव्रता, लयात्मक संवेदनशीलता और समाहित-भावनामें है। गीति काव्यकी तीन अवस्थाओं का वर्णन करते समय स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रेरणा, अनुभूति और अनुभूतिमय भावना अथवा विचारका विकास गीति-काव्यके क्रम हैं। प्रेरणासे लेकर भावनाकी सूक्ष्म अभिव्यक्तितककी मानसिक क्रियाओंका

अनुभूतिके आकारके लिए भावनाका रूप-विकास अपेक्षित है। श्रेष्ठ गीत-काव्योंमें इन अंगोंका समुचित विकास देखा जाता है। किसी-किसी गीतमें कविका लक्ष्य केवल चित्र उपस्थित करना रहता है, वह अनुभूतिसे अधिक प्रेरक वस्तुओंके चित्र पूर्ण बारीकीके साथ उतारता है। ऐसी अवस्थामें वह अलंकार-योजनाकी अधिक शरण लेता है क्योंकि उसके प्रभावका मूल भावानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति न होकर मूर्त्त-विधानमें है ऐसे चित्रोंमें आत्मीयता अथच संवेदनशीलता नहीं होती। यह भी सम्भव है कि इन चित्रोंको कल्पनाके आधारपर वह इतना अधिक रंग दे कि चित्रोंमें वास्तविकता (व्यापक अर्थमें) न रह जाय। इन चित्रोंके कारण पाठक चमत्कृत हो सकता है। सम्भव है, उसे कालिदासकी कल्पना-शक्तिका भ्रम उसमें उत्पन्न हो जाय किन्तु उन चित्रोंसे आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता, उनके साथ पाठककी सहानुभूति नहीं जुड़ सकती जो साहित्यकी आत्मा है। ऐसे चित्रोंमें सम्भव है कवि रागात्मक आवेश और अनुभूतिके स्पर्श दे सके जिसके कारण पाठककी रागात्मिका वृत्ति जग पड़े अथवा विचारोंकी शृंखला मानसिक क्रियाके साथ संलग्न हो सके। मूर्त्त-विधानका अतः कार्य केवल रागात्मक आवेश अथवा चिन्तन-शक्तिको गति देनेमें है। निरालाके कुछ गीतोंमें चित्रोंका मोह कुछ अधिक है और महादेवीमें किसी विचार-पर आनेकी है। रागात्मक आवेशके प्रति जो जागरूकता बच्चनमें है, वह कम लोगोंमें है। यह कहना अनुचित होगा कि बच्चनमें विचारोंका, अथवा बुद्धि-तत्त्वका अभाव है ; मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि उनके विचार बाहरसे लादे गये अथवा केवल विचार प्रकट करनेके लिए नहीं हैं। महादेवीने विचारोंको कल्पना और अनुभूतिकी प्रेरणा दी है, वहाँ बच्चनकी अनूभूति ही विचार बनकर सामने उपस्थित होनेकी

अभिलाषा रखती है। पन्त चित्रोंको कल्पनाका ऐसा आवरण देना चाहते हैं, कि वह कल्पना ही प्रमुख हो जाती है, अनुभूतिसे पाठकका ध्यान हट जाता है। चित्र कुछ इतने अधिक लम्बे हो जाते हैं कि भावनातक पहुँचते-पहुँचते उनसे ध्यान हट जाता है और उस भावात्मक चित्रके साथ रूप-विधानका सामञ्जस्य नहीं हो पाता। निरालाने शुद्ध चित्रोंके अङ्कनके लिए गीतोंकी रचना नहीं की है। जहाँ केवल चित्र ही हैं, वहाँ भी अनुभूतिका आभास अवश्य है। वेदान्त-दर्शनसे प्रभावित गीतोंमें भी अनुभूति और उसके शोधका आभास प्राप्त है, विचार ही अनुभूति हैं। अनुभूति और भावनाके इस विकासके कारण स्वरूप-विधान, आकृति और विस्तारमें अन्तर आ गया है। निरालाके गीतोंमें प्रेरणाका साधारण चित्र उपस्थित होता है और कवि भावनोन्मुख हो जाता है अतः निरालाके गीत छोटे और कम विस्तारवाले हैं। पन्तमें चित्रोंके प्रत्यक्षीकरणके प्रति मोह है अतः चित्रमत्ताके आग्रहके कारण गीत लम्बे हो जाते हैं, वैसी अवस्थामें अनुभूतिकी अन्वितिपर आघात पहुँचता है। महादेवीके विचारोंको ही कल्पना और अनुभूतिका सहाय्य प्राप्त है अतः प्रेरक विचारोंके वाहक हैं और उनके गीतोंकी पहली पंक्तियाँ बेजोड़ हैं, कारण भावना, विचार और कल्पनाकी त्रिवेणी उनमें है। अस्पष्टताका कारण विचारोंको चित्रमत्ता देनेके कारण है जो स्वरूप-विधानकी सीमाओंमें बँध नहीं पाते। बच्चनके गीतोंमें इन उपकरणोंका समन्वय उचित रूपसे हुआ है। विरोधका दर्शन भी उचित पृष्ठभूमिके रूपमें हुआ है। निरालाकी लयात्मक विविधता एवं भावनाओंके रूप-विकासकी विभिन्नता बच्चनमें नहीं। रामकुमार वर्माके गीत प्रेरणा और अनुभूतिके सौन्दर्यात्मक चित्र उपस्थित करते हैं। सौन्दर्यके आग्रहके कारण अनुभूति केवल उसीके लिए संवेदनशील हो उठती है जिसमें सौन्दर्यके प्रत्यक्षीकरणकी क्षमता

है। चित्रमत्ताका अधिक आग्रह न होनेके कारण गीत नपे-तुले हैं। भगवतीचरण वर्माके गीत अनुभूति-प्रधान हैं किन्तु अनुभूतिके क्षणोंको विस्तार देनेका मोह उनमें कम नहीं इसलिए एक ही प्रकारके भाव लगातार आज बढते चले गये हैं। लयात्मक आवेश और शब्दोंके सुघड प्रयोगके कारण गीतोंमे मधुरता अधिक है ठीक जैसे बच्चनके गीतोमें। विस्तारका मोह दिनकरमें भी कम नहीं इसीलिए चित्रमत्ता और दार्श-निकताका विस्तार हो जाता है। 'रासकी मुरली' में दार्शनिकताका आरोप हो गया है, जो स्वाभाविक विकासका फल नहीं जान पड़ता। 'दारकी कोयल' मे चित्रमत्ताका आवेश है। प्रसादकी कवितामें गीत और संगीतका परिणय-सा हो गया है। आकार और विस्तारकी दृष्टिसे सूर, विद्यापतिके गीत अधिक उपयुक्त हैं। चित्रोंका मोह इनमें कम नहीं; विद्यापतिमे कुछ अधिक है किन्तु अन्तिम अवस्थामे रागात्मक प्रभाव और भावात्म-कताका पूर्ण विकास हो जाता है। तुलसीके गीत विचार-प्रधान होने-पर भी विस्तार और आकृतिके रूपमें सफल हैं। अपने दृष्टि-कोणके कारण तुलसीके गीतोंमें स्वच्छन्द भावुकताका अधिक प्रसार नहीं हो सका। सर्वत्र संयमका निर्वाह है। मैथिलीशरणके गीत उर्मिला और यशोधराके गीत हैं। वियोग—वर्णनकी ऊहात्मक पद्धतिका अवलम्ब यत्र-तत्र किया गया है किन्तु प्रेरक उत्तेजना और अनुभूतिके भावात्मक रूपकी ओर गुप्तजी अधिक जागरूक रहे हैं। मुझे लगता है, यह चेतनता गुप्त-जीको प्रवाह न दे सकी और उनके गीतोंमें वह व्यापकता नहीं आ सकी। साकेतके नवम सर्गके कुछ ही गीत अतः पूर्णतः सफल हो सके यद्यपि रूप-विधान, आकृति और विस्तारमें वे पूर्ण सफल हैं। गीति-काव्यमे न तो इतना विस्तार होना चाहिये कि चित्रोंके आग्रहके कारण भावना और अनुभूति दब जायँ और न इतना सकोच ही होना चाहिए कि

प्रेरकके चित्र उपस्थित ही न किये जायँ। दोनों अवस्थाएँ गीति-काव्यके व्यापक प्रभावके लिए अहितकर सिद्ध होती हैं। पन्तमें अगर विस्तारके स्थानपर संकोच होता उनके गीत अधिक समीपकी वस्तु होते क्योंकि नाद-सौन्दर्य, ध्वनि चमत्कार जैसा उनमें है, वैसा किसीमें नहीं; अजस्र प्रवाहित संगीतकी धारामें अविरोध बहनेवाली लयात्मक अनुभूति उनमें है। महादेवीमें स्निग्ध, तरल किन्तु मन्द्र प्रवाह है। निरालाके गीतमें निर्बाध गतिसे झरनेवाले झरनेका नादपूर्ण-संगीत है, जिसमें मृदङ्गकी ध्वनि है, वीणाकी मृदु मधुर झङ्कार नहीं।

अनुभूतिके सम्बन्धमें विचार करते समय हमने देखा है कि अनुभूति अपनी गम्भीरतम अवस्थामें थोड़ी देरतक ही टिक सकती है। प्रेरणाके कारण – चाहे वह अन्तः प्रेरणा हो अथवा बाह्य—वह जगती है। कल्पना-के कारण उसका प्रभाव व्यापक होता है और उसे प्रसार एवं विस्तार मिलता है। क्रमशः यह अनुभूति भावनामें परिवर्तित हो जाती है। आकार और विस्तारपर इस क्रमके कारण नियंत्रण हो जाता है; यदि ऐसा नियंत्रण कवि नहीं कर सकता उसे सफलताकी आशा कम रखनी चाहिए। दार्शनिकताके अधिक मोहके कारण प्रेरणा बौद्धिक रहती है। कविका चातुर्य वहाँ बौद्धिकताको अनुभूतगम्य रूपमें रखनेमें है। प्रभातके गीतोंकी दार्शनिकतामें बौद्धिकताका इतना प्रबल आग्रह हो जाता है कि अनुभूति और भावनाके प्रसारके लिए पूर्ण अवकाश नहीं मिलता। आजके कविकी कठिनाईका एक कारण है। दर्शन अपनी प्रणाली और पद्धतिपर विकसित होते हुए एक निश्चित स्तरपर पहुँच गया है। जहाँ वह उन्हें गीतोंका विषय बनाना चाहता है, उसे उसकी व्याख्यात्मक प्रणालीसे विछिन्न करके देखना पड़ता है। फलतः या तो उसे लम्बे गीतोंमें उसकी व्याख्या करनी पड़ती है अथवा उसे उन्हीं दार्शनिक

संकेतोंसे काम चलाना पड़ता है जिसके कारण बुद्धि-चमत्कार अथवा ज्ञानकी ओर ध्यान अवश्य जाता है, लेकिन रागात्मक आवेश प्राप्त नहीं होता। आकारकी प्रवृत्ति और विस्तारका सामञ्जस्य रहनेपर भी आन्तरिक गुणोंके अभावमें उन्हें गीति-काव्य कहना सम्भव नहीं हो पाता।

विस्तारकी परिमितिके कारण अलंकारोंके प्रयोग और शब्द-चयनपर गहरा प्रभाव पड़ता है। गीति-काव्यमें अलंकारोंके प्रयोगकी विवेचना की गयी है। अलंकारोंका प्रयोग सूर, तुलसी, विद्यापति आदि कविताओंमें जितना है, उससे कम आधुनिक कवियोंकी रचनाओंमें नहीं यद्यपि पूर्ण निर्वाह अथवा स्पष्ट प्रयोग कम देखे जाते हैं। अलंकारका प्रयोग जहाँ भावनाको रूप देता है वहाँ उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है किन्तु जहाँ अनुभूतिके अभावको छिपानेका प्रयास होता है वहाँ गीति-काव्यका प्रभाव नष्ट हो जाता है। इस प्रकार गीति-काव्यमें केवल नाद-सौन्दर्य ही नहीं, अर्थके उपयुक्त शब्दके प्रयोगका महत्त्व है। विशिष्ट वृत्ति और अर्थकी अभि-व्यक्तिमें एक ही प्रकारके शब्द-उपयुक्त नहीं हो सकते। वृत्ति (उपनाग-रिका, कोमला, और परुषा) के अनुसार शब्द-चयनका आधार यही था किन्तु नियम और उसके पालनमें वह स्वाभाविकता नहीं आ सकती जो सहज स्वाभाविक रूपमें आती है। 'मूड' के अनुसार शब्द स्वतः चले आते हैं और कविको आयास नहीं करना पड़ता। निरालामें शब्दों-की परुष-प्रवृत्ति है यद्यपि कोमल भावनाके प्रसारोपयोगी शब्द, ध्वनि और-चमत्कारका अभाव उनमें नहीं अतः वृत्ति-प्रसारके उपयुक्त उनके शब्द हैं। पन्तकी कोमल-वृत्ति है, विरह, प्रेमकी कातरता और मोहके उपयुक्त उनकी पदावली है। 'मूड' के अनुसार शब्द-प्रकृतिका परिवर्तन 'परि वर्तन' कवितामें हुआ है। कल्पना खींचने आकर पन्तके 'मूड' के उप-योगी शब्दोंकी प्रकृति और प्रकृतिको परिवर्तित कर देती है। 'बच्चन'में

शब्दोंका चयन उनकी प्रवृत्ति और प्रकृतिके अनुकूल है ; शब्द छोटे-छोटे किन्तु, भावाभिव्यञ्जक हैं। उर्दूके छन्दों और वेदनाकी विवृत्तिकी प्रवृत्तिके कारण शब्द-चमत्कार उनमें विशेष है। शब्दोंका यह चमत्कारपूर्ण प्रयोग भगवतीचरण वर्मामें सफल है। दिनकरकी शब्द-प्रकृति सर्वत्र गीतके उपर्युक्त नहीं दीखती अतः श्रमपूर्वक उन्हें समपर लानेकी चेष्टा लक्षित होती है। महादेवीमें शब्द और लय एकाकार हो गये हैं; निरालाके कुछ छन्दोंमें ऐसा नहीं हो सका है। शब्दोंके प्रयोगमें एक विषयकी ओर ध्यान जाता है। हिन्दी खिचड़ी भाषा है, इसका अर्थ यह है कि इसमें हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी, उर्दू, अंग्रेजी शब्दोंका प्रयोग होता है। अंग्रेजी शब्दोंका प्रयोग हास्य रसात्मक कविताओं एवं गद्यको छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। संस्कृत शब्द तत्सम और तद्भव दोनों रूपोंमें व्यवहृत होते हैं। शब्दोंके उपयुक्त प्रयोगका अर्थ है कि वे मनचाहा प्रभाव उत्पन्न कर सकें। गीति-काव्यके लयात्मक आग्रहके कारण भाषा-भाण्डारको भी संकोच प्राप्त हो जाता है; केवल उन्हीं शब्दोंका प्रयोग होना चाहिए जो 'मूड' के उपयुक्त हों अतः आप्टेके कोषसे ढूँढ़कर निकाले गये शब्द कविको सन्तोष भले दे दें अपने अनुकूल वृत्ति पाठकमें जाग्रत नहीं कर सकते, उसी तरह फारसी-अरबीके अप्रचलित और अनचीन्हे शब्द पाठक और कविमें व्यवधान उपस्थित करेंगे। इस प्रकारके शब्द एक वर्गके पाठकको सन्तुष्ट कर सकेंगे किन्तु इन दोनोंका संग्रह किसी वर्गको नहीं अतः संस्कृत और अरबी फारसीके कठिन और अप्रचलित शब्दोंका प्रयोग गीति-काव्यकी धाराके विरुद्ध है।

अन्तः प्रकृति और शब्द-प्रवृत्तिके कुछ उदाहरण नीचे उपस्थित किये जाते हैं—

मन्द मलयभर अङ्ग-गंध मृदु
बादल अलकावलि कुञ्चित ऋजु,
तारक हार, चन्द्रमुख, मधुऋतु
सुकृत पुञ्ज अशना। —निराला

... ...

विदा हो गयी साँझ, विनत मुखपर झीना आँचल धर
मेरे एकाकी आँगनमें मौन मधुर स्मृतियाँ भर! —पन्त

... ...

रञ्जित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोकका अरुण राग,
मेरे मण्डनको आज मधुर ला रजनीगंधाका पराग —महादेवी

दे रही कितनी दिलासा,
आ झरोखेसे जरा-सा
चाँदनी पिछले पहरकी पासमें जो सो गयी है।

... ...

रात आधी हो गयी है। —बच्चन

बुझती नहीं जलन अन्तरकी बरसें दृग, बरसें जलधर
मैंने भी क्या हाय, हृदयमें अंगारे पाले सजनी। —दिनकर

... ...

है सिसक रही युग-युगकी
प्यासी-सी यह अभिलाषा,

हँसती रहती है उरमें
मेरी चिर संचित आशा।

—भगवतीचरण वर्मा

विशेषणोंके प्रयोगमें कविको सदा सावधान रहनेकी आवश्यकता है। विशेषण ही भावको साकार करते हैं कारण विशेषणोंके कारण अर्थकी व्याप्तिका संकोच होता है। जिस भावनाका जितना अधिक सीमा-विस्तार है, उसे मूर्त्त रूप देनेमें उतनी ही अधिक सावधानीकी अपेक्षा है। हिन्दीके अनेक तथा-कथित कवियोंमें विशेषणोंका दुरुपयोग हो जाता है। महादेवी और पन्तमें भी 'चिर' और 'नव' का अधिक मोह देखा जाता है। वास्तवमें यह मोह छन्द बन्धनके कारण भी है, जहाँ मात्रा-पूर्त्तिके लिए पूरक शब्दोंकी आवश्यकता पड़ जाती है। तुकान्तकी रक्षाके लिए मैथिलीशरण गुप्तने कुछ विचित्र शब्दोंका प्रयोग कर दिया है 'राई रत्ती' की तुकान्त-रक्षाके लिए 'तत्ती' का प्रयोग हुआ है। निरालाने अलकावलिको 'कुञ्चित ऋजु' के कारण स्वरूप दिया है। 'विनत' के द्वारा मुख शोभा, सुषमा, मलिनता शोक और भारकी प्रतिछवि बन गया है। आँचलके साथ 'झीना' का प्रयोग नवीन कलात्मक आग्रह उत्पन्न करता है। यदि आँचल झीना नहीं होता विनत मुखका भाव स्पष्ट नहीं होता कारण कुछ देखनेकी सुविधा नहीं रहती। झीने आँचलके कारण उस औत्सुक्यका जन्म होता है जिसके कारण सौन्दर्य नवीन रूप ग्रहण कर लेता है। 'एकाकी आँगन' आँगनके अकेलेपनका भाव व्यक्त करता है यद्यपि कवि उस आँगनमें अपने एकाकी होनेका भाव ग्रहण कराना चाहता है। आँगनका प्रयोग यहाँ हृदयके अर्थमें हुआ है अतः इस 'एकाकी' का अर्थ सूना लेना पड़ेगा। हृदयका अर्थ भी रक्त संचालन क्रियाका संचालक अङ्ग-विशेष नहीं, बल्कि

रागात्मक वृत्ति है अतः 'एकाकी' शब्द 'शून्य' से 'सुप्त' अर्थका द्योतक होगा। 'मौन मधुर स्मृतियाँ' में 'मौन' के प्रयोगका अर्थ कविके मौन रह जानेसे है यद्यपि उसकी रागात्मिका वृत्ति उसकी कवितामें मौन नहीं रह सकी है क्योंकि स्मृति सदा मौन है अतः केवल सामान्य धर्मकी सूचना देनेवाले समानाधिकरण विशेषणके रूपमें नहीं है। महादेवीमें 'शिथिल चरण' के कारण गतिकी मन्दता, थकावट, और चलनेकी अनिच्छा सूचित है। 'सुधिकी बयार आते ही मिलनोत्कंठामें चरण आगे बढ़ जाते हैं और आनन्दके लिए शृंगारकी आवश्यकता होती है। अशोकके साथ 'नव' का प्रयोग ताजगी और स्फूर्त्तिका सूचक है। 'शिथिल' के विरोधमें 'नव' नये आवेश और चेतनाका प्रतीक बन जाता है। 'राग' शब्दका प्रयोग साधारणतया रङ्गके अर्थमें होनेपर भी 'लालरङ्ग' के अर्थमें आता है। रागका अर्थ अनुराग है। लाल नवीन उत्साहका सूचक है। लाली मादकताका प्रतीकत्व करती है अतः साधारण दृष्टिसे अरुण अनावश्यक होकर भी गम्भीर हार्दिक वृत्तिके कारण बौद्धिकताके नियंत्रण और प्रेमकी मादकताकी ओर संकेत करता है। 'प्यासी-सी' अभिलाषामें विकलता और सन्तोषका यत्किञ्चित मिश्रण है। सारी अभिलाषाएँ अपूर्ण रह गयी हैं, यह भी नहीं, और ऐसा भी नहीं कि कोई आशा पूरी ही नहीं हुई है एवं यह विशिष्ट अभिलाषा सन्तुष्ट नहीं हो सकी, हो भी नहीं सकेगी अतः अभिलाषा प्यासी है, युग-युगतक प्यासी रहेगी अतः आशा चिरसंचित है। 'जरा-सा' में वचन भी उसी दिशाका संकेत करते हैं, क्योंकि चाँदनी जरा-सी आती है, यद्यपि प्रयोग क्रिया-विशेषणकी भाँति है किन्तु प्रवाह और चिन्तन इसका सम्बन्ध चाँदनीसे अधिक जोड़ते हैं इसीलिए तो यह 'कितनी दिलासा' देती है।

गीति-काव्य और समाज

गीति काव्य और समाजके सम्बन्धमें दो प्रश्न हैं। पहला गीति-काव्यके उपयुक्त कौनसी सामाजिक स्थिति है एवं सामाजिक भावनाकी कहाँतक अभिव्यञ्जना इसमें सम्भव है? सामाजिक विकास-क्रम-के साथ साहित्यिक विकास-क्रमका अध्ययन समाज और साहित्यके सम्बन्ध-सूत्रका निर्देश करता है। साहित्य अन्य कलाओंकी भाँति वर्ग-बद्ध रहा किन्तु गीति-काव्यका इतिहास स्पष्टतया सूचित करता है कि गीति-काव्यकी प्रेरणा जनसमुदायसे मिलती रही। केवल आधुनिक युगमें आकर मध्यम श्रेणीकी प्रमुखताने इस विकासको नयी दिशाका संकेत दिया है। विद्यापतिने गीतोंके लिए मैथिलीको चुना। विद्यापति संस्कृतके विद्वान थे और उन्होंने संस्कृतमें ग्रन्थोंकी भी रचना की थी किन्तु मैथिलीको गीतोंके उपयुक्त माननेका अर्थ स्पष्ट है कि गीति-काव्यके विकासका सामाजिक आधार है। कबीरने लोक-भाषा अपनायी; सूर और तुलसीने ब्रजभाषाको। सूरके पहलेक ब्रज-साहित्य नगण्य और साहित्यिक उद्भावनासे रिक्त दीख पड़ता है। गीति-काव्यकी आत्मा वैयक्तिक रागात्मक अनुभूतिमें है अतः संक्रान्ति कालमें गीतोंका प्रचलन अधिक देखा जाता है। मुसलिम विजयके साथ लोगोंकी संवेदनशीलता अत्यन्त संक्षोभ्य हो गयी थी। फलस्वरूप गीति-काव्यका पूर्ण विकास उस समय हुआ। रीतिकालीन कवितामें गीति-काव्यके उपयुक्त सामाजिक अवस्थाका परिचय नहीं मिलता। अंग्रेजी राज्यकी स्थापना, और नयी सांस्कृतिक चेतनाका विकास अनुभूति और बोध दोनों रूपोंमें हुआ। बौद्धिकताका अधिक भार गीति-काव्य वहन नहीं कर सकता किन्तु अनुभूति और बौद्धिकताके सामञ्जस्य-का प्रयास आधुनिक गीतोंमें है। क्रमशः अनुभूतिका विकास बौद्धिक क्षेत्र आ रहा है, ऐसी अवस्थामें गीति-काव्यके क्षेत्रमें शिथिलता दीख रही

है। गीति-काव्यका एक रूपमें विकास निकट भविष्यमें होनेवाला है जिस समय राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक बन्धनोंसे मुक्ति मिलेगी। किन्तु साहित्यकी यह स्थिति अधिक समयतक नहीं टिक सकेगी कारण सर्वजनीन हिस्टीरिया (Mass histeria) का प्रभाव अधिक समयतक नहीं रहेगा और वस्तु-स्थितिका ज्ञान अधिक प्रेरणा नहीं दे सकेगा। मानवताके नव-विकासकी आज जो सूचना मिल रही है उसमें मनुष्य चेतन, जागरूक और प्राणवान हो सकेगा। वह सामाजिक स्थिति अधिक उपयुक्त होगी किन्तु मनुष्यका बौद्धिक स्तर परिवर्तित हो जायगा और अनुभूति उसके विचारोंके नीचे दब जायगी, ऐसी आशंका है; वैसी अवस्थामें गीति-काव्यके उपयुक्त अवस्था लौटनेकी सम्भावना अधिक नहीं रहेगी।

सामाजिक भावनाकी अभिव्यञ्जना स्पष्ट रूपसे गीति-काव्यमें इसकी अधिकरणनिष्ठताके कारण नहीं हो सकती किन्तु व्यक्ति और समाजका पारस्परिक सम्बन्ध अविछिन्न है। व्यक्तिकी वैयक्तिकताकी रक्षा करते हुए भी इतना निर्विवाद-रूपमें स्वीकार करना पड़ेगा कि सामाजिक परिस्थितियोंके अनुकूल ही उसका विकास होता है; बहुत सम्भव है कि विकास कोई दूसरा रूप भले ले ले। कलाकारके विद्रोहका अर्थ मान्यपरम्परा और साहित्यिक संस्कारका विरोध है अतः सामाजिकता व्यक्तिके माध्यमसे ही अभिव्यक्त हो सकती है। सुख दुःख आदि वृत्तियोंकी अन्विति स्वीकार करनेमें भी हमें मानना पड़ेगा कि सुख-दुःखकी अनुभूतिके रूपोंमें सामाजिक कारणोंसे अन्तर आ गया है। प्रेम स्वाभाविक वृत्ति है। यूरोपमें भी प्रेम होता है और भारतमें भी; किन्तु प्रेम-मार्गकी बाधाओंमें दोनों भू-खण्डोंकी सामाजिक परिस्थितियोंके कारण विभेद है अतः उनकी अभिव्यञ्जनामें भी विभेद आ जाता है। सामाजिक भावना-

की परिणति व्यक्ति-भावनाके रूपमें होती है और इसी रूपमें गीतिकाव्यमें अभिव्यञ्जित भी।

गीति-काव्यका वर्गीकरण

वर्गीकरणके कई आधार हैं और इस प्रकार भिन्न आधारके अनुसार वर्गीकरण भी भिन्न होंगे। वर्गीकरणका साधारण आधार आवृति है और इस प्रकार तर्कसम्मत प्रणालीसे अध्ययन-विवेचन, तत्त्व-निरूपणद्वारा गीतिके भिन्न-भिन्न भेदोंका विचार किया जा सकता है। ऐतिहासिक आधारपर भी इसके वर्गीकरणका प्रयास हो सकता है। प्रवृत्ति और प्रकृतिके अनुसार वर्गीकरणकी प्रथा अत्यन्त प्रचलित है। जातीय-भावनाके आधारपर अंग्रेजी-गीतिकाव्य, फ्रेंच गीति-काव्य, रूसी गीति-काव्य आदिके रूपमें वर्गीकरण हो सकता है। भाषा-विशेषके रूपमें वर्गीकरण भी होता है जैसे हिन्दी गीति-काव्य, बँगला-गीति काव्य आदि। मानसिक चेतनाके आधारपर वर्गीकरण गीति-काव्यको विचारात्मक, भावात्मक, रागात्मक, कल्पनात्मक आदि रूप दिया जा सकता है। रूप और आवृतिके अनुरूप वर्गीकरणकी चेष्टा पहले की जायगी। अंग्रेजीके आलोचकोंने वर्गीकरणका विस्तृत प्रयास किया है, अंग्रेजी साहित्यमें प्रचलित गीतोंके आधारपर हिन्दीमें वर्गीकरणकी चेष्टाएँ हुई हैं। अंग्रेजीका पूरा विधान हिन्दी कविताओंमें नहीं अतः केवल अंग्रेजीके आधारपर उनका वर्गीकरण उपयुक्त नहीं हो सकता।

गीति-काव्यका सबसे अधिक प्रचलित रूप गीतोंमें मिलता है। गीत गेय काव्यका विकसित रूप है। गेय काव्यमें जहाँ गेयता और संगीतके शास्त्रीय निर्वाहका आग्रह है वहाँ गीतोंमें संगीतकी नहीं संगीतात्मकताको अपेक्षा रहती है। गीति-काव्यके इस प्रकारके वर्गीकरणमें संगीत मुख्य

कसौटी है। संगीतको ही विभाजक-रेखा समझना चाहिये। शुद्ध गीतोंमें रागात्मक अनुभूति अथवा भावनाकी सहज अभिव्यक्ति होती है जिसमें शब्द और लय अन्तर्भूत अनुभूतिकी व्यञ्जनामें सहायक होकर उनका संकेत देते हैं। नाद-सौन्दर्यका साहचर्य पाकर गीतोंके चरण भावाभिव्यक्तिमें सहायक होते हैं। प्रत्येक उपादान इतना अन्वित रहता है कि एक को दूसरेसे भिन्न नहीं किया जा सकता। शब्द सहज, स्वाभाविक किन्तु चित्रमत्ता-संयुत और भावनोचित होते हैं। शब्दोंकी अर्थ-परिधि विस्तृत होती है जिससे व्यञ्जना-शक्तिको बल मिलता है। अभिधाके द्वारा ही अनुभूतिकी चेतना पाठकमें नहीं जगती अतः व्यञ्जक शब्दोंका प्रयोग इस प्रकारके गीति-काव्यमें अधिक होता है। लय और प्रवाह ऐसे रहते हैं कि भावना और अनुभूतिके उत्थान-पतन, गति-अगति, गम्भीररागात्मक आवेशका संकेत करते हैं और छन्दको उस प्रकारकी अभिव्यक्तिके उपयुक्त बनाते हैं। खड़ी बोलीका स्वर-विधान इतना जकड़ा हुआ है कि कविको इस क्षेत्रमें कठिनाईका सामना करना पड़ता है। इसके सहज स्वाभाविक प्रवाहके कारण इन गीतोंमें अधिक प्रभाव आता है। गानोंकी प्रमुखता बौद्धिक चमत्कार उत्पन्न करने अथवा इच्छा-शक्तिको उत्तेजनामें नहीं—फिर भी इस पहली अवस्थामें—। मानवकी रागात्मिका वृत्तियोंको अधिकसे अधिक रूपमें जाग्रत करनेकी क्षमता, वैयक्तिकताको सार्वजनिक रूप देनेमें तत्परता, कल्पनाद्वारा भावोत्तेजनाकी शक्ति और नाद सौन्दर्य एवं संगीतात्मकताकी रक्षा, के कारण गीतोंसे आनन्द और रसकी अनुभूति होती है। पाठक इनकी संवेदनशीलताके कारण प्रभावित होता है और उसमें भी तदनुरूप अनुभूति और भावना जाग्रत होती है। 'मूड' (वृत्ति), भावना अथवा विचार वैयक्तिक होकर सार्वजनिक रूपमें विभिन्न नहीं होते। गीतोंमें [illegible] अधिक रहनेसे [illegible]-

त्मकता अल्प। जीवनकी आकांक्षा और वासनाके अनुरूप आवेश, तीव्रता और संक्षिप्तता रहती है। संगीत और काव्य इसमें मिलकर एकाकार हो जाते हैं।

'गीत' शब्दका प्रयोग आजकल किसी निश्चित अर्थमें नहीं हो रहा है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित साहित्यकी गति-विधि परीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि जितनी असावधानी इस शब्दके प्रयोगमें हो रही है, उतनी शायद ही और किसी दूसरे शब्दके प्रयोगमें। अनुमान होता है, शीर्षकहीन कविताओंके लिए कवियोंने यही उपयुक्त शीर्षक समझ रखा है। संक्षेपमें वर्णनात्मक, गीतात्मक, विचारात्मक, भावात्मक किसी प्रकारकी रचनाको गीत कहनेसे कवि हिचकता नहीं यद्यपि गीत-तत्त्व अनेकोंमें यदि रहता भी है तो अल्प मात्रामें। गीतकी यदि सीमा निर्धारित की जाय तो संगीत और काव्यके समुचित समन्वयको कहेंगे, जिस प्रकार सूर, तुलसी, मीराके गीत हैं। इन कवियोंने संगीत-शास्त्रके अन्तर्गतकी राग-रागिनियोंके बन्धनमें अनुभूति और भावनाकी अभिव्यञ्जना की है। उनके गीतोंमें संगीतकी जो रक्षा हुई है वह आजकलकी कवितामें नहीं। इस प्रकारकी कविता शुद्ध कलाका स्वरूप है जिसमें सौन्दर्यिक चेतना काव्य-तत्त्वको प्रेरणा देती है और संगीत-तत्त्व आनन्दानुभूतिका तीव्र आवेश। किन्तु गीतोंकी इस सीमाका अतिक्रमण आधुनिक युगमें हो गया है। इन गीतोंके वर्गीकरणका ठोस आधार नहीं किन्तु व्यावहारिक रूपमें इनका वर्गीकरण सम्भव है, प्रेम गीत—जिसमें संयोग और विप्रलम्भ दोनों आते हैं, व्यंग्य गीत (यद्यपि हिन्दीमें ऐसे गीत कम लिखे गये हैं) काम करनेके समयके गीत (लोक-गीतोंमें निरवाही, चरखा, जाँता और कोल्हूके गीत इसी कोटिमें आते हैं, सभ्यताके विकासके साथ इनका ह्रास होता जा रहा है।) धार्मिक गीत, उत्सवों

अथवा संस्कारोंके समयके गीत (विवाह, यज्ञोपवीत संस्कारादि), राष्ट्रीय गीत, युद्ध-गीत, नैतिक गीत, नृत्य गीत (कोरस) आदि इनके कई रूप हैं। इन गीतोंका वर्गीकरण लोक-गीत और कला-गीतके रूपमें किया जाता है। कला-गीत और गीति-काव्यमें अन्तर है। हिन्दीमें इन शब्दोंके प्रयोगमें भ्रम होता रहा है। अंग्रेजीमें जिसे 'सांग' (Song) कहते हैं, वह गीत है जिसमें गेयता और संगीतकी रक्षा आवश्यक होती है। लोक-गीतोंके साथ संगीत-तत्त्वकी रक्षाका नियम स्वीकार कर कला-गीतोंकी रचना हुई। लोक-गीतोंको वहाँ folk-lore कहते हैं अतः गीतोंके अर्थमें 'सांग' शब्दका प्रयोग है। गीति-काव्यके अर्थमें वहाँ 'लिरिक' शब्दका प्रयोग होता है जिसके तत्त्वोंकी विवेचना इन पृष्ठोंमें हुई है अतः गीति-काव्य और गीत एक नहीं भिन्न हैं जिनमें समान तत्त्व हैं और इन गीतोंके आधारपर ही गीति-काव्यका विकास हुआ है। विकास-क्रमके रूपमें गीतके विकासकी तीन अवस्थाएँ हैं—लोक-गीत, धार्मिक और लोकप्रिय गीत, कलात्मक गीत। लोकप्रिय और कलात्मक गीतोंका अन्तर इनके प्रभाव-क्षेत्रके कारण है। लोक-प्रिय गीतोंमें सामाजिक आग्रह रहता है। सभ्यताके विकासके कारण समुदाय विशेषकी रुचि परिष्कृत हो जाती है, अतः कलात्मक गीतोंका प्रभाव संकुचित क्षेत्रपर पड़ता है।

जातीय और राष्ट्रीय गीतोंके स्वरूपोंमें भिन्नता है। संस्कृतके (जयदेव आदिके) गीतों और हिन्दीके गीतोंमें अन्तर है। जयदेवमें जहाँ वर्णनकी अधिकता है, जो गीतोंकी आत्माके विरुद्ध है, वहाँ उन्हींके मार्गपर चलनेवाले विद्यापतिके गीत वर्णनात्मकतासे अनेक अंशोंमें मुक्त हैं। गीतोंके सामान्य तत्त्वके रहते हुए भी जातिगत विशेषता प्रत्येक जातिके गीतोंमें लक्षित होती है। यहाँ प्रत्येक जातिके गीतोंकी तुलना द्वारा उनकी

जातिगत विशेषताके दिग्दर्शनका प्रयास नहीं किया जा सकता। अंग्रेजों-का समाज और जीवन अत्यन्त नियमित और बँधा हुआ है। सामाजिक 'कोड'के भीतर ही कार्य करनेका अवकाश है। जीवन इतना व्यग्र और और संलग्न है कि उसमें मनोभावके प्रकाशके लिए स्थान नहीं, अतः उनके साहित्यमें प्रेमके अतिशय प्रकाशका मोह है, इसके द्वारा जीवनके अभावकी क्षति-पूर्ति हो जाती है। उनके क्लब, सिनेमा-घर, पार्क आदिके व्यवहार इसे प्रमाणित करते हैं। भारतीय जीवनमें आज विवशता, लाचारी और ग्लानि है। अतः यहाँके गीतोंमें इनका प्रकाश है और है इनकी क्षति-पूर्तिके रूपमें अधिक उत्तेजना, कुछ कर दिखानेका साहस और दर्प। वर्तमानसे असन्तुष्ट होनेके कारण अतीत गौरवमें शरण लेनेका भाव भी कम नहीं और इसी अभावको आध्यात्मिक रङ्ग देनेका आग्रह भी है। संगीत-नृत्यके सम्बन्धमें धार्मिक प्रतिबन्ध होनेके कारण उर्दूमें वास्तविक गीति-काव्यका विकास नहीं हो सका। गजल उर्दूका अत्यन्त प्रचलित छन्द है। इसमें संगीतात्मकताका अभाव नहीं, वल्कि गजलके प्रचलनने शास्त्रीय संगीतकी लोक-प्रियता नष्ट कर दी है, जिस अधिकरणनिष्ठताकी अपेक्षा है, उसका भी अभाव नहीं ; गीति-काव्य-तत्त्वकी उपेक्षा समाहित प्रभावके अभावमें हो जाती है। प्रत्येक शेर दूसरेसे असम्बद्ध है, यहाँतक कि कविकी वृत्ति (मूड) भी भिन्न भिन्न दीख पड़ती है अतः वह मुक्तकके अधिक समीप है। शोक-गीतोंके रूपमें 'मर्सिया' अधिक सफल अवश्य रहा, यद्यपि संगीत-तत्त्वकी रक्षाका अधिक आग्रह नहीं।

डा० श्रीकृष्णलालने गीति-काव्यके महत्त्वपूर्ण अङ्गके रूपमें आध्यान्तरिक गीतियोंकी गणना की है। 'इस (आध्यान्तरिक) गीति-काव्यकी प्रेरणा-शक्ति कविको अपने अन्तःप्रदेशसे मिलती है' ? यह उनका मत है।

१—आधुनिक हिन्दी साहित्यका विकास पृ० ११८

गीति-काव्य आभ्यान्तरिक ही है जिन 'भावावेशों'में कविका व्यक्तित्व स्पष्ट दिखायी देनेकी चर्चा उन्होंने की है, वही गीति-काव्यके प्राण हैं और इसके अभावमें कोई गीति-काव्य सफल नहीं हो सकता। जिस शोक-गीतका वर्णन उन्होंने किया है उसके मूलमें भी आभ्यान्तरिक प्रेरणा है। प्रेरणा आभ्यान्तरिक ही होगी, उसके जाग्रत होनेके कारण बाह्य अथवा आन्तरिक हो सकते हैं। तीन विभिन्न शैलियोंकी चर्चा करते समय उन्होंने पहली शैली वह मानी है जिसमें 'कवि अपने ही अनुभव और भाव अपने ही ऊपर डालकर लिखते हैं।' मन्तव्य स्पष्ट करनेके लिए उन्होंने सुभद्रा कुमारी चौहानका यह गीत दिया है—

बड़ी आराधना करके बुलाया था उन्हें मैंने,
पदोंको पूजनेके ही लिए थी साधना मेरी;
तपस्या-नेम-व्रत करके रिझाया था उन्हें मैंने,
पधारे देव पूरी हो गयी आराधना मेरी।
उन्हें सहसा निहारा सामने संकोच हो आया,
मुँदीं आँखें सहज ही लाजसे नीचे झुकी थी मैं;
कहूँ क्या प्राणधनसे यह हृदयमें सोच हो आया,
वही कुछ बोल दें पहले प्रतीक्षामें रुकी थी मैं।
अचानक ध्यान पूजाका हुआ झट आँख जो खोली,
हृदय-धन चल दिये मैं लाजसे उनसे नहीं बोली;
नहीं देखा उन्हें बस सामने सूनी कुटी देखी,
गया सर्वस्व अपने आपको दूनी लुटी देखी।

इन पंक्तियोंमें [illegible] इस 'आभ्यन्तरिक' पर विचार किया जाय। आराधनाकी पूर्तिके [illegible] ही [illegible] चौहान [illegible]

निहारती हैं अतः लज्जाकी प्रेरणा सहसा उन्हें सामने देखनेके कारण है अतः प्रेरणाका मूल आन्तरिक नहीं, बाह्य है। आभ्यान्तरिक प्रेरणा कहनेका तात्पर्य यह है कि उसके मूलमें भी आन्तरिकता होनी चाहिए। 'कहूं क्या प्राण-धनसे यह हृदयमें सोच हो आया' यह स्पष्टतया सूचित करता है कि अनुभूति तीव्र नहीं कारण सोचने-विचारनेकी शक्ति रह जाती है कारण यह चाह बनी रहती है कि 'वही कुछ बोल दे पहले प्रतीक्षामें रुकी थी मैं'। अनुभूतिके तीव्र आवेशमें यह विवेक-शक्ति सम्भव नहीं। 'गया सर्वस्व अपने आपको दूनी लुटी देखी'में भावनाका उचित विकास है जिसमें अनुभूति और विचार एकाकार हो गये हैं किन्तु बीचकी अवस्था जिसमें अनुभूतिकी तीव्रताके चित्रोंकी अपेक्षा थी, नहीं दीखती। इस प्रकार प्रेरणा आभ्यान्तरिक नहीं बल्कि बाह्य है। 'आँसू'में जिस शोक-गीत-तत्त्वकी चर्चा डा० लालने भी की है, उसके तत्त्वका आभास 'दूनी लुटी देखी' में है।

वीरगीत (Ballads)

संगीत, कथन और कार्यसे सम्भवतः तीन प्रकारके काव्य—गीत, पाठ्य और नाट्यका जन्म हुआ। पीछे चलकर इनका मिश्रण हुआ और अनेक अन्य प्रकारोंकी सृष्टि हुई। गीति-नाट्यमें संगीत और नाट्य तत्त्वोंका मिश्रण हुआ। यात्रा पार्टियोंका नाट्य अनेक अंशोंमें इसका प्रारम्भिक रूप है। नौटंकियोंमें नृत्य और गीतका इतना व्यापक प्रभाव है कि वह अरुचिकर हो उठा है कारण राजा नाचते-गाते हैं, रानी नाचती-गाती हैं और दासी भी, इतना ही नहीं बल्कि प्रत्येक उत्तर गीतोंमें गाकर दिया जाता है। स्वाभाविकताकी यह हत्या शायद और कहीं नहीं होती। वीर-गीति-काव्योंमें गीत और

पाठ्य (Recital) का मेल है। अंग्रेजीमें जिसे पेस्टोरल (Pastoral) काव्य कहते हैं, उसका विषय चरवाहा है, उसमें गीति और नाट्य-के साथ कथाका सम्बन्ध है। भोजपुरी लोक-गीतोंमें चरवाहोंके गीत हैं किन्तु पीछे चलकर सबसे बड़े ग्वाले और चरवाहे कृष्णके चरित्रकी गाथा जुट गयी। 'विरहा' के गीत इसी प्रकारके हैं जिनमें 'विरह'के गीतोंका मिश्रण हो गया। अहीरोंमें प्रचलित होनेके कारण, जो मुख्यतया चरवाहोंकी जाति है, इसके चरवाहोंके गीत होनेका प्रमाण प्राप्त होता है। विरहाकी दो कड़ियोंमें इसकी विशिष्टता दीख पड़ती है—

विरहा गाऊँ वाघकी नाईं दल वादल वहराय।
सुनिके गोरिया उचकि उठि धावै विरहा क सवद ओनाय।

वीरगीतोंका आधार भी कुछ इसी प्रकार है जिसमें गीत और पाठ्य-का मिश्रण प्रारम्भिक अवस्थामें रहा। पीछे चलकर क्रमशः गीतात्मकताका कुछ ह्रास होता गया और कथाका आग्रह बढ़ता गया। कथाके कारण नाट्य-तत्त्वोंका आरोप भी होने लगा, कारण गायक चित्रित चरित्रके अनुरूप नाद-शक्तिके प्रदर्शनमें लगा। आल्हा-ऊदलके गीत सुननेवालोंने लक्ष्य किया होगा कि गायक किस प्रकार चरित्रोंके परिवर्तनके साथ अपने स्वरमें परिवर्त्तन करता है। महाकाव्योंका रूप-विकास इन्हीं वीर-गीतोंके आधारपर हुआ होगा। रामायण आदिके इस गीतात्मक रूपका अन्दाज इसके अभिनीत रूपसे लग सकता है। वीरगीतोंके लिए छन्द साधारण और भाषा ओजस्विनी होनी चाहिए। विषय अधिकांश अवस्थाओंमें कथात्मक होता है। जिसमें शृंगारके तत्त्वोंका मिश्रण हो जाता है। वीर काव्योंमें भी यह प्रवृत्ति दीख पड़ती है; जहाँ शृङ्गार कारण रूपमें स्थित नहीं रहता वहाँ भी युद्धके कारण रूपमें किसी नारी-

को कवि ला खड़ा करता है। इस प्रकार युद्ध-गीत, पौराणिक गीत अथवा रोमाञ्चकारी गीतके रूपमें वीरगीतोंका विकास हुआ है। कथात्मक आग्रहके साथ अवैयक्तिक रूप भी स्पष्ट है। गायक अथवा रचयिताके मनोभाव प्रकट नहीं होते। राष्ट्रीय गीतोंके रूपमें इसका विकास कलात्मक वीरगीतोंके रूपमें हुआ किन्तु प्रकृत रूपमें नहीं। कवि वीरता एवं स्वदेश प्रेमके लिए कथाका आग्रह लेकर उन नायकोंके नामसे ही दर्प और ओज भरनेका प्रयास करता है। 'बोधिसत्व' कवितामें दिनकर बुद्धदेवका चरित्र आजके युगकी पृष्ठभूमिपर देख उनसे जागनेका आग्रह करते हैं। 'हिमालय' के प्रति कवितामें भी वीर गीतात्मकता है यद्यपि पद्धति दूसरी है। शायद इसी लिए किसीने दिनकरको आधुनिक युगका 'चारण कवि' कहा है। पन्तके 'परिवर्तन'में कथाका रूप न रहनेपर भी संकेत है, जीवन और उसके परिवर्तनोंके अन्तर्भूत रूपमें कथा है। छन्द और लयात्मक विकास भिन्न होनेपर भी वीर गीतोंका रूप उसे प्राप्त है। निरालाके यमुनाके प्रति कवितामें 'रोमांस'का तत्त्व अधिक है। शुद्ध वीरगीतोंका हिन्दीमें अभाव-सा है। लोक-गीतोंके विकसित होनेके कारण साहित्य-क्षेत्रमें इनकी प्रतिष्ठा नहीं हुई अतः यह लोक-समाजके कण्ठोंमें बसता रहा। कला-गीतों अथवा गीतोंके इस विकास-युगमें वीरताका आग्रह नहीं रहा अतः वीर गीतोंके उचित विकासकी अवस्था नहीं आ सकी।

करुण-गीति (Elegy)

संस्कृतके साहित्य-शास्त्रमें करुण-गीति नामक कोई वर्गीकरण नहीं है। करुण-रसका स्थायीभाव शोक है। करुण विप्रलम्भमें भी शोकका प्रधान स्थान है, यद्यपि रति स्थायीभाव रहता है। भवभूतिने

करुण-रसको प्रधान माना है इस प्रकार करुण-रस अथवा करुण-गीतोंका अभाव संस्कृत साहित्यमें नहीं। शकुन्तलामें राजाके विलाप अथवा रानी हंसपादिकाके गीतमें इसका आभास है। संस्कृत साहित्यमें दुःखान्त नाटकोंका अभाव है, नाट्य-शास्त्रके बन्धनके कारण; अतः करुण-गीतोंका अभाव-सा है। करुण-गीतिका विकास पाश्चात्य देशोंमें हुआ किन्तु प्रारम्भमें उसका वही रूप नहीं था जो आज है। करुण-गीति महाकाव्य और गीति-काव्यका मध्यवर्ती बनकर चला। ग्रीक साहित्यमें करुण-गीतिका विकास विशेष छन्द-बन्धनके कारण 'एलेजी' कहलाया, कारण इसमें इसी नामके छन्दका विधान था जिसका छन्द-विधान इस प्रकार–˘˘ था। षट्पदी अथवा पञ्चपदी छन्दोंका विधान भी था। इस प्रकार 'एलजियक' छन्दमें लिखी गयी कविताएँ, करुण-गीत और द्वय-पंतयात्मक छन्दोंमें लिखे गये करुण-गीत इस प्रकारकी कविता-में परिगणित होते रहे। विकास-क्रममें रूप-परिवर्तन होता रहा और इस प्रकार शोक-पूर्ण गीति-काव्यको विशेष प्रकारके छन्द-बन्धनसे मुक्ति मिल गयी और किसी प्रकारके छन्दमें लिखे गये शोक-गीत इस श्रेणीमें आते रहे। प्रेम और विरह, व्यक्तिगत निराशा और हानि, जीवनके अहंकार और दर्पका चूर्ण होना, एवं व्यक्ति, समाज अथवा देशके अतीत गौरवका ह्रास आदि इसके विषय हैं। विचारसे अधिक भावनाओंकी इसमें अभिव्यक्ति होती रही है। इस उन्नत क्रममें अंग्रेजी साहित्यके शोक-गीतने भारतीय साहित्यको प्रभावित किया। पण्डित श्रीधर पाठक-कृत ऊजड़-ग्राम गोल्डस्मिथके डेजरटेड विलेज (Deserted Village) का अनुवाद है। राष्ट्रीय कविताओंमें अतीत-गौरवके नष्ट होनेपर शोकोच्छ्वासकी अभि-व्यक्ति पायी जाती है। भारतेन्दुसे लेकर आधुनिकतम राष्ट्रीय कविमें ऐसी भावना पायी जाती है, राष्ट्रीय गीतोंके प्रभावका कारण अनेक अंशोंमें

यही होता है। भारत-भारतीका वर्तमान खण्ड इसी रूपमें है। जयद्रथ-वधके उत्तरा विलापमें भी इसका अभाव नहीं; किन्तु सम्पूर्णतया शोक-गीतके रूपमें कम कविताएँ लिखी गयी हैं। तिलक आदि राष्ट्रीय नेताओंकी मृत्युपर ऐसे गीत लिखे गये हैं। प्रसाद-लिखित 'आँसू' और प्रभात रचित 'कलेजेके टुकड़े' में विरह-काव्यका प्रवाह है किन्तु इन्हें पूर्णरूपसे करुण-गीतिकाव्यका रूप प्राप्त नहीं हो सका है। हिन्दीमें प्रचलित विषाद और वेदनाके गीतोंको करुण-गीति कह सकना इसलिए उचित नहीं जान पड़ता कि गीति-काव्यका विकसित रूप उनमें दिखायी नहीं पड़ता है। शोकके भावात्मक विकास और स्थूलताके कारण इनके स्वरूपमें अन्तर मानना चाहिए। वियोगीके नव-प्रकाशित महाकाव्य 'आर्यावर्त्त'में करुण-गीतिका विकसित रूप वहाँ मिलता है जहाँ कविरानी कहती है—

युद्ध हुआ शेष, आर्यसेना शेष हो गयी।
शेष हुआ पौरुष महान् आर्य जातिका,
शेष हुआ गौरव, विलीन हुआ ओला-सा
हाय! चिर सञ्चित सुयश आर्य भूमिका।
शेष हुए आर्यपति इस महानाशमें;
विजयी अनार्य हुए, आर्योंकी विजयका
टूट गया भासमान भानु असमयमें।

दिनकरी 'नयी दिल्ली'में शोक गीतिका विकसित रूप मिलता है। प्रसाद और प्रभात दोनोंमें वेदनाकी सुन्दर निवृत्ति हुई है। प्रसादमें दार्शनिक अनुबन्धमें मानवीय प्रेम और तज्जनित निराशा और शोककी अभिव्यक्ति हुई है। प्रभातने मानवीय शोकको ही आधार माना है, यद्यपि यत्र-तत्र दार्शनिकताका मोह कम नहीं है।

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तकमें स्मृति-सी छायी,
दुर्दिनमें आँसू बनकर, वह आज बरसने आयी।—प्रसाद

× × ×

कौन कलेजेके टुकड़ेका बतलावेगा मोल ?
हृदय आह जलनेको देगा बना कौन है दानी ?—प्रभात

व्यंग्य-गीति

व्यंग्य-समाजकी जीवनी-शक्तिका परिचय देता है। जो जाति जितनी अधिक जीवनी-शक्ति रखती है उसमें व्यंग्य और हास्यकी उतनी अधिक प्रवृत्ति दीख पड़ती है। संस्कृत साहित्यमें हास्य-रसका विधान है। नाटकोंमें विदूषकोंके पेटूपनपर व्यंग्य और कटाक्ष किया गया है किन्तु इस प्रकारके व्यंग्य गीतोंका प्राधान्य कभी नहीं रहा। रस-विधान नाटकमें माना गया और हास्य-प्रधान नाटकोंकी रचना न होनेके कारण इस प्रकारकी कविताएँ कम हुई हैं। जो कटूक्तियाँ हुई हैं उनमें रूढ़िग्रस्तता है। सूरदासने व्यंग्य और हास्यका आधार लिया है किन्तु वह उपालम्भ काव्यके अन्तर्गत आता है। तुलसीदासमें 'नारद-मोह' और 'परशुराम-लक्ष्मण संवाद'में इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। व्यंग्यके सामाजिक आधारका दिग्दर्शन कबीरमें है जहाँ प्रचलित धर्म, रूढ़ि और परम्पराके प्रति उनका आक्रोश व्यंग्य-बाण बनकर छूट पड़ा है।

काँकर पाथर जोड़के, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥

इन पंक्तियोंमें 'मुल्ला'के बाँग देनेका आनन्द इसके व्यंग्यमें है। ग्रीक-साहित्यमें स्मारक काव्यका यह क्रम-विकास है। मृत्यु अथवा

स्मरणीय घटनाओंके वर्णन, जो स्मारक-स्तम्भ, मूर्ति अथवा भवनपर लिखे जाते थे। एपिग्राम (Epigram) शब्द का तात्पर्य स्मारक-लेख (Inscription) है। हास्य, व्यंग्य, अश्लील गीतोंकी गणना इसमें पीछे चलकर होने लगी। ग्राम-गीतोंमें इसके रूप मिलते हैं। ग्राम-गीतका एक व्यंग्य-चित्र है :—

पाँच वरिसवाके मोरि रँगरैली असिया वरिस क दमाद
निकरि न आवै तूँ मोरि रंगरैली अजगर ठाढ़ दुआर।

तथा— नाहक गौन दिये मोर बावा बालक कंत हमार रे।
चीलर अस दुइदेवर हमरे बलमा मुसे अनुहार रे॥

तेलवा लगायउँ बुकउवा लगायउँ खटिया प दिहेउँ ओलार रे।
नेपे नेपे आइ बिलरिया सवँतिया लइगइ बलमा हमार रे॥
सास मोरी रोवइँ ननद मोरी रोवइँ रोवइ हमारि बलाइ रे।
कोठवामें ढूँढ़ेउँ अटरियामें ढूँढ़ेउँ खटियातरे रिरिआँइ रे॥

[हा, मेरे बावाने मेरा गौना नाहक किया। मेरा कन्त निरा बच्चा है। चीलर (कपड़ेकी जूँ) के समान मेरे दो देवर हैं, मेरा बालम चूहेकी भाँति है। तेल लगाया, उबटन लगाया और खाटपर सुला दिया। बिल्ली सौत चुपके-चुपके आयी और मेरे बालमको ले भागी। मेरी सास रो रही है, मेरी ननंद रो रही है। मैं क्यों ? मेरी बला रोवे। अन्तमें मैंने कोठे-पर खोजा, अटारीपर खोजा, तो देखा कि खाटके नीचे पड़ा हुआ रिरिया रहा है।]

इसके व्यंग्यका आनन्द उसे ही प्राप्त हो सकता है जो 'ओलार रिरिआँइ' 'रोवइँ हमारि बलाइ' की भावधारा समझता है। इतना

सुन्दर व्यंग्य-चित्र हिन्दी साहित्यमें भी नहीं मिलता। कवियोंने सूमोंका बीभत्स चित्र अंकित किया है उसमें व्यंग्यसे अधिक द्वेषकी झलक मिलती है। महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'विधि विडम्बनामें' व्यंग्य-प्रकृतिका परिचय दिया है। भारतेन्दु-युगमें इस प्रकारकी रचनाएँ मिलती हैं। वह युग जिन्दःदिलीका था। आज हमारी प्रवृत्ति इतनी गम्भीर हो गयी है कि व्यंग्य और हास्यका युग नहीं रह गया है। 'सटायरिकल' (व्यंग्यात्मक) गीति निरालाने लिखे हैं। 'वन बेला' शीर्षक कवितामें राजपुरुषोंको प्राप्त कवि-प्रशंसा एवं धनिकोंके साम्यवादपर सटीक व्यंग्य है। इधर कुकुरमुत्तामें आधुनिक कवियोंकी प्रवृत्तिपर व्यंग्य हैं। पता नहीं, हिन्दीके अनेक पाठक और प्रगतिवादी उसे प्रगतिवादी कविताका अच्छा उदाहरण क्यों समझते हैं? क्या प्रगतिवादी कवितापर व्यंग्यात्मक आघात होनेके कारण ही तो नहीं! छन्द-बन्धनपर व्यंग्य छायावाद-युगकी प्रधान विशेषता रही।

समाज-गीति

अत्यन्त विकसित समाज अनेक विधि-विधानोंके कारण अधिक जकड़ा रहता है। सामाजिक नियमोंके इस कठोर बन्धनके कारण कवियोंका आक्रोश अवश्य फूटता है। समाज-गीतोंमें इस प्रकारके समाजके प्रति अवहेलना और बौद्धिक व्यंग्योक्ति रहती है। इस प्रकारके गीतोंको भिन्न श्रेणीमें रखनेका कारण केवल सामाजिक आधार ही है यद्यपि व्यंग्योक्तियों, कटूक्तियोंकी प्रधानता इसे व्यंग्यगीतिके अन्तर्गत रखनेका मोह देती है। नारीकी सामाजिक स्थिति कटूक्तियोंका विषय कम नहीं रहती। कबीरकी सामाजिक और धार्मिक व्यंग्योक्तियोंकी चर्चा हुई है। बच्चनने अपनी अनेक पंक्तियोंमें सामाजिक नियमोंपर व्यंग्य किया है।

क्या किया मैंने नहीं जो
कर चुका संसार अबतक
वृद्ध जगको क्यों अखरती
है क्षणिक मेरी जवानी ?
मैं छिपाना जानता तो—
जग मुझे साधू समझता,
शत्रु मेरा बन गया है
छल-रहित व्यवहार मेरा !

वृद्ध-जगका व्यंग्य केवल जगके वृद्ध होनेमें नहीं बल्कि वृद्धोंके जगमें है जिन्होंने अपनी जवानीमें न-जाने क्या-क्या किया था।

उपालम्भ गीति

विरह-गीतिका उपालम्भ-गीति विशिष्ट प्रकार है। विषाद और वेदनाका कारण विरह है किन्तु प्रियकी निष्ठुरताकी याद अधिक विकल करती है। अपने प्रति निरादर और उपेक्षाका भाव किसी दूसरेके प्रति प्रेमावेशका आधिक्य हृदयमें जलन उत्पन्न करता है। उपालम्भ काव्यमें प्रिय उस विरहका मूल कारण यदि न हो तो भी उसमें उपेक्षाका भाव रहता है। विरहके कई कारण हो सकते हैं। प्रिय चाहकर भी मिल नहीं सकता, उसकी विवशता, लाचारी तथा अन्य प्रतिबन्ध मिलने नहीं देते। यहाँ विरह-काव्य तो है किन्तु उपालम्भ-गीति नहीं। यक्षके विरहका कारण शाप है अतः उलाहनेकी सम्भावना नहीं। कृष्ण गोकुलसे वृन्दावन जाते हैं और गोपियोंको कुब्जाके प्रेममें पड़कर भूल जाते हैं, कम-से-कम गोपियोंके विश्वासमें ही। गोपियोंको स्वयं इस कथामें विश्वास नहीं, पूर्ण आस्था नहीं; किन्तु कृष्णका न आना इस सम्भावनाकी सूचना

अवश्य देता है। भ्रमर-गीतमें सूरने गोपियोंसे उपालम्भ दिलाया है। इस प्रकारके उपालम्भ-काव्य सर्वत्र मिलते हैं। उर्दू-काव्य इस उपालम्भसे भरा पड़ा है। उर्दू कवियोंकी 'माशूका' या 'माशूक' बेशर्म, बेहया, बदख्वार, बेरहम, बेदार और न-जाने क्या-क्या हैं। शायद ही किसी दूसरे साहित्यमें प्रियतमको इतने सुन्दर (!) सम्बोधनों और विशेषणोंसे याद किया गया हो।

'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्नमिच्छति जनं सजनोन्यसक्तः'

में यही उपालम्भका भाव है। 'मीर' को हवासे-शिकायत है :—

न रक्खी मेरी खाक भी उस गलीमें,
कदूरत मुझे है निहायत सबासे।

[मुझे सबा (प्रभातकालीन वायु) से सख्त शिकायत है, क्योंकि उसने सारा परिश्रम व्यर्थ कर दिया था। धूल बनकर मैं पड़ा था कि इस बहाने मिल सकूँ, पैरोंका बोझा ले सकूँ, लेकिन उसने ऐसा होने न दिया, उस गलीसे दूर ले उड़ाया ; वह आशा भी पूरी न हो सकी। कविरत्न सत्यनारायणके 'भयो यह अनचाहतको संग, दीपकको भावै नहीं जल-जल मरत पतंग'में यही उलाहना है। सूरका उपालम्भ-काव्य संसार-साहित्यमें शायद बेजोड़ है। इतना विस्तृत उपालम्भ काव्य और कहीं नहीं लिखा गया। व्यथा, पीड़ा, वेदना, विषाद और व्यंग्यका अपूर्व संगठन सूरके गीतोंमें है।

गीतिनाट्य

इस प्रकारकी रचनाका वास्तविक आधार गीति-काव्य होता है किन्तु प्रणाली नाटकीय होती है। कवि अपने आपका आरोप भिन्न-भिन्न चरित्रों-

पर करता है किन्तु प्रत्येक चरित्र उसकी प्रतिमूर्ति नहीं। उन सभीके विचारों और भावनाओंके साम्यमें कविकी अनुभूति और भावना अभिव्यक्त होती है। पूर्णरूपसे यह अधिकरणनिष्ठ नहीं है क्योंकि कविको अपनी भावनाएँ चरित्रोंके माध्यमसे प्रकट करनी पड़ती है। गीति-नाट्यकी कला परिष्कृत है कारण उसमें दो कठिन तत्त्वोंके समावेशकी चेष्टा है। प्रसादके 'करुणालय' और 'महाराणाका महत्त्व' गीति-नाट्य हैं, इनमें कथोपकथनका जितना सुन्दर निर्वाह है उतना संघर्ष और उसके चित्रणका नहीं। निरालाका 'पञ्चवटी प्रसंग,' उदयशंकर भट्टके 'मत्स्य-गन्धा' और 'विश्वमित्र' गीति-नाट्य हैं। भगवतीचरण वर्माका 'तारा' गीति-नाट्य है। इधर केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'ने 'संवर्त्त' नामक गीति-नाट्य लिखा है। इसकी आलोचना करते हुए मैंने लिखा था,—"संवर्त्तमें ओज-गुण है, प्रवाहमयी भाषा है, भाषाका सौष्ठव है, किन्तु दार्शनिकताके तीव्र आग्रहके कारण नाटकत्व और काव्यत्व उचित रूपमें परिस्फुटित नहीं हो सके।"*

रूपक-गीति

कवि इन गीतोंमें रूपकोंके सहारे अपनी भावनाएँ अभिव्यक्त करता है। शुद्ध रूपक-गीत कम ही लिखे गये हैं किन्तु आधुनिक कवियोंमें रूपकात्मक अथवा प्रतीकात्मक मोह अधिक है। भिन्न-भिन्न शैलियोंसे कवि इसकी अभिव्यञ्जनाका प्रयास करता है। अपने मनोभावोंको प्रकट करनेके लिए वह कभी-कभी प्रकृतिके चित्रोंको उपस्थित करता है, अतः उन प्रकृतिके चित्रोंमें ही कविकी वृत्तिका संकेत मिलता है। महादेवी और प्रसाद, पंत और निराला सभीमें यह प्रवृत्ति है किन्तु महादेवीमें यह

---

* पारिजात पृ० १०५

अधिक दीख पड़ती है। प्राकृतिक उल्लासद्वारा मानसिक उल्लासके चित्र रामकुमार वर्मामें प्राप्त हैं।

पत्र-गीतिका वर्णन हडसनने किया है। इस प्रकारके गीतिको स्वरूप-भिन्नताके कारण ही भिन्न माना जाता है अन्यथा निजी अनुभूति और भावनाका वर्णन ही इसमें रहता है। पत्रोंमें यदि उपालम्भ दिया गया है, तो वह उपालम्भ गीतिके अन्तर्गत आवेगा। चाँदके पत्राङ्कमें प्रकाशित 'द्विज' का 'टूटा हिय हार' अच्छा उदाहरण है।

विचारात्मक-गीति—

गीतिकाव्य अधिकरणनिष्ठ और रागात्मक स्वीकार किया गया है, ऐसी अवस्थामें गीति-काव्यको विचारात्मक कहनेमें विरोध दीख पड़ेगा। किन्तु यहाँ प्रश्न यह नहीं कि कौनसे और किस प्रकारके विचार गीतियों-को प्रभावित कर सकते हैं बल्कि प्रश्न है कि विचार गीति-काव्यके तत्त्वोंको अक्षुण्ण रखते हुए कहाँतक उसे प्रभावित कर सकते हैं। विचारों एवं बौद्धिकताका तीव्र आग्रह गीति-काव्यके सौन्दर्यको नष्ट कर देता है। अतः विचारात्मक गीतियोंका अर्थ लेना चाहिए कि अनुभूति जहाँ विचारके साथ एकाकार होकर भावनाका रूप ग्रहण कर लेती है, वैसी अवस्थामें विचार भी अनुभूतिका रूप ग्रहण कर लेते हैं। शुद्ध ज्ञान और बौद्धि-कताका कोई स्थान गीति-काव्यमें नहीं। विचार और उसे तर्कपूर्ण रूपसे उपस्थित करनेमें सौन्दर्य है। विचारोंका अपना चमत्कारपूर्ण स्थान है और पाठक विचारोंके वैचित्र्यके कारण चमत्कृत होता है किन्तु ऐसे गीतियोंमें कविका ध्यान चमत्कार उत्पन्न करनेकी ओर नहीं बल्कि रागा-त्मक आवेशकी ओर होता है। केरियरने लिखा है—The thought, if the Poetry be genuine, is highly emotionali-

zed, and is presented freely and intutively, with reliance upon the ultimate persuasive effect of feeling – not necessarily upon the pleasure arising from logical and dialectie process.

आनन्द बौद्धिक चेतनाके कारण नहीं अपितु रागात्मिका वृत्तिकी उत्तेजनामें रहता है। इसकी अन्तिम परिणति विचारों एवं दार्शनिकताके पूर्ण प्रकाशमें है जिसे विचारात्मक काव्य कहा जाता है। वास्तवमें इस प्रकारके काव्यको कविता कहनेमें संकोच होता है। सूक्ति और काव्यमें अन्तर है। विचारात्मक काव्य सूक्ति-प्रधान होता है। सूक्तिका प्रभाव विचारोंकी उत्तेजना और तज्जनित विश्वासमें है। ऐसी कविता बुद्धि-चमत्कारके कारण भावात्मकताको दबा देती है और उसके स्थानमें बुद्धि-विलासका चमत्कार प्रकट करती है। विचारात्मक गीतियोंका महत्त्व उनके चमत्कारपूर्ण होनेमें है। इस प्रकारके गीत कबीर-रचित अधिक मिलते हैं। उलटबाँसियोंमें कुछ इसी प्रकारके चमत्कार-प्रदर्शनका प्रयास है, पर कबीरमें वैसे गीतोंका अभाव नहीं जिसमें विचार भावना रूपमें प्रकट होते हैं और आनन्दका स्रोत उनके रसात्मक और रागात्मक होनेमें है। आधुनिक युग विचार-प्रधान युग है, अतः गीति-काव्यमें विचार किसी-न-किसी रूपमें अवश्य मिलता है। महादेवी विचारोंको अनुभूतिकी अन्तर्दशासे प्रकट करनेमें सफल हैं। यह कविकी क्षमता और अक्षमता दोनोंका कारण बन जाता है। अनुभूतिकी प्रधानताके कारण विचारोंमें विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न तो होता है किन्तु इसके द्वारा विचारोंकी सुष्ठता नष्ट हो जाती है और पाठक या श्रोताको उन संकेतोंके अन्वेषणमें प्रयास करना पड़ता है जिसके सम्बन्धसे वह कविके अन्तस्तलतक पहुँच सके। जब विचार किसी वस्तु-विशेष, अथवा विशिष्ट परिस्थितिके कारण

उत्पन्न होता है, और जिसमें रागात्मक प्रभावका आवेश रहता है। इनके साथ ही विचार सक्षम, तीव्र और प्रभावोत्पादक होंगे। चिन्तन और साधन भावावेशका स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं अतः चिन्तनका विषय स्वतन्त्र नहीं रह पाता और इस प्रकार गीतियोंका प्रभाव रागात्मिका वृत्तिपर अक्षुण्ण रूपसे पड़ता है। महादेवी और निरालाके गीतोंमें यह पूर्ण रूपसे लक्षित होता है। निरालाके गीतोंमें विचार ही अनुभूति है।

सम्बोध-गीति (ओड्स odes)

सम्बोध-गीतियोंमें किसी वस्तु विशेषको सम्बोधित करके कवि अपने विचारों और भावनाओंको चित्रमयी भाषामें संगीतात्मक पद्धतिसे अभिव्यक्त करता है। किसी प्राकृतिक या साधारण वस्तु, दृश्य, भाव और विचार, युगको भी सम्बोधित किया जा सकता है। इस प्रकार-के गीतोंका प्रचलन हिन्दीमें आधुनिक कालमें हुआ है यद्यपि इसके कुछ-कुछ विकसित रूपोंका आभास प्रचीन साहित्यमें भी मिलता है। वीज रूपमें 'दूत' अथवा 'संदेश काव्य' में इसके कुछ रूपकी क्षीण झलक है। 'मेघदूत' में मेघको सम्बोधित करके अपनी अवस्थाका वर्णन कालिदास-का यक्ष करता है। किन्तु इसे सम्बोध गीति नहीं कहा जा सकता। अन्यो-क्तियोंमें सम्बोधित करके जो कुछ कहनेकी प्रथा है, उसमें सम्बोधित वस्तुका महत्त्व इतनेमें ही है कि उसके द्वारा किसी दूसरेसे कहनेका लक्ष्य सिद्ध होता है। इस प्रकारके गीतोंका प्रचलन अंग्रेजी साहित्यके 'ओड्स' के कारण हुआ। अंग्रेजीमें शेलीके ओड् टु लिबर्टी (ode to Liberty) और ओड् टु दि वेस्ट विन्ड (ode to the west wind), वर्डस्वर्थ के 'इमिटेशन्स आफ इमार्टलिटी' Immitations of Immortality), कीट्सके ओड् टु ऑटम (ode to Autumn), ओड् टु

ए नाइटिंगेल (ode to a Nightingale) और ओड् टु ए ग्रीशीयन अर्न (ode to a Greciane Urn) अत्यन्त प्रमुख हैं। ओड्के विकासका इतिहास भी गीति-काव्यके अन्य भेदोंकी भाँति अत्यन्त अव्यस्थित रहा। पिंडार (Pindar) के डोरियन ओड्स (Dorian odes) में तीन सन्दर्भ हैं ; छन्द-प्रणाली निश्चित नियमित शृंखलाबद्ध और व्यवस्थित है और इस प्रकारके सन्दर्भोंका क्रम कविताके अन्ततक चला जाता है। ग्रीक नाटकोंके अभिनयके समवेत गायन (Chorus) के समय गायकोंका दल रंगभूमि (Orchestra) की एक ओरसे दूसरी ओर जाते समय इस प्रकारके गीत वाद्ययंत्रोंकी सहायतासे गाया करता था। इन तीन प्रकारके सन्दर्भोंमें विधान-गत अन्तर था। इस प्रकारकी छन्द-योजना जटिल और दुरूह थी अतः इनसे त्राण पानेका प्रयास बादमें चलकर हुआ। विषयकी उदात्तता, शैलीकी अक्षुण्णता और उत्कर्ष, उल्लासपूर्ण भावके लिए इनमें अधिक स्थान पाया जाता रहा। विषादका मिश्रण पीछे चलकर हुआ। कवि अपनी चंचल वृत्तियों और रागात्मक आवेशका सन्निवेश इनमें करने लगा। आधुनिक हिन्दीमें इस प्रकार अंग्रेजी ओड्सके पैटर्न (Pattern) पर अनेक गीतोंकी रचना हुई। निरालाकी 'यमुनाके प्रति', पन्तकी 'छाया', भगवतीचरण वर्माकी 'नूरजहाँ' की कब्रपर, इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। 'नववधू' : (भगवतीचरण वर्मा) बालिकासे वधू : (दिनकर), नूरजहाँ : (रामकुमार वर्मा) 'समाधिके प्रदीपसे' (दिनकर) आदि सम्बोध गीतियोंमें मिश्र प्रणालीका प्रयोग भी होता रहा है जिसमें कवि रागात्मक आवेशसे पूर्ण वर्णन और सम्बोध तथा सम्बोधित वस्तुकी ओरसे उनकी भावनाओंका वर्णन करता है। दिनकर की 'निर्झरिणी' इसी मिश्रित प्रकारकी है।'

अभिसारिका मैं मिलने हूँ चली,
प्रिय-पंथ रे कोई बताना जरा

किस शूली पै 'मीरा पिया' की है सेज
इशारोंसे कोई दिखाना जरा
पथ-भूली सी कुंजमें राधिकाके
हित श्याम ! तू वेणु बजाना जरा
तुझमें प्रिय ! खोनेको तो आ रही
पर तू भी गलेसे लगाना जरा

इन सम्बोध गीतियोंमें कवि सम्बोधित वस्तुओंकी गाथा गाकर अपने मनोभाव प्रकट करता है ।

चतुर्दशपदी–गीति

अंग्रेजीकी 'सानेट' प्रणालीपर खड़ी बोलीके युगमें कुछ इस प्रकारकी रचनाएँ हुई थीं । हिन्दीकी आत्माके समीप न होनेके कारण इस प्रकारकी रचनाएँ हिन्दीमें नहीं हुईं ।

अन्य प्रकार

प्रेम, प्रकृति, विषाद, उल्लासके गीतोंकी चर्चा हो चुकी है । उत्सव और संस्कारोंके अनुरूप कला-गीतोंकी रचना नहींके बराबर है । यह आजकल केवल लोक-गीतोंतक सीमित है । लोक-गीतोंकी रचना भी शिथिल है और उसमें किसी प्रकारकी वृद्धिके लक्षण नहीं दीखते । सभ्यताके नामपर इन गीतोंके प्रचलनकी ओर लोगोंकी शनि-दृष्टि पड़ने लगी है । मालूम पड़ता है सभ्यता स्वाभाविक वृत्तियोंको नष्ट कर छोड़नेके प्रयासमें है । अनुरंजन-गीतों (Courting Lyrics) के लिए भारतीय समाजमें स्थान नहीं । गीति-काव्योंके रूपमें रागात्मक, प्रेरणात्मक और विचारात्मक गीतियोंकी रचना होती रही है । वास्तवमें

इनके वर्गीकरणमें विशेष सतर्कताकी आवश्यकता है। एकके साथ दूसरे भेदका इतना घनिष्ठ सम्पर्क है कि एक दूसरेके सीमा-क्षेत्रमें अज्ञात रूपसे प्रवेश पा लेता है। केवल इनके सम्बन्धमे इतना ही स्पष्ट रूपसे कहा जा सकता है कि इनमें अमुक तत्त्वकी प्रधानता है। अनुभूति, दर्शन (निरीक्षण) और भावनाके गीतोंके रूपोंमें भी इनका विभाजन सम्भव है। गीतियोंका वर्गीकरण वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ रूपमें किया जाता है। वस्तुनिष्ठ गीति-काव्यका तात्पर्य उन गीतोंसे लिया जाता है जिसका परिस्थिति, व्यक्ति अथवा वस्तुसे सम्बन्ध हो और आत्मनिष्ठ गीतियोंमें इच्छा-शक्ति, भावना, अनुभूति और विचारकी अभिव्यञ्जना रहती है। किन्तु यह वर्गीकरण व्यावहारिक है, कारण गीतिकाव्य अनुभूति-प्रधान है अतः वस्तुका महत्त्व अनुभूति और रागात्मक आवेश जाग्रत करनेकी क्षमतामें है। विचार, इच्छा-शक्ति भावना आदि अनुभूतिसे ही प्रेरणा और शक्ति पाते हैं अतः गीतिकाव्य अनुभूति-मूलक होनेके कारण विकसित रूपमें एकाकार रूपमें प्रकट होता है और इसकी सफलता अनुभूति जाग्रत करनेकी क्षमतामें है, अतः इसकी एक ही कोटि है किन्तु अध्ययनकी सुविधाके लिए व्यावहारिक भेद किये जा सकते हैं। सामाजिक और नक्कासीके गीतोंकी चर्चा हो चुकी है। गीतोंका एक प्रकार प्रातिभ सहजज्ञान (Intutive Knowledge) के आधारपर निरूपित किया जा सकता है। सहज ज्ञान और विकसित ज्ञानके आधारसे उत्पन्न गीतोंमें अन्तर रहता है। यह प्रश्न एक दूसरे प्रश्नकी ओर संकेत करता है। कवि उत्पन्न होते हैं अथवा अभ्यासके द्वारा भी बनाये जा सकते हैं। सामाजिक और वैयक्तिक, एवं रूपकात्मक, वर्गीय और रोमांचपूर्ण, रूपोंमें भी इसका विभाजन सम्भव है। इस प्रकार गीति-काव्यके तत्त्वोंके विश्लेषण और विवेचनसे इसके अनेक रूपों और प्रकारोंकी कल्पना हुई है।

इसकी विविधता जातीय गीतोंमें अधिक देख पड़ती है। राष्ट्रीय और धार्मिक गीतोंके रूपमें महत्त्वपूर्ण साहित्य मिलता है।

गीति-काव्य और उसका कार्य

गीति-काव्य, सामान्य कलाका विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण अंग है। काव्य, कलाके अन्तर्गत आता है अतः गीति-काव्यके उद्देश्यकी सीमा कलाकी परिधिके अन्तर्गत है। उद्देश्यके अन्तर्गत उद्देश्य और प्रभाव दोनों आते हैं। कलाकी भाँति गीतिकाव्यका उद्देश्य सौन्दर्याभिव्यक्ति और तज्जनित आनन्दानुभूति है। इसके साथ ही इसके द्वारा नैतिक प्रभाव भी उत्पन्न किया जा सकता है। प्रचार और कलाकी सीमा रेखाको ध्यानमें रखकर नैतिकता और उसके प्रभावकी चर्चा होनी चाहिए। यह प्रश्न सौन्दर्यानुभूतिके क्षेत्रमें आ खड़ा होता है। मानवीय सौन्दर्य-वृत्तिकी तुष्टि कला द्वारा होती है। कला जीवनको नवीन चेतना देती है और पाठकको उस चेतनाके प्रति उन्मेष। सौन्दर्य क्या है और यह सौन्दर्यानुभूति क्या है, इस प्रश्नपर कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सका है। सौन्दर्यानुभूतिके तत्त्वोंमें द्रष्टा और दृश्यके सम्बन्धका विवेचन है। सौन्दर्यानुभूति प्रत्येक व्यक्तिमें समान रूपसे नहीं होती। इस अनुभूतिकी भी देश-कालगत और व्यक्ति-गत सीमाएँ हैं। कलाकी सामाजिकता अथवा वैयक्तिकता ऐन्द्रिय और बौद्धिक सीमाओंकी मध्यवर्तिनी है और शक्तिशालिनी जिसमें रेखा सौन्दर्यको है। कलाकी परखका मूल इसी अनुभूतिमें है। सुख और सुख-दुखात्मक अनुभूतियोंकी अभिव्यञ्जना और आनन्दानुभूतिके प्रश्नोंपर निर्णयात्मक विवेचन नहीं हुआ है। संस्कृत साहित्य-शास्त्रों और अरस्तूके काव्य-शास्त्र (Poetics) और उसकी व्याख्याओंमें इस प्रकारकी विवेचना की गयी है। कलाके प्रभाव साधारणीकरण और पर्याप्त

मात्रामें निस्संगताके कारण है । सौन्दर्यानुभूतिके मूलमें कलात्मकता-का आधार है, कलात्मक संस्कार और आवेश जीवनको नवीन विकास देते हैं। युगकी चेतना नवीन संस्कार बनकर उपस्थित होती है। इस प्रकार कला सामाजिक जीवनकी वैयक्तिक अभि-व्यञ्जना होनेके कारण प्रगतिमूलक चेतनाका कारण है। सौन्दर्यात्मक होनेका अर्थ अधिकसे अधिक भावात्मक और रागात्मक होना है। अनुभूतिकी अवस्थाके कारण इनके स्वरूपमें थोड़ा भेद आ जाता है। प्रथम अवस्था-में वैयक्तिक सुख-दुःख, राग-द्वेषका आवेश अधिक होता है यह चाहे वास्तविक अथवा काल्पनिक क्यों न हो। दूसरी अवस्थामें साधारणीकरण-द्वारा कवि वैयक्तिक आधारको सामाजिक रूप देनेमें सफल होता है। इस अवस्थामें वैयक्तिक छाप अवश्य रहती है यद्यपि सामाजिक प्रभावके स्पष्ट रूप दीख पड़ते हैं। समाज व्यक्तियोंका समूह मात्र नहीं। वह उनका समन्वय है। ऐसी अवस्थामें व्यक्तिके माध्यमसे प्रकट होनेवाली सामा-जिक वृत्तियों और व्यक्ति-विशेषकी वृत्तियोंमें अन्तर रहता है। अन्तर केवल मात्राका ही नहीं; स्वरूपका भी होता है। इस अन्तरका कारण वर्गीय और वैयक्तिक संस्कार होते हैं। कलाकारकी वृत्तियाँ सामाजिक चेतनासे ही प्राणवान और सजग होती हैं। वैयक्तिक धारणाएँ, आकांक्षाएँ सामाजिक भावनाओंकी भित्तिपर बनती हैं। इस प्रकारकी अनुभूतिमें व्यक्ति सामाजिक भावनाओंको सक्षमरूपमें अभिव्यक्त करता है। तीसरी अव-स्थामें सौन्दर्यानुभूति नितान्त अवैयक्तिक होकर केवल सामाजिक रूप ग्रहण कर लेती है। इनमें सामाजिकताका आग्रह और सार्वभौम प्रभावके बीज रहते हैं। करुण रसमें अनुभूतिकी तीव्रताका कारण उसका सार्वभौम रूप है। चौथे रूपमें यह चेतना आदर्श रूपमें उपस्थित होती है। विश्वका कण-कण इस सौन्दर्यसे उन्मेषोद्भासित होता है। यहाँ वैयक्तिक जीवनके

विकाठ-नमकी बाधाके रूपमें इसके दर्शन नहीं होते बल्कि जान पड़ता है कि यह विकीर्ण सौन्दर्य व्यक्तिगत चेतनाको उन्मेष और बल देता है। सम्पूर्ण प्रकृतिके सौन्दर्यके साथ आत्म-भावना एकीकरण इसी रूपमें होता है।

इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति वैयक्तिकताकी सीमा छोड़ सार्वभौमके क्षेत्रमें प्रवेश करती है। यहाँ रागात्मक संघर्षका स्थान नहीं रहता बल्कि सौन्दर्य-भावना पूर्ण, अन्वित और अविच्छिन्न रहती है। कला इसी सौन्दर्यको भिन्न-भिन्न माध्यमसे प्रकट करती है। माध्यमकी संकीर्णता अथवा विस्तार, स्थूलता अथवा सूक्ष्मताके कारण विभिन्न कला-स्वरूपोंकी विभिन्न आकृति और प्रभाव है। तूलिका और रंगका माध्यम स्वीकार करनेवाली चित्रकला है और नादको स्वीकार करनेवाली संगीतकला। काव्य संगीत और चित्र-का सन्तुलन है। गीतिकाव्यमें संगीत और चित्र भिन्न-भिन्न नहीं दीखते बल्कि एकाकार, एकात्म और अन्वित हो जाते हैं। सौन्दर्यानुभूति-के भी वैयक्तिक रूपके कारण इसे सीमाओंका बन्धन स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु अनुभूतिकी तीव्रता काव्यके इस संगीतात्मक चित्र और चित्त-मत्तापूर्ण संगीतको नवीन आवेश देती है। गीति-काव्य इस प्रकार सौन्दर्या-नुभूति एवं आनन्दानुभूतिके तीव्रतम क्षणों और आवेशकी अवस्था-का परिचय देता एवं पाठककी कलात्मक भावनाको सन्तुष्ट करता है।

गीतिकाव्य और नैतिकताका सम्बन्ध कलामें नैतिक भावनाकी ओर ले जाता है। कला प्रचार नहीं है, प्रचार-कला चाहे स्वतंत्र कलाका रूप क्यों न धारण करे! कलाकार उपदेशक भी नहीं; व्याख्याता भी नहीं। गीति-काव्यकी अनुभूति-प्रधानता नैतिकताके आग्रहके लिए उसे अधिक अवसर नहीं देती। किन्तु कला अनैतिक भी नहीं। कलाकी अपनी नैतिकता है जिसके कारण कलाके विकास और संस्कार हैं। समाजिकता-का दायित्व स्वीकार कर कला नैतिकताका प्रचार नहीं कर सकती।

कलाकी सफलता उसे भावात्मक और रागात्मक आवेश देनेमें है। सामाजिक भावनासे आवृत्त कला, किन्तु, समाज-दर्शन और क्रान्तिका प्रतिबिम्ब मात्र नहीं; वह वाद-विशेषका मोर्चा भी नहीं बन सकती। गीतिकाव्य-की आत्मा नैतिकता-प्रचारका आग्रह स्वीकार नहीं कर सकती। गीति-काव्यकी आनन्दोपलब्धि कार्यमें परिणति है, उपदेश और प्रचारमें नहीं। कला अपने प्रति विद्रोह नहीं कर सकती।

गीति-काव्यकी कसौटी

गीति-काव्य सहसा उमड़ पड़नेवाली अनुभूतिकी सहज, स्वतः और तात्कालिक अभिव्यक्ति नहीं है: यदि ऐसा होता तो उसे छन्दके भीतर बाँध सकना सम्भव न होता और न उसे भावनाका स्वरूप ही दिया जा सकता। रागात्मक अनुभूति जो वैयक्तिक होकर भी साधारणीकरणद्वारा सार्वभौम और सार्वजनीन बन जाती है, गीति-काव्यकी जननी है। अनुभूतिके विस्तार और अभिव्यञ्जनाकी विभिन्नताके कारण, गीति-काव्य लोक-प्रिय और प्रमुख माध्यम है। व्यक्तित्वकी विभिन्नता इसे नवीन स्वरूप देती है। किन्तु इस साधारणीकरणका यह भी अर्थ नहीं कि आवेशके क्षणोंके समाप्त होनेपर. कल्पनाद्वारा उसका आवेश कवि उत्पन्न करता है। जिस समय कल्पनाद्वारा वह गीति-काव्यके उपयुक्त क्षणोंकी सृष्टि करना चाहता है उस समय उसकी कविता विचार-प्रधान हो जाती है, भावात्मकताका अनेकांशमें अभाव हो जाता है। गीति-काव्यका मुख्य विषय उसमें अभिव्यञ्जित रागात्मक अनुभूति है, कुछ चित्रमत्ता नहीं जिसके द्वारा उन अनुभूतियोंको वह अभिव्यक्त करता है। संगीतात्मकता, चित्रमत्ता आदिका महत्व उस रागात्मक अनुभूतिकी व्यञ्जना और संकेतमें है। ये उपकरण केवल अंग हैं, अंगी नहीं।

कथन सामान्य रूपसे अधिक गीति-काव्यकी आत्माके समीप है। गीति-काव्य एक ओर संगीतात्मक है और दूसरी ओर आत्मनिष्ठ अर्थात् कविकी वृत्तियोंका वाचक, यद्यपि उसमें सार्वभौमिकताका अभाव नहीं। इसलिए नाटककी भाँति रागात्मक संघर्ष और संघटनके लिए स्थान नहीं और रागात्मक अनुभूति संगीतात्मक परिधानकी अपेक्षा रखती है। कथानक और वर्णनका आधार अतः अधिक नहीं लिया जा सकता ; उतने वर्णनसे ही प्रयोजन हो सकता है जितनेसे वृत्तिकी व्यञ्जनामें सुविधा हो। तर्क, वर्णन, विचारोंके आरोप आदिसे यह मुक्त होता है। वास्तविक जीवनगत भावावेश ही गीतात्मक भावावेशके मूलमें हैं, किन्तु वास्तविक जीवनकी प्रत्येक अनुभूति गीतात्मक आवेश उत्पन्न नहीं कर सकती, नहीं कर पाती। केवल सौन्दर्यानुभूतिके द्वारा आनन्दानुभूति और रसास्वादनकी उपयुक्तता उसे कलात्मक अथच गीतात्मक बनाती है। सूक्ष्म मानसिक विश्लेषणद्वारा प्रेरणा और उसके स्वरूपके विवेचनकी चेष्टा हुई है किन्तु प्रेरणा मुख्य रूपमें मानसिक अतः विवेचन व्यावहारिक है, यह विश्लेषण

अस्वीकार कर देती है। सीमा-बोध हो नहीं सकता क्योंकि एक दूसरे-की सीमाको इस प्रकार स्पर्श करती दीख पड़ती है कि वह उसीकी सीमा जान पड़ने लगती है। गीति-काव्य वैयक्तिक अनुभूतिकी अभिव्यञ्जना है जो भावना और अनुभूतिके अनुरूप स्वरूप ग्रहण करता है। इस प्रकार छन्द, शब्द आदि विधानके उपकरणको इस प्रकारका होना चाहिए कि उनके द्वारा कविकी वृत्तिका संकेत मिले और अभिव्यक्तिकी क्षमताकी अभिव्यञ्जना हो। छन्दकी गति, शब्दोंके लय और भावनाकी गतिका सन्तुलन न होनेसे गीतिकाव्यको कदापि सफलता नहीं मिल सकती। संगीतात्मकताकी रक्षाका अर्थ संगीतके शास्त्रीय विधानकी रक्षा नहीं अपितु भावनाका प्रसार और छान्दिक गतिका समन्वय है। यही छन्दकी चपलता, कोमलता एवं अपरिमित तरंगमत्ता संगीतात्मकता है और गेय काव्यका यही भाव गीति-काव्यके साथ अवशिष्ट है। गीति-काव्यकी सफलता अनुभूतिकी अक्षुण्णतामें है अर्थात् एक ही रागात्मक और काव्य-गत वृत्तिकी अभिव्यञ्जना सम्पूर्ण गीतिमें होनी चाहिए। गीति-काव्य इस अर्थमें पूर्ण अद्वैतवादी है और इसमें द्वैतके लिए स्थान नहीं। रागात्मक संघर्ष नहीं बल्कि अन्विति इसमें अपरिहार्य और अपेक्षित है तथा इसकी अभिव्यञ्जना सरल, निर्व्याज, अप्रयास-कृत होनी चाहिए। इन गुणोंके कारण गीति-काव्यकी संवेदनशीलतामें विस्तार आ जाता है। गीति-काव्यमें विस्तृत समुदायको प्रभावित करनेकी सामर्थ्यका यही कारण है। कविताके प्रथम स्वरूपका यह काव्यात्मक और कलात्मक विकास है। इसमें सम्मिश्र विचारोंके लिए स्थान नहीं; बौद्धिकताका यह बोझ नहीं सँभाल सकता अतः विचारको अनुभूतिके साथ मिलकर भावनाका स्वरूप लेना पड़ता है। गीति-काव्य अतः सहज संक्षोभ्य एवं सुकुमार है रसात्मकता जिसकी आत्मा है।

निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥
जे पर भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥
—तुलसीदास

× × ×

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः।
सांद्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः॥
पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां।
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥
—राजशेखर (काव्य मीमांसा)

['विवेकी समालोचक न मिलनेसे भीतर-ही-भीतर घुलते और कुढ़ते कुछ कलाकारोंके भाग्यसे कदाचित् ही कोई ऐसा पारखी और परिश्रमज्ञ भावुक निकल आता है जो उनके शब्द-गुम्फनकी बारीकियोंमें से एक-एकको समझता है, उनकी सुन्दर उक्तियोंपर रीझता है, उनके तात्पर्यकी भाव-भंगी या मोल-तत्त्वको ढूँढ़ निकालता है और उनके गाढ़े रसामृतका जी खोलकर स्वाद लेता है।']

× × ×

Reviewers, with some rare exceptions, are a most stupid and malignant race. As a bankrupt thief turns thieftaker in despair, so an unsuccessful author turns critic.
—P. B. Shelley.

[कुछ विरल अपवादको छोड़कर आलोचकोंकी जाति अत्यन्त मूर्ख और दुराशय होती है। जिस प्रकार दिवालिया (परिक्षीण) चोर निराश होकर चोर पकड़नेवाला हो जाता है, उसी प्रकार असफल लेखक समालोचक बन बैठता है।]

परख

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले ।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले ।
सुरत कलारी भइ मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले ।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले ।
तेरा साहब है घर माँही, बाहर नैना क्यों खोले ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिल गये तिल ओले ।

—कबीर

जीवन मात्र अस्तित्व नहीं, केवल स्पन्दन नहीं, बल्कि 'जिन्दगी जिन्दःदिलीका नाम है' । अतः जीवनमें मात्र सत्य है अनुभूति । मनुष्य अपनी अनुभूतियों, वासनाओं, और विचारोंमें जीवित रहता है । जीवन-की विस्तृत भूमिकाके रूपमें अनुभूतिका आलोक है और सारी अनुभू-तियोंमें श्रेष्ठ है प्रेम । जिसमें सारा ध्यान खिंचकर केवल एक बिन्दु-पर आ टिकता है, जहाँ दुराव नहीं, द्विधा नहीं, संकोच नहीं । व्यक्ति अपने व्यक्तित्वकी लघु सीमासे हटकर अनन्त व्यापक सीमामें जब प्रवेश करता है' जब 'पर' ही 'स्व' हो जाता है' प्रेमकी-अनुभूति होती है । किन्तु यह अनुभूति सबको नहीं होती, समान भावसे, समान रूपमें नहीं होती । तीव्रतम क्षणोंमें अनुभूतिकी व्याख्या सम्भव नहीं, उसका विश्लेषण शक्य नहीं । जबतक प्रेम सीमा और बन्धनको देखकर चलता है, वह प्रेमा-नुभूतिकी चरम अवस्था नहीं । यह प्रेम सहज और सर्वसम्भव भी नहीं जिसे व्यक्तित्वका, निजत्वका मोह है उसे इस मार्गमें आना भी नहीं चाहिए । यहाँ आकर पाना नहीं बल्कि खोना ही खोना है और अपने आपको खोना ही एक मात्र पाना है । जबतक अनुभूतिकी तीव्रता जगी

नहीं, मन इधर-उधर भटकता है, मन एक बार जब प्रेम बन्धनमें बँध जाता है उसे भागनेका अवकाश कहाँ, यदि वह भाग पाता, यदि भाग सकता है, वह प्रेम नहीं, प्रीति नहीं।

छनिक चढ़ै छन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय।

वासना प्रेम नहीं ; इसका कारण केवल काम्यता और अकाम्यता नहीं बल्कि अपेक्षाकृत क्षणिकता और स्थायित्व है। प्रेमकी इस प्रतीति-के आगे और कोई भावना जगती नहीं। प्रेम वह प्रकाश है जिसमें प्रेम छोड़कर और कुछ दीख पड़ता नहीं, दीख सकता नहीं। ऐसी अवस्थामें प्रेमी और किसी वस्तुकी कामना नहीं रखता, प्रिय ही एक मात्र काम्य है:—

नैना अन्तर आव तूँ नैन मूँद तोहिं लूँ
ना मैं देखूँ और को, ना तोहिं देखन दूँ—कबीर

प्रियको अन्तरमें इस प्रकार छुपा लूँ, कि दूसरा कोई उसे देखने न पावे और न प्रेमी ही किसीको देखे। प्रियके अतिरिक्त और कोई सत्य नहीं, और दूसरा लक्ष्य नहीं।

हर सुबह उठ के तुझसे मागूँ हूँ मैं तुझी को
तेरे सिवाय मेरा कुछ मुद्दआ नहीं है।—मीर

तेरे सिवाय मेरा कुछ मुद्दआ जब नहीं है, जब तुम्हें प्राप्त कर लिया, जब प्रेम ही अलौकिक अनुभूति हो गया, जीवनकी इस श्रान्त नौका-को जब किनारा मिल गया फिर विकलता क्यों, व्याकुलता क्या? मस्ती जबतक थी नहीं ; जबतक प्रेमकी इस अगाध अम्बुधिसे परिचय न था, मन इधर उधर भटकता रहा, खोज करता रहा, जबतक प्रियको जाना-पह-

चाना न था, जबतक उसकी अनुभूति न थी, अन्वेषण आवश्यक था, खोज जरूरी थी। प्रियकी जब अनुभूति हो गयी, अनुभूति तीव्रतम हो उठी फिर बोलना कैसा ? प्रेमका ढिंढ़ोरा पीटना कैसा 'मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ?' हृदयमें जबतक यह प्रतीति पूर्ण नहीं हुई थी, जबतक अपने प्रेम और प्रियके प्रति अखण्ड, अनिर्वचनीय एवं पूर्ण विश्वास न था, अविचलित आस्था न थी, उसके खो जानेका भय था। उसे बार-बार देखनेकी आवश्यकता थी—कहीं खो तो नहीं गया'। 'दिलके आईने'में बार-बार 'गर्दन झुका' कर देखनेकी अपेक्षा थी—

दिलके आईने में है तस्वीरे यार
जब जरा गर्दन झुकायी देख ली।

किन्तु प्रेमकी वास्तविक और सच्ची अनुभूति जब हो गयी, अन्तस्तलका जब रस उमड़ पाता है, फिर इतनी सुध-बुध कहाँ, बार-बार खोलकर देखनेका अवकाश कहाँ ? आस्था और विश्वाससे परिपूर्ण प्रेमानुभूति एवं आत्मानुभूतिमें द्विधा और संकोच, अविश्वास और अनास्थाका अवसर कहाँ ?' इस बेखुदीमें होशहवास कहाँ ? 'हीरा पायो गाँठ गठियायो' फिर 'बार-बार वाको क्यों खोले ?' उस गाँठको खोलनेकी आवश्यकता ही कहाँ रह गयी। कबीरकी प्रीति ऐसी नहीं जिसे आँधी उखाड़ सके, निराशाका ताप झुलसा सके। इसमें अतृप्ति नहीं, आकांक्षा नहीं, मोह नहीं, उद्वेग नहीं, उच्छृंखलता नहीं, आस्था है, विश्वास है, उन्माद नहीं मस्ती है, तीव्रता है पर कर्कशता नहीं, औत्सुक्य है, पर अवसाद नहीं। यह प्रेम साधारण नहीं। इसमें परखनेका आवेश नहीं, वह जानता है जो परखनेका प्रयास करता है वह हीरा नहीं कौड़ी पहचानता है—

'हीरा पाय परख नहिं जाने, कौड़ी परखन करता है'

प्रेमी जानता है, कि विचार, बुद्धि और तर्कके परे प्रिय है। सौन्दर्य और प्रेमकी अनुभूतियाँ अतर्क्य हैं, बुद्धि-विलास, बौद्धिकता एवं तर्क इसकी सीमाओंका स्पर्श नहीं कर पाते, भावुकता तथा भावात्मकताके द्वारा ही अनुभूति सम्भव है। अकबर इलाहाबादीने भी कहा —

मैं बीमारे होश था, मस्ती ने अच्छा कर दिया।

होश (बुद्धि) रोग है और उसकी ओषधि है अनुभूति; प्रेमकी अखण्ड और अविचलित अनुभूति इस प्रेममें बन्धन नहीं; बौद्धिकताका आधार नहीं; तर्कका समावेश नहीं; मस्ती है, अनिर्वचनीयता है, तीव्रता है, आवेश है, आशा है, विश्वास है, इसीलिए गाँठको बार-बार खोलनेकी आवश्यकता नहीं, अपेक्षा नहीं।

किन्तु प्रीति भी सरल नहीं; प्रिय भी सुगम नहीं। फिर भी प्रेमका 'मद' मिला, इतना पी लिया कि उसकी कोई सीमा नहीं; हद नहीं रह गयी। प्रेम असीम है, बेहद्दी है वह सीमा और असीमके परे है। सीमामें असीमता है और असीमतामें सीमाका समावेश। ससीम और असीमका भेद व्यावहारिक है, तत्त्वगत नहीं। प्रेम इन दोनोंसे परे है। सीमा और असीमताके बन्धनसे मुक्त लौकिक नहीं, अलौकिक नहीं। वह भिन्न अनुभूति है। इसीलिए इसमें कोई बन्धन नहीं, कोई बाधा नहीं, यह अविश्रान्त, अथक गीत-प्रवाह है, जिसमें दूरीका बन्धन नहीं, समीपताका दुराव नहीं। ऐसा प्रेमी [illegible] है—

चोट नहीं लगी फिर चोटका मजा क्या मालूम? संसार बुद्धिका मोल-तोल करता है, नाप-जोख करता है, और ससीम-एवं असीमकी परिमिति देखना चाहता है; पुस्तकीय ज्ञानकी कसौटीपर प्रेमकी जाँच करना चाहता है। प्रेम अतः पुस्तकोंकी सीमामें आनेवाला ज्ञान नहीं, वह परम सत्य है, जीवनकी पूर्णता इसी प्रेममें है। नन्ददासने भी कहा है—

प्रेम प्रेम सो होय प्रेम सो पारहिं जैये
प्रेम बँधे संसार प्रेम परमारथ पैये।

कबीर भी कहते हैं—

पुस्तक पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, हुआ न पंडित कोय।
ढाई अच्छर प्रेमका, पढ़े सो पंडित होय॥

प्रेम ही वह तत्त्व है जो जीवनको पूर्णता और अन्विति देता है। इसके अभावमें जीवन सूना-सूना है। अनुभूतिकी तीव्रता जहाँ एक ओर मौन बना देती है, जहाँ अभिव्यक्तिको अशक्त कर देती है, वहाँ जीवनकी अपूर्णतामें रसका वह अमृत उड़ेल देती है कि जीवन-प्याला छलक पड़ता है। उस शून्यतामें गुरुता आ जाती है, वह गुरुता तौलनेकी वस्तु नहीं। उसके तौलने योग्य कोई 'बटखरा' नहीं बना, कोई मान तैयारतक नहीं हुआ। जब पूर्ण हो गया, फिर तौलनेकी आवश्यकता ही क्या रही। 'मनको मनसे तौलिये दो मन कभी न होय'। अतः 'हलकी थी तब चढ़ी तराजू पूरी भई तब क्यों तौले?'

पियाका निवास ऊँचेपर है, मनमें लज्जा भरी है, झिझक आती है, पथ बीहड़ है, मार्गमें बाधाएँ हैं। पाँव ठहरते नहीं, गिरनेका भय ही नहीं, बल्कि पैर लड़खड़ा उठते हैं, उठतेतक नहीं। फिर-फिर उठकर सँभलने-पर भी सँभलना कठिन है। अंग-अंग काँप रहे हैं, मनमें आशंका भरी

है, भ्रममें मन पड़ा है, सँकरा मार्ग है, निपट बारी, निपट अनाड़ी है। सँकरा मार्ग है, अटपटी चाल है, भला मिलन कैसे हो—

पिया मिलनकी आस, रहौं कबलौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय, मने लज्जा भरी॥
पाँव नहीं ठहराय, चढ़ूँ गिर-गिर परूँ।
फिरि-फिरि चढ़उँ सम्हारि, चरन आगे धरूँ॥
अंग-अंग थहराइ, तो बहुविधि डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि, तो भ्रममें परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि, ये तो झीनी गैल है।
[illegible] तुम्हार, मिलन कस होइहै॥

पड़ेगी, गर्दन भी झुकानेकी आवश्यकता नहीं। वह प्रियतम दूर नहीं जो सन्देश लिख भेजा जाय, पत्र लिखा जाय,—

प्रीतमको पतिया लिखूँ, जो कहुँ होय विदेस।
तनमें मनमें नैनमें, ताको कहाँ सँदेस॥

मीरा भी कहती है—

सबके पिय परदेस बसत हैं, लिखि लिखि भेजें पाती।
मीरा पिय हिरदयमें बसता, गूँज करूँ दिन राती॥

प्रियका वास अन्तरमें है, बाहर ढूँढ़नेकी चाह क्यों? उसकी चिर ज्योति अन्तरमें जल रही है, उसके प्रकाशसे सारी सृष्टि प्रकाशित है। उसकी प्रभासे ही संसार आलोकित है। प्रिय मनमें बसा है। 'मेरा साहब है घटमाँही, बाहर नैना खोले?' घटमें बसनेवाला प्रिय केवल प्राणवल्लभ ही नहीं, स्वामी भी है। उसने तन, मन, नैन सबपर अधिकार ही नहीं कर लिया बल्कि सर्वत्र रम गया है। वह रमण करनेवाला प्रिय केवल आँखोंका विषय नहीं रह गया बल्कि जीवनका क्षण-क्षण और कण-कण उसकी आभासे प्रज्ज्वलित और प्रदीप्त है। आज-तक मन उसे ढूँढ़नेके लिए बाहर-बाहर भटकता रहा, अन्तरमें झाँककर उसे देखनेका प्रयासतक नहीं किया। कस्तूरी-मृगकी भाँति अपनी सुगन्धिकी खोजमें भ्रमित हो जीवन व्यर्थ बहता जा रहा था, आज जीवनका चरम लक्ष्य प्राप्त हो गया। प्रीतिकी अनुभूति हुई, प्रियकी प्रतीति हुई, प्रिय हृदय-में बसता है 'ज्यों पहुपनमें बास' इसलिए कस्तूरी मृग' की भाँति 'फिर-फिर घास' ढूँढ़नेके भ्रममें पड़ना उचित नहीं। आत्मा-परमात्माका ही स्वरूप है। आत्मा परमात्मासे विभिन्न होकर अलग सत्ता धारण करती है किन्तु

इसका यह स्वरूप उपलक्षण मात्र है। आत्माका समष्टिगत नाम परमात्मा है वस्तुतः परमात्मा आत्मासे विभिन्न नहीं। कबीरका वह निर्गुण प्रियतम आत्मतत्त्वकी उपलब्धिमें ही मिलेगा—ऐसा दार्शनिक मतवाद कहता है। कबीरकी यह दार्शनिकता अनुभूतिके साथ मिलकर भावना उत्पन्न करती है। 'मेरा साईं है घट माँही'में 'मन-प्रतिष्ठा'की साधारण चेष्टा है, दार्शनिक भाषा और शब्दावलीका प्रयोग है, बुद्धि-विलासका सामान्य परिचय है किन्तु भावात्मकता अमान्य नहीं। प्रिय जब केवल आँखोंका विषय न रहकर तन-मन सभीका विषय हो उठता है, अनुभूति जब इतनी तीव्र हो उठती है कि वह सदा पास ही दीख पड़ता है दूरीका भाव लुप्त हो जाता है। उस समय प्रेमी और प्रियतम, गायक और गेय मिलकर एक हो जाते हैं। वैसी अवस्थामें अविश्वास नहीं, निराशा नहीं, व्यथा नहीं, पीड़ा नहीं, दूरत्व नहीं, बल्कि आशा है, दृढ़ता है, विश्वास, अशेष आनन्द है, मस्ती है, मौज है; बाधा नहीं, बन्धन, नहीं, दंशन नहीं, सौन्दर्य है, सुषमा है, असीम उल्लास है। वह असीम उल्लास जीवनके कृत्रिम घेरेको तोड़-कर असीमकी ओर उच्छ्वसित हो उठता है, प्रिय भी असीम हो उठता है, असीम ही प्रिय बन उठता है। मिलनकी एकान्त घड़ीमें विरहकी आशंका नहीं। मात्र मिलनका सोच्छ्वास अभिनन्दन है, वन्दन है—

कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिल गये तिल ओले।

यह उल्लास उस प्रदेशमें पहुँचा देता है जहाँ—

भर्म और भ्रान्ति तहँ नेक आवै नहीं, ॥
कहै कबीर रस एक पेखा ॥

जहाँ दिन और रातकी पहुँच नहीं, जो प्रेमके प्रकाशका समुद्र है, जो सदानन्दका विराट् निर्झर है, जहाँ सुख और दुःखकी पहुँच नहीं, जहाँ पूर्ण आनन्दका साम्राज्य है, जो भ्रम और भ्रांतिसे परे है, जहाँ आनन्द के सहज एक रसका प्रवाह है। कबीरके प्रेमकी अनुभूति असीमका आकार ग्रहण कर लेती है। अनुभूतिकी तीव्रताके साथ विचारका सामंजस्य है। भावना और अभिव्यञ्जनाका संतुलन है। कवि और पाठकमें दार्शनिक शब्दावलीके कारण आनेवाला व्यवधान कबीरकी वृत्तिके कारण है किन्तु बौद्धिकताका यह आग्रह रागात्मिका वृत्तिको क्षुण्ण नहीं करता। कल्पना और प्रकृतिके विशद चित्र इसमें नहीं, कबीरकी पहेली-प्रवृत्तिके दर्शन भी यहाँ नहीं। अनुभूतिपूर्ण वृत्तिका सहज अविरल प्रवाह है, जिसमें सौन्दर्य है, भावुकता है, संगीतात्मकता है, राग है, और है संवेदनशीलता।

सखि, कि पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरीत अनुराग बखानिये
तिल तिल नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारलु
नयन न तिरपित भेल।
से हो मधु बोल स्रवनहि सूनल
स्रुति पथ परस न भेल।
कत मधु जामिनी रभस गमाओल
न बूझल कइसन केल।
लाख लाख जुग हिय मँह रखलु
तइयो हिय जुड़ल न गेल।

कत विदग्ध जन रस अनुमोदई
अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कह प्रान जुड़ाएत
लाखवो मिलल न एक ॥

—विद्यापति।

सखि क्या कहूँ यह अनुभव कैसा है ? ऐसा अनुभव तो और कभी हुआ नहीं। जीवनकी अन्य अनुभूतियोंसे इसमें विभिन्नता है जहाँ अन्य अनुभूतियाँ काल पाकर अपना आवेश और तीव्रता खोती जाती हैं, वहाँ यह पल-पल और गम्भीर होती जाती है। आँखोंमें छलियाके जिस रूपने घर कर लिया है, वह ओझल होता नहीं, दूर भागता नहीं और कोई दूसरा रूप आँखोंमें समाता नहीं। प्रेमका यह अनुभव अपनी ही तरह है। ऐसा कभी जान तो पड़ा नहीं था। इसका स्वरूप पहचानमें नहीं आता। सखि, बार-बार पूछती हो,—यह क्या है ? कैसे कहूँ—'यह अनुभव कैसा है' ?—

छाती जला करे है, सोजे दरूँ बला से।
एक आग सी लगी है, क्या जानिये कि क्या है ?

जाहूँ वैद घर आपनो, तेरो किया न होय।
मैं तो दाधी विरह कि रे काहे को ओपधि देय ॥

इस रोगकी कोई चिकित्सा नहीं, यह अनुभूति एकान्त नवीन है। मूर्ख वैद्य इसे समझ नहीं सकता। अनुभवकर्त्ता भी समझ नहीं पाता आखिर यह क्या है? शायद इस प्रकारकी अनुभूतिको ही लोग प्रेम कहते हैं—

शायद इसीका नाम मुहब्बत है 'शेफ्ता'
एक आग सी है दिलमें हमारे लगी हुई।'

जब इस अनुभूतिको स्वयं समझना कठिन है जब इसकी खुद पहचान नहीं, फिर क्योंकर कहा जाय यह क्या है? और बार-बार 'सखि! कि पूछसि अनुभव मोय?'

जीवनका साधारण आकर्षण इतना गम्भीर हो उठेगा कौन जानता था! कौन समझता था कि अपने आप बँधे बन्धनको तोड़ सकना शक्य नहीं होगा। यह वह बत्ती नहीं जो फिरसे बझायी जाय। अनुराग भी ऐसा नहीं जो स्थिर हो जाय, क्षण-क्षण, पल-पल, और अधिक गम्भीर होता जा रहा है। इसका स्वरूप स्थिर नहीं, कि इसका सम्यक दर्शन किया जाय। यह तो तिल-तिल कर नवीन होता जा रहा है। इसे किसी प्रकार शब्दोंके बन्धनमें बाँधा नहीं जा सकता। अनुभव करनेवाला अनुभूतिकी गम्भीरतामें इस प्रकार तल्लीन हो जाता है कि मुखरता जाती रहती है वाणी मूक हो जाती है। 'मन मस्त हुआ तब क्यों बोले?' और फिर यह अनुभूति तो तिल-तिल कर नवीन होती जाती है, इसे शब्दोंमें बाँधा ही कैसे जाय और फिर भी सखि, बार-बार 'यह अनुभव कैसा है' पूछती हो? क्या कहूँ 'यह कैसा है?'

यह नित्य नवीन रूपमें उपस्थित होनेवाली बिहारीकी नायिकाकी भाँति है जिसके लिए बिहारीने लिखा—

लिखन बैठि जाकी छबिहिं, गहि गहि गरब गरूर
भयो न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर ॥

चित्रकार बिचारा क्या करे ? उस छविको आँक सकना कठिन था। एक तो जहाँ आँखें उठा उसे देख उसकी शोभा देखनेका प्रयास करता है कि उसकी आँखें उठी रह जाती हैं, टकटकी बँध जाती हैं। आँखें चित्रपटपर झुकनेसे अस्वीकार कर देती हैं। आँखोंमें ऐसी बेहोशी छा जाती है कि चित्र आँकनेकी सुधि ही नहीं रहती। कुछ साहस कर चित्र आँकनेका प्रयास करते हैं किन्तु चित्रके अंकित हो सकनेके पूर्व ही उसका रूप बदल जाता है, वह नवीन रूपवाली दीख पड़ने लगती है। परिश्रम व्यर्थ जाता है। वह दूसरा चित्र आँकनेका प्रयास करता है। किन्तु इसमें भी सफलता पहले चित्रसे अधिक नहीं मिलती। लाचार कूँची फेंक वह भाग खड़ा हो उठता है। यह अनुभूति भी वैसी ही है। यह पल-पल नवीन होती है। इसमें पुरानापन नहीं आता, जी उचटता नहीं। प्रेमानुभूतिका यही रहस्य है। प्रेमास्पद जबतक नित्यनवीन रूपमें दीख पड़ता रहे, प्रेमाधिक्यका आवेश है। प्रेमी अपने प्रियको प्रत्येक दिन, हर घड़ी, प्रतिपल नवीन देखता है। वह सोचता है, अरे ! उसका यह रूप तो देखा था ही नहीं। वह विचित्र पहेली सुलझती नहीं; सुलझानेपर और उलझती है। जिस दिन सुलझ जाय उस दिन प्रेमका अन्त समझना चाहिये। प्रेमकी स्थिरता, और अनन्तताका यही रहस्य है। गम्भीर प्रेमके आवेशमें मालूम नहीं पड़ता यह अनुभूति कैसी है। और बार बार 'सखि कि पूछसि अनुभव मोय ?'

यह साधारण आकर्षण मात्र नहीं, दिलकी कुनमुनाहट मात्र नहीं, यह जीवनकी गम्भीर वृत्ति है, रागात्मक आवेश है, जिसमें सुध-बुध नहीं। यह प्रेमकी बेलि है जिसकी 'मूल पताल गयी', हृदयके अतल तलमें स्थापित हो गयी है 'अब कैसे निरवारूं सजनि ?' सब कुछ छोड़ा जा सकता है किन्तु रूपका यह मोह, प्रेमका यह आग्रह कैसे छोड़ा जाय ? प्यास मिटती नहीं, पीनेसे और प्यास बढ़ती ही है। घूँट-घूँटकर पीनेसे भी कोई लाभ नहीं, एक बार जीमें आता है, प्रियतमका रूप आँखोंमें भर लूँ जिसमें फिर कभी और कोई दूसरा रूप देखनेकी अभिलाषा मात्र शेष न रहे। किन्तु यह आशा पूरी होती नहीं, पूरी हो भी नहीं पाती। जी चाहता है, प्रियका रूप आँखोंके सामने रहे, कभी आँखोंसे ओझल न हो। युग-युगसे इस रूपके आसवका पान करती आ रही हूँ ; पर कभी तृप्ति नहीं होती, कभी यह प्यास बुझ नहीं पाती। जिस रोज प्यास बुझ जायगी, उस दिन प्यार भी न रहेगा, उस दिन फिर देखनेकी चाह भी नहीं रहेगी। प्रेमकी नवीनतामें यह अमिट प्यास है। प्रेम इसीमें और इसीसे जीता है। प्यास ही जीवन है, तृप्ति ही मृत्यु है। अभाव ही जीवन-चक्रकी धुरी है और अभावकी पूजा ही जीवन है। फिर वह सौन्दर्य भी तो साधारण सौन्दर्य नहीं। ज्ञात होता है, जीवनका सारा सौन्दर्य ही वहाँ ढलकर एकाकार हो गया है। आखें वहाँसे हटना ही नहीं चाहतीं—

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ
वारल लोचन चोर।
पिया मुख-रुचि पिबए धाओल
जनि से चाँद चकोर॥
ततहुँ सयँ हठ हटि मो आनल
धएल चरनन राखि।

मधुप मातल उड़ए न पारए
तइअओ पसारए पाँखि।

क्या कहूँ सखि, उस अपरूप-रूपके सामने आते ही इन लोभी और चोर आँखोंको हठपूर्वक निवारण कर नीची किये बैठी रहती हूँ लेकिन 'ये नैना बिगरि परे' और प्रीतम छबि देखनेसे बाज नहीं आते। जिस प्रकार चकोर चाँदकी ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार 'पिया मुख-रुचि पिवए धाओल'। इतनेपर भी उन्हें हटाकर अपने चरणोंकी ओर लगा रखती हूँ फिर भी मधु पीकर मतवाले बने भौंरेकी भाँति ये आँखें भी उड़ नहीं पातीं। भौंरा उड़नेके प्रयासमें पंख फ्सारता है किन्तु उड़ नहीं पाता। आँखोंकी वही गति है, आँखें हटनेका नाम नहीं लेतीं बिहारीने भी कहा है—

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं।

आँखोंको इस प्रकार बहकानेवाला स्वरूप साधारण नहीं। 'जनम अवधि हम रूप निहारलुँ, नयन न तिरपित भेल'। फिर भी सखि, उस अनुभूतिकी बात पूछती हो। क्या कहूँ वह अनुभव कैसा है?

जीवनकी यह अनुभूति साधारण नहीं, वाणीकी असाधरण मधुरता कानोंमे थमती नहीं। रोज-रोज उसका आस्वाद लेती हूँ किन्तु कानोंमें यह माधुरी अँटती नहीं। वह माधुर्य, क्या कहूँ, कहीं टिक पाती। लेकिन नहीं, उस वाणीका सौन्दर्य उस माधुर्यके न टिकनेमें है। जीवन आनन्द हीन, निस्तेज अभ्यास-मात्र है। आनन्दके क्षणोंमें ही जीवन सीमित है। माधुर्यका स्रोत जीवनको वह सरसता देता है, जो जीवनको सम्पूर्णतया छा लेता है। क्या कहूँ वह रस कैसा है?

'जो ज्ञान गीतामें नहीं; जो रस नहीं है काव्यमें
जो स्वर न तंत्री नादमें, वह सब तुम्हारी बातमें'

कहकर भी सन्तोष नहीं होता। वह इससे भी कहीं अधिक मधुर है। आनन्दका आनन्द उसके स्वरूपके अज्ञानमें है। व्यक्ति और आनन्दके एकीकरणमें आनन्द नहीं। अनुभूतिकी तीव्रता इतनी प्रगाढ़ जब हो उठे किसी प्रकारकी व्याख्या विवेचना सम्भव नहीं हो सकती। यह अनुभूति भी इतनी प्रगाढ़, इतनी तीव्र, इतनी गम्भीर है कि उसकी व्याख्या सम्भव नहीं। जीवनके रसका यह अद्भुत स्वाद केवल आस्वादनीय है, अनुभव गम्य है। वाणी इस प्रयासमें मौन है, काव्य केवल संकेत है। जिसने पूरा-पूरा आस्वाद नहीं लिया, जो इसमें निमग्न नहीं हुआ, वही बोलता अधिक है, वह मिलनके गीत गाता है, विरहमें सिसकियाँ भरता है किन्तु जीवनका यह रस जिसे मिल गया, वह हँसी और आँसुओंकी दुनियाके परे पहुँच जाता है। कविताकी आँखें उस सौन्दर्यको प्रत्यक्ष करनेकी शक्ति देती हैं। (Poetry is that which lifts the veil from the hidden beauty of the world (संसारके छिपे सौन्दर्यको प्रकट करना कविता है—शेली) किन्तु वह सौन्दर्य कविताके छंदोंमें अँट नहीं पाता। कविता इसके लिए सीमित है। केवल दो आँखोंसे वह रूप नहीं देखा जा सकता है अतः

सुरपति-पाए लोचन मागओं, गरुड़ मागओं पाँखि।
नन्द क नन्दन मैं देखि आवओं, मन मनोरथ राखि॥

इन्द्रसे उनके सहस्त्र नेत्र माँगकर उस रूपको देखनेका प्रयास है। इसीलिए तो 'जनम अवधि हम रूप निहारलुँ, नयन न तिरपित भेल।'

यह अनुभव ऐसा नहीं जो छंदोंकी वाणीके घेरेमें समा सके। जो

कहता है, उसने पहचान लिया जान लिया वह जानता नहीं। जो जान लेता है, वह बोलता नहीं। ''प्रेम-प्रेम' चिल्लानेवाला ही प्रेमी नहीं। यह अन्तरकी आग है जो धधकती कम, धुँधुआती अधिक है। ऐसे प्रेमका नाम लेनेवाले अनेक देखे, प्रेमी कोई विरला ही मिला। यह एक दिनका व्यापार नहीं, क्षणोंका विनिमय नहीं। जीवनका प्रत्येक पल इसपर निछावर हो। युग-युगतक यह प्यास बनी रहे, यही प्यास है। इसीलिए तो 'लाख-लाख जुग हिय महँ रखलुँ, तइओ हिय जुड़ल न गेल।' हृदयका ताप मिटना सहल, सहज, साधारण नहीं। यह अनुराग भी तो साधारण नहीं। यह तो क्षण-क्षण बढ़नेवाला रोग है। इसकी अबाध गतिमें जीवन अवरुद्ध होता जा रहा है—'तेल बिन्दु जैसे पानि पसारिए ऐसन मोर अनुराग।' इस अनुरागकी, इस अनुभूतिकी बात क्या पूछती हो सखि!

इसका उपयोग करना और बात है, अनुभूति और वस्तु है। आनन्दोपभोग और आनन्दानुभूति एक नहीं। इसका उपयोग अनेक विदग्ध जन करते हैं, करते आये हैं, शायद करते रहेंगे, किन्तु किसीने इस अनुभूतिका स्वरूप पहचाना नहीं। कहीं इसके स्वरूपका ज्ञान भी हो सकता है? संसारमें हृदय जुड़ानेवाले, प्राणोंकी आँच मिटानेवाले कहीं मिलते नहीं! लाखोंमें भी एक नहीं मिलता, करोड़ोंमें एक नहीं मिलता; सम्पूर्ण सृष्टिमें भी केवल एक ही ऐसा है—जो स्वयं सृष्टिका रूप धरकर सामने आता है, अथवा सृष्टि ही जिसका रूप धारण करती है। वह अकेला है, केवल एक है। खोज करनेपर भी दूसरा मिलता नहीं, मिल नहीं सकता। प्रियका रूप आँखोंमें इतना छा जाता है कि कोई दूसरा रूप आँखोंमें टिक पाता नहीं। समा सकता नहीं।

> प्रीतम छवि नैना बसी, पर छवि कहाँ समाय।
> रहिमन भरी सराय लखि, आपु पथिक फिरि जाय॥

'मीराकी पीर मिटानेके लिए भी एक प्रियतम ही एक-मात्र वैद्य है, और कोई दूसरा तो इस रोगका निदान भी नहीं जानता—'मीरा की प्रभु पीर मिटैगी, जब वैद सँवलिया होय।' प्राणोंका ताप मिटानेवाला, जीवनको सरस करनेवाला केवल प्रियतम है, जिसके रूपसे तृप्ति नहीं है, जिसकी वाणीके माधुर्यसे कानोंकी प्यास मिटती नहीं। युग-युग तक देखा, आँखोंमें बन्द रखनेपर भी शान्ति नहीं मिलती, प्यास बुझती नहीं। फिर बार-बार 'सखि कि पूछसि अनुभव मोय।'

विद्यापतिके आकुल अन्तरकी पुकार है इसमें। जिसने जीवनमें प्रेमका अनुभव नहीं किया, जिसने विरहका आनन्द नहीं उठाया, जिसके अन्तरमें अभाव और आकुलताकी पीड़ा नहीं जगी, जिसकी आँखें सौन्दर्यके अन्वेषणमें इधर-उधर भटकीं नहीं, जिसके हृदयमें रसोद्रेक नहीं हुआ, वह प्रेमकी यह मधुर व्यञ्जना कर नहीं सकता। विद्यापतिकी राधा संकुचित भी नहीं थी, भयभीत भी नहीं। प्रेममें सराबोर हृदयका परिचय यहाँ है। प्रेमने जीवनको इतना आक्रान्त कर रखा है कि और कोई दूसरा सत्य नहीं। यह जीवनका एकमात्र सत्य है, पूर्ण सत्य है। सखिका प्रश्न-प्रेरक बन उठता है। अन्तरमें जो आकुल उच्छ्वास बन्द पड़ा था, सहसा ठोकर खाकर फूट पड़ता है। वह हृदयके घटमें अँट नहीं पाता। यह असाधारण प्रेम असाधारण रूपमें प्रकट हो उठता है। इसमें उक्ति-वैचित्र्य नहीं, क्लिष्ट, कल्पना नहीं, अलंकार-विधानका द्रविड़ प्राणायाम नहीं, भावनाओंकी 'जिमनास्टिक' नहीं, वृत्तिकी सरल, स्वाभाविक अभिव्यक्ति है—जिसमें आकुलता है, प्यास है, मार्मिकता है, स्निग्धता और उच्छ्वास है। शब्द और संगीत एकाकार हो उठे हैं। भाषा और भावमें व्यवधान नहीं। स्वच्छ, तरल, मादक प्रवाह जैसा संगीत संगीतात्मक है जिसमें शास्त्रीयताकी रक्षासे संगीत-सौष्ठव अधिक है। राग, रागात्मकता

और भाषाका अद्भुद समन्वय है। जीवनकी अनुभूतिकी मधुर व्यञ्जना है कविकी वाणी गूँजती रहती है—

> लाख-लाख जुग हिय महुँ राखलुँ
> तइयो हिय जुड़ल न गेल।

> निसिदिन बरसत नैन हमारे।
> सदा रहत पावस ऋतु हमपैं जबते स्याम सिधारे।
> दृग-अंजन लागत नहिं कबहूँ उर कपोल भये कारे॥
> कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी उर बिच बहत पनारे।
> 'सूरदास' प्रभु अंबु बढ़्यो है गोकुल लेहु उबारे॥
> कहँलौं कहौं स्यामघन सुंदर बिकल होत अति भारे॥—सूरदास

अहीरोंकी छोटी-सी टोली, वृन्दावनका गाँव है—हास-परिहास, आनन्द-उल्लाससे भरा। इसके बीच आ जाते हैं कृष्ण अनन्त सौन्दर्य-शील, चपल और मधुर। जीवनकी गतिमें एक धारा और आ मिलती है, गति तीव्रसे तीव्रतर, तीव्रतरसे तीव्रतम हो उठती है। फिर क्या जीवन-में प्रेमभरी खीझ है, स्नेह-पुलकित झुँझलाहट है, रस-आविल उलाहना है। गोपियोंका जीवन सरस हो उठता है। रूप-लिप्साके साथ ही साथ साहचर्य-का सम्बन्ध दिन-रातका सम्बन्ध है। Love at first sight प्रथम दर्शनमें ही प्रेमका आवेग नहीं। 'जनम अवधि-हम रूप निहारलुँ नयन न तिरपित भेल' की कथा है। राहोंमें, गलियोंमें, यमुना-पुलिनपर, सघन कुंजों-की छायामें सर्वत्र कृष्णके अनरूप-रूपके दर्शन हैं, वक्रता मिश्रित सरल,

सरस परिहास है। यह कुमार कब युवक हो जाता है, पता नहीं। यह सरल भाव, साधारण आकर्षण प्रेम बन जाता है प्रेमकी यमुनामें सभी बहे चले जाते हैं, किसीको खबर नहीं, ध्यान नहीं, सुध-बुध नहीं। इसी बीच अक्रूर एक दिन क्रूर बनकर आते हैं और कृष्ण मथुरा जा पहुँचते हैं। तीन कोस दूर मथुरामें जाकर कृष्ण ऐसा फँस जाते हैं कि वृन्दावन लौटते नहीं' लौट पाते नहीं। इधर गोपियाँ बेहाल हैं, आतुर हैं, आकुल हैं। कृष्णके मथुरा चले जानेपर ही उनपर प्रकट होता है कि उनका प्रेम कितना गम्भीर कितना प्रगाढ़ है। मिलनके आनन्दने उन्हें आत्म-विस्मृत कर रखा था, इतना आविष्ट कर रखा था कि प्रेमकी गम्भीरताका ध्यान उनसे ओझल हो गया था। 'विरह प्रेमकी जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है'—ठीक कहा है रामनरेश त्रिपाठीने। नन्द-यशोदा, गोप-गोपियाँ सभी बेहाल हैं. कृष्णके बिना सारा संसार ऊजड़ ग्राम है। संयोग सुखके सारे उपकरण वियोगमें अधिक पीड़ा पहुँचाते हैं। प्रत्येक घड़ी, प्रति पल, हरेक क्षण कृष्णकी यादको और भड़का देते हैं—

बिन गुपाल वैरिन भई कुंजैं
तब वै लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वालकी पुंजैं।

सोते-जागते, बैठते-उठते, एक क्षणके लिए वह श्याम-मूर्त्ति हृदयसे नहीं हटती। 'चलत चितवत, दिवस जागत, सपन सोवति रात, हृदयते वह श्याम मूरति छिन इत छिन उत जात' और आश्चर्य यह है कि वह मथुरा नगरी कुल तीन कोसपर है एवं यहाँ गोपियाँ बेहाल हैं, कृष्ण मथुरामें सुखकी नींद ले रहे हैं—

सागर कूल मीन तलफत है, हुलसि होत जल पीन।

ब्रजके बेहाल होनेकी क्या कथा कही जाय। प्रकृतितक संवेदन-

शील है ; गोपियोंके हृदयका चित्र और दर्पण है। व्रजकी प्रकृति इतनी भाव-प्रवण है कि कृष्णके संयोग और वियोगका चित्र उपस्थित करती है। कृष्णके वियोगका इतना व्यापक प्रभाव पड़ता है कि

नाचत नहीं मोर ता दिन ते, बोले न बरसा काल।
मृग दुबरे तुम्हरे दरसन विन, सुनत न वेणु रसाल।
वृन्दावन हर्यो होत न भावत, देखो स्याम तमाल।

जब प्रकृति, वन-वीथियों और वन्य पशुओंकी यह अवस्था है फिर गोपियोंकी दशाके विषयमें क्या कहा जाय ? ऊधो इसी बीच व्रजभूमिमें पधारते हैं, इस अपार विरह-सागरमें अपूर्व लहर दौड़ पड़ती है। ऊधोके ज्ञान-गर्वकी ठेस पाकर रुकी धारा एक बार और उग्र वेगसे फूट पड़ती है। प्रियकी निष्ठुरता, प्रीतिकी गूढ़ता, रसकी तन्मयता एक बार फिर आँखोंमें छा जाती हैं। पाती देखते ही कृष्णकी स्मृति और प्रबल होकर उभर पड़ती है। न-जाने आँसुओंका यह वेग कहाँ छिपा पड़ा था जो इस पत्रके देखते ही जग पड़ा—

निरखत अंक स्याम सुन्दरके बार-बार लावती छाती
लोचन जल कागद मसि मिलिकै ह्वै गयी स्याम स्यामकी पाती।

रोशनाई और आँखोंका जल मिल जानेसे पाती लिप-पुतकर केवल स्याम ही नहीं हो गयी बल्कि स्यामकी पाती स्याम-मिलनके समान ही सुखदायिनी है। कहाँ गोपियोंका यह हाल, और कहाँ ऊधोका ज्ञान-मय निर्गुणका उपदेश ! सरल, भोरी, गाँवकी 'ग्वारन' छछिया भरी छाछ पे नाच नचानेवाली गाँवकी छोहरियाँ भला निर्गुणको क्या जानें ? वे तो सरल हृदय और रागात्मक वृत्तिको जानती हैं। कृष्णको जानती हैं। उनके प्रेमको, स्नेहको जानती हैं। यह प्रेम इतना गाढ़ और गम्भीर

है कि वाणीद्वारा इसका कथन करना सम्भव नहीं। ये आँखें जो कभी रूपरस चखनेसे अघाती नहीं थीं, आज विफल हैं, बेबस हैं। हृदय-मंथन हो रहा है। क्या कहा जाय! यह 'बरसत निशिदिन नैन हमारे' वह प्रेम साधारण नहीं। इसका रूप कुछ-कुछ 'तारेके लिए पतंगकी आकांक्षा, रजनीका प्रातके लिए आवेश, दूरस्थित किसीके लिए रागात्मक आवेश' की भाँति है।

The desire of the moth for the star,
of the night for the morrow.
The devotion to something afar.

आँसुओंके इस प्रवाहमें ज्ञानका टिकना सम्भव कहाँ ? एक-दो बूँद आँसू नहीं, आँसुओंकी धारा है, अनवरत वर्षा है। इन आँसुओंमें सारा ब्रज डूब रहा है। ब्रजका प्राणी-प्राणी रो रहा है और कृष्ण निष्ठुर बने बैठे हैं। आँसुओंका इतना प्राबल्य है—

कैसे पनघट जाऊँ सखि री डोलौं सरिता तीर।
भरि-भरि जमुना उमड़ चली है, इन नयननके नीर॥
इन नयननके नीर सखि री, सेज भई घर नाऊँ।
चाहत हौं, वाही पै चढ़िके स्याम मिलनको जाऊँ॥

आँसुओंके इस आधिक्यका वर्णन तोषनिधि करते हैं —

गोपिनके अँसुवानको नीर पनारे भये, बहिके भये नारे।
नारेन हूते भई नदियाँ नदिया नद है गये काट कगारे॥
वेगि चलौ तो चलौ ब्रजको कवि तोप कहैं ब्रजराज दुलारे।
वे नद चाहत सिन्धु भये अब नाहिं तो हैहैं जलाहल सारे॥

'तोपनिधि'की गोपियोंको आशंका है कि वे नद अब सिन्धु हो जायँगे और सारा ब्रज उस जलप्लावनमें डूब जायगा। सूरदासके लिए यह केवल आशंकामात्र नहीं, बल्कि सत्य है 'सूरदास प्रभु अंबु बढ्यौ है गोकुल लेहु उबारे'। एक बार ब्रजपर ऐसी विपत्ति आयी थी। घोर जलवर्षण हो रहा था, प्रलयकारी दृश्य उपस्थित था। उमड़-घुमड़कर बादलोंका दल ब्रज-मण्डलको घेर रहा था, बिजली कड़क रही थी। ब्रजमें जल-प्लावनका दृश्य उपस्थित था, चारों ओर हाहाकार मचा था, लोग डूब रहे थे। तुमने उस दिन ब्रजकी इस विपत्तिसे रक्षा की थी। आज भी वैसा ही दृश्य उपस्थित है। श्याम-विरहमें आँखें मेघ बन गयी हैं, जिनसे अविराम वर्षा हो रही है। ब्रज-बालाओंकी शत-शत आँखोंमें मेघोंका जल भर गया है। श्याम जिस दिनसे गये उस दिनसे आँखोंकी वर्षाको विराम नहीं, सदा यहाँ पावस ऋतु ही बसती है। वर्षासे सारा ब्रज डूब रहा है। 'छबीले मुरली नेक बजाओ', एक बार झलक दिखा जाओ।

यह प्रेमकी दुनिया विचित्र है, संसार अलग है—

आह और अश्क है सदा ही यहाँ,
रोज बरसातकी हवा है यहाँ।—मीर

[यहाँ (इस प्रेम-देशमें) सदैव आहें और आँसू दीख पड़ते हैं। सदा बरसातकी हवा चला करती है!] मीर एक जगह और लिखते हैं —

उन्हीं गलियोंमें जब रोते थे हम 'मीर'
कई दरियाकी धारें हो गयी हैं।

इन आँखोंकी कौन चर्चा करे, कौन इनकी उपमा ढूँढ़े। कोई

उपमा ठीक जँचती नहीं 'उपमा नैन न एक रहीं' और फिर आँखोंका यह सारा जल आँखोंमें समाता नहीं। प्रकृतिको सूर प्रकृत आँखोंसे नहीं देखते। 'सदा रहति पावस ऋतु हम पै' में मानव-सापेक्ष प्रकृतिका चित्रण है। गोपियों और प्रकृतिमें कोई अन्तर नहीं। प्रकृति भी गोपियों-की भाँति क्षीण विरह-कृश, दीन, दुःखी और सन्तप्त है। यह 'पावस ऋतु' उद्दीपन-मात्र नहीं ; आत्मा और हृदयका दर्पण है जिसमें गोपियों-का हृदय प्रतिबिम्बित है। पुरानी स्मृति जगाकर विरहकी व्यथा और बढ़ा देती है अतः यह प्रकृति राधामय है, कृष्णमय है। बादलोंकी उमड़ती घटा कृष्णकी याद दिलाती है। 'सस कुँजें' प्रियके अभावमें 'बैरिन' बन गयी हैं। यमुना विरह-ज्वरमें जलकर काली हो गयी है, काली रात प्रियविरहमें 'साँपिन' बन गयी है—'पिया बिन साँपिन कारी रात' व्रजमें केवल दो ऋतुएँ रह गयी हैं—

व्रज ते द्वै रितु पै न गई

ग्रीषम अरु पावस प्रवीन हरि तुम बिनु अधिक भई।

आँसुओंकी बाढ़का आखिर कारण क्या है? प्रेमका आधिक्य जब सीमाका अतिक्रमण कर उठता है, बौद्धिकता-संसार-सुलभ व्यावहारिकता-का ज्ञान नहीं रह जाता। प्रेमके इस प्रचण्ड प्रकाशसे दृष्टिमें चकाचौंध हो जाता है और कोई दूसरी वस्तु सूझती नहीं। प्रकाशके कम्पनोंकी संख्याकी अल्पता जिस प्रकार वस्तुको आँखोंसे ओझल करती है, उसी प्रकार प्रकाशका आधिक्य भी चकाचौंध उत्पन्न कर अन्धकारकी सृष्टि करता है। प्रेम-दशाकी बुद्धि हीनताका तात्पर्य अबौद्धिकता नहीं बल्कि व्यावहारिक कौशलका अभाव और सरलता है। समग्र वृत्तियोंकी चेतनापर प्रेमका जितना प्रभाव होगा उतनी ही अधिक मात्रामें 'बुद्धि हीनता' होगी।

गोपियोंका प्रेम 'बैठे ठाले'के लिए फैशनका व्यापार नहीं, रोमांस-प्रिय वयस्क बालिकाओंका विनोद मात्र नहीं, हृदयकी गूढ़ वृत्ति है। जिस 'कान्ह'के लिए सब कष्ट सहा, प्रीति-रसमें ढालकर तन-मन जिसके चरणों-पर डाल दिया, उसका बेगाना बन जाना क्या कम पीड़ाका विषय है—

पीरीते रसे ते, ढालि तन मन, दियाछि तोमार पाय
तुमि मोर पति, तुमि मोर गति, मन नाहि आन भाय
कलंकी बोलिया डाके सब लोके ताहाते नाहिक दुख
तोमार लागिया, कलंकेर हार, गलाय परिते सुख।
सती वा असती, तोमाते विदित, भालो मन्द नाहि जानि
कहे चण्डीदास पाप पुन्य सम, तोमारि चरन खानि॥

[प्रीति-रसमें ढालकर तन-मन तुम्हारे चरणोंपर डाल दिया। तुम्हीं मेरे पति हो, मेरी गति हो, मनको और कुछ अच्छा नहीं लगता। सब लोग मुझे कलंकिनी कहकर पुकारते हैं, इसका मुझे दुःख नहीं। तुम्हारे लिए कलंककी माला गलेमें धारण करनेमें ही सुख है। सती वा असती हूँ, तुम्हें ज्ञात है। मैं भला-बुरा नहीं पहचानती, जानती हूँ केवल तुम्हारे चरण, जहाँ पाप नहीं, पाप-पुण्य जहाँ समान है।] जब ऐसा है क्यों न हो—'निसि दिन बरसत नैन हमारे'।

जगह जा छिपा है। जब कृष्ण नहीं किसके लिए यह सौन्दर्य-प्रसाधन हो। एवं जब कृष्ण नहीं फिर कौन ऐसा रूप है जिसे देखनेके लिए अंजनद्वारा परिष्कारकी आवश्यकता हो। इसपर भी आँखोंमें जब अंजन लग ही जाता है, निगोड़े आँसू आँखोंमें ठहरने देते तो नहीं और आँसुओंकी धाराके साथ मिलकर अंजन फैल जाता है। 'उधर कपोल भये कारे'। उरके काले होनेका कारण केवल बाह्य नहीं बल्कि निराशा, पीड़ा, व्यथाके कारण हृदयमें कोई उल्लास नहीं, कोई उत्साह नहीं। कृष्णके विरहमें वह रूप भी इतना अधिक प्रिय है कि अंजनकी कालिमा कपोलों और हृदयपर छा जाती है किन्तु उसे हटानेका ध्यान नहीं। कारण कृष्णका स्वरूप उसमें छिपा है और कृष्णके अभावमें रूप-साहश्यके कारण सन्तोष प्राप्त करना कम नहीं। कृष्ण चले गये किन्तु कृष्ण भी अपने स्वरूपको छीन तो नहीं सकते। कृष्ण तो 'तनमें, मनमें, नैनमें' हैं। उर और कपोलकी कृष्णता, रूप-लिप्सा और उससे तादात्म्यका संकेत देती है। कृष्णके अभावमें सारा संसार ही कृष्णमय है। यह व्यथा इतनी व्यापक, इतनी विस्तृत और विशद है कि और कोई भावना शेष नहीं रहती, और कोई भाव उठता नहीं।

अतिशयोक्ति है किन्तु उर्दूके उस कविकी भाँति नहीं जिसकी प्रेमिकाके गाल सपनेमें तस्वीरका चुम्बन करनेके कारण नीले पड़ जाते हैं।—

क्या नजाकत है कि आरिज उनके नीले पड़ गये,
हमने तो बोसा लिया था ख्वाबमें तस्वीर का।

और बिहारी की भाँति 'दूरकी कौड़ी' लानेका प्रयास भी नहीं था। व्यथा और पीड़ाका सरल चित्रण ही यहाँ लक्षित है। इतना रंग नहीं जो चित्र विकृत हो उठे। शब्द और संगीतका संतुलन है। 'निसि-

दिन वरसत नैन हमारे' आकुलता, आतुरताका चित्र आँखोंके सामने खड़ा कर देता है। प्रकृतिका स्वतंत्र चित्रण नहीं, कल्पनाकी अतिशय रंगीनी भी नहीं। सूरके सहज, स्वाभाविक व्याकुल मानसिक-दशाका चित्रण है। इसमें सूरकी व्यथित आत्मा कराह रही है, गोपियाँ तो उप-लक्ष्य मात्र हैं। सूरदासकी आत्मा इस गीतके अन्तरसे, रह-रहकर अत्यन्त आकुल और कातर भावसे चीख रही है—

"रुदन, जल नदी सम वहि चल्यो उरज बिच मनों गिरी फोरि सरिता पनारी।" और सूरकी मर्म वेदना चिल्ला-चिल्लाकर कह उठती है—

'निसिदिन वरसत नैन हमारे"

जब जब भवन विलोकति सूनो।
तब तब विकल होति कौसल्या दिन दिन प्रति दुख दूनो॥
सुमिरत बाल-विनोद रामके सुंदर मुनि-मन हारी।
होत हृदय अति सूल समुझि पदपंकज अजिर विहारी॥
को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो, माई।
स्याम-तामरस-नैन स्रवत जल काहि लेउँ उर लाई॥
जीवौं विपति सहौं निसि वासर मरौं तो मन पछितायो।
चलत विपिन भरि नयन रामको वदन न देखन पायो॥
तुलसिदास यह दुसह दसा अति, दारुन विरह घनेरो।
दूरि करै को भूरि कृपा बिनु सोक-जनित सब मेरो॥

—तुलसीदास

राम वनको जा रहे हैं; अयोध्याका सारा ऐश्वर्य और विभव, उन्हें रोक नहीं पाता। इस त्यागमें कोई मोह नहीं, संकोच नहीं—

कीरके कागर ज्यों नृपचीर विभूषन, उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगवासके रूख ज्यों, पंथके साथी ज्यों लोग लुगाई।
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बापको राज बटाऊकी नाईं॥
कागर-कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई।
मातु पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई।
संग सुभामिनि भाइ भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बापको राज बटाऊकी नाईं॥

राम भले अयोध्या और पिताके राज्यको 'बटाऊ' की भाँति छोड़कर चले जायँ, भले अयोध्या-वास दो दिनोंकी 'पहुनई' हो, भले माता-पिता, परिजन-पुरजनका प्रेम 'बहते तिनकोंका पलभरका साथ' हो, भले पथमें मिलनेवालोंका-सा स्नेह-सिन्धु उमड़ता हो किन्तु माताका हृदय तो 'माताका हृदय' है पुत्रकी मंगल कामनासे उद्वेलित, उसके वियोगमें माता आकुल। माताके अन्तरकी यह आकुल पुकार एक ओर जहाँ विशुद्ध वियोग है, वहाँ रामकी व्यथा और पीड़ाकी कल्पनाके कारण शोक भी कम नहीं। महलोंमें रहनेवाले राम और सीता किस प्रकार वनके कष्ट सह सकेंगे, इसके लिए माताकी चिन्ता स्वाभाविक है। राम-वनवासके शोकसे व्याकुल राजा दशरथ कहते हैं—

विपिने क्व जटा निबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम्॥

[कहाँ जंगलमें जाकर जटाओंका बाँधना, और कहाँ तुम्हारा

(रामका) यह सुकुमार मनोहर शरीर। विधिकी यह अनुचित घटन वैसी ही है जैसे तलवारसे शिरीषके फूलका काटना।]

कृष्णके मथुरा जानेपर ऐसी ही अवस्था उपस्थित हुई थी। यशोदा-के हृदयमें वैसी ही व्यथा है। यद्यपि यशोदाका कृष्ण वन-वन मारा नहीं फिरता, राज-महलमें रहता है, राज्य-सुखका उपभोग करता है किन्तु माता-के हृदयकी आशंका यशोदामें है। उसका पुत्र संकोच करता होगा, भला माताकी भाँति उसकी परिचर्या कौन करेगा? कौन ऐसा है जो प्रातःकाल माखनका कलेवा देगा? कौन उसके रूठे लालको मनावेगा? लोग बार-बार समझाते हैं, फिर भी माँका हृदय मानता नहीं। रह रहकर उसे कृष्णकी याद आ जाती है—

यद्यपि मन समुझावत लोग
सूल होत नवनीत देखि के मोहन मुख के जोग।

यशोदाके हृदयकी व्यथामें स्वाभाविकता है किन्तु इसके साथ ही यह व्यथा हृदयकी निर्बलताके कारण भी है, केवल इसी आशंकाके कारण है, कि उसके (यशोदाके) समान और कोई दूसरा उसकी परिचर्या करने-वाला नहीं हो सकता। कौशल्याकी पीड़ाका कारण और व्यापक है, उसकी व्यथा और गम्भीर है। उसके राजा-बेटेको अयोध्याका राज्य मिलते-मिलते वनवास मिला। संगमें सीता सुकुमारी और 'लक्खन लरिका' । यद्यपि विश्वामित्रके साथ राम और लक्ष्मणने वन भ्रमण किया था, न्तु उसमें भ्रमणका आनन्द था, वनवासकी व्यथा नहीं कहीं ठहरने-ठिकाना नहीं, खाने-पीनेकी व्यवस्था नहीं; फिर माताका हृदय दुःख का अनुभव क्यों न करे?

भूख लगे भोजन कहँ पैहैं, प्यास लगे कहँ पानी।
नींद लगे आसन कहँ पैहैं कुस काँकर गड़ि जाई।

रिमझिम रिमझिम देव बरीसे पौन बहै पुरवाई।
कौनो बिरिछतर भींजत होइहैं, राम लखन दुइभाई ॥

(भोजपुरी लोक-गीत)

'हाय भूख लगेगी तो भोजन कहाँ पायेंगे, और प्यास लगनेपर पानी; नींद लगनेपर बिछौना कहाँ पायेंगे ? शरीरमें कुश और कंकड़ गड़ेंगे न ! बादल रिमझिम रिमझिम बरस रहे हैं। पुरवैया चल रही है। न जाने किस वृक्षके नीचे दोनों भाई भींग रहे होंगे।' और 'कोई समुझावत नाहीं'। न जाने किसने यह अयोध्या उजाड़ दी। कौशल्या विलाप करती है, विलखती हैं 'किन मोरी अवध उजारी हो' रामके दैनन्दिन दिनचर्याकी अनिश्चितता, वनवासका कष्ट, सीता और लक्ष्मणकी सुकुमारता याद कर कोशल्याके प्राण सूख रहे हैं। और जब सूने भवनकी ओर ध्यान जाता है,—'तब तब विकल होति कौसल्या' क्योंकि 'राम बिना मोरी सूनी अयोध्या, लछिमन बिन चौपारी'। यह वैकल्य केवल क्षणोंका नहीं, जैसे-जैसे दिन बीतता है, यह सूनापन और बढ़ता जाता है, अधिक खलने लगता है। रामकी बाल-क्रीड़ाएँ याद पडने लगती हैं। रामके उपयोगमें आनेवाली वस्तुएँ उनकी यादको और भड़का देती हैं। "जननी निरखत बान धनुहियाँ" और "बार बार उर नैननि लावति प्रभुजूकी ललित पनहियाँ"। मनोवैज्ञानिक भाषामें जी चाहे इसे हम fetishism कह सकते हैं। यशोदा और कौशल्याके इस रूपमें भी अन्तर है। रामका शैशव बीत गया था, बाल-क्रीड़ाएँ अतीतकी बातें हो चुकी थीं, अतः उनके कारण जगनेवाली स्मरण-शक्तिमें उतनी तीव्रता सम्भव नहीं। रामके उस विगत बाल-जीवनकी याद वर्तमानके साथ केवल इतनी दूरतक ही मेल खाती है कि उनकी स्मृतिको सजग होनेका अवसर मिल जाता है किन्तु कृष्णका 'माखन माँगना' रोजका व्यापार था। 'माखन' देखते ही कृष्ण-

की याद जितनी स्वाभाविक है यह 'बान धनुहियाँ' और 'पनहियाँ' के कारण नहीं। कौशल्या तुलसीके हाथ पड़कर केवल माता नहीं बल्कि भक्तका प्रतीक भी बन जाती हैं। 'सुन्दर मुनि-मन-हारी' कहकर तुलसी रामके लौकिक आदर्शकी ओर झुक जाते हैं और तुलसीका सामाजिक आदर्शवाद सजग हो पड़ता है। रामके इस मर्यादावाद और सामाजिक रूपपर तुलसी इतने आकृष्ट हैं कि राम केवल राम और कौशल्याके पुत्र नहीं बल्कि नारायण हैं, और कौशल्या माता केवल माता नहीं रह जातीं बल्कि भक्त-स्वरूपिणी बन जाती हैं। ऐसी अवस्थामें रागात्मक वृत्ति श्रद्धाके साथ मिलकर शुद्ध, सरल भावमें नहीं रह पाती। तुलसीकी प्रतिभा इस रूपमें सफल नहीं होती। और सूरकी यशोदा माता केवल माता हैं। कृष्णके पारलौकिक स्वरूपका दिग्दर्शन उन्होंने भक्तोंकी परिपाटीमें किया है अवश्य, किन्तु यशोदाके वर्णनमें मातृ-हृदयकी अनुभूति जो सूरको होती है, वह तुलसीको नहीं। तुलसीकी भावुकता पांडित्यपूर्ण है, सूरकी सहज, सरल, और स्वाभाविक। कविता अचेतन मानसिक क्रिया है, इस कथनको स्वीकार करते समय तुलसीकी काव्य-कला सामने उपस्थित होगी, और इस कथनकी सत्यतामें अनेक अंशोंमें बाधा पहुँचावेगी। तुलसीकी प्रतिभामें गीति-काव्यत्वका अभाव-सा है। 'मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कुछ वैसेहि धर्‍यो रहै' तथा 'सूने भवन यशोदा सुनिके गुनि-गुनि सूल गहै' में जो भाषाभिव्यञ्जना है वह 'जब-जब भवन बिलोकति सूनो, तब-तब विकल होति कौशल्या' में नहीं दीखता। जान पड़ता है भाषा भावका साथ नहीं देती अर्थात् अनुभूति अपने सम्पूर्ण रूपमें नहीं होती। तुलसीको 'मात-पिता जग जाइ तजो' के कारण माता और उसके हृदयको पहचाननेका अवसर नहीं था। तुलसीका नारी-जातिसे क्षणिक साक्षात्कार प्रेयसीके रूपमें था, किन्तु वह भी मोह था, अतः माताके हृदयकी गम्भीरताका अनुभव भावनात्मक और कल्पनात्मक था।

"को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो, माई !
स्याम-तामरस-नैन स्रवत जल काहि लेउँ उर लाई !"

वन-गमनके पूर्व राम वय प्राप्त हो चुके थे। प्रातःकाल 'कलेऊ' माँगते समय 'रामका रूठना' 'नाबालिक अहीरों' का स्मरण कराता है। स्याम-तामरससे नयनमें आँसुओंका भरना कम अस्वाभाविक नहीं। यह बात नहीं कि जवानीमें लोग रोते नहीं, अथवा यह अस्वाभाविक है, किन्तु कलेवाके समय रूठना, रोना, मचलना अस्वाभाविक है। 'तुलसी-दास' के लेखक और समर्थ आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्लने लिखा है कि 'वन-गमनके समय राम इतने बच्चे न थे, पर वात्सल्य दिखानेके लिये गोस्वामीजीने कौशल्याके मुखसे ऐसा ही कहलाया है' किन्तु इतना स्वीकार हमें करना पड़ेगा कि यह अस्वाभाविक है, कृत्रिम है, तुलसीकी भावुकता माताका हृदय पहचाननेमें असमर्थ रही और उनमें वास्तविक रागात्मक आवेशका अभाव है।

जीवौं तो विपति सहौं निसिबासर मरौं तो मन पछितायो
चलत विपिन भरि नयन रामको बदन न देखन पायो।

में रागात्मक वृत्तिकी गम्भीरतासे अधिक काव्य-चमत्कार, उक्ति-सौष्ठव और व्यञ्जना है। 'मरौं तो मन पछितायो' का कारण मरनेका भय नहीं। बल्कि मरनेके समय रामका वह स्वरूप, पुत्रका मुखड़ा सामने नहीं रहेगा और आकुल आँखें उसे चारों ओर ढूँढ़ती फिरेंगी, मरकर भी चैन नहीं मिलेगा, उसके रूप-दर्शनकी प्यास बनी रहेगी—

आँखें जो खुल रहीं हैं, मरनेके बाद मेरी।
तो हसरत यह थी कि उनको एक निगाह देखूँ॥

'एक निगाह देखूँ' की हसरत बची रहेगी । देखनेकी यह प्यास और अधिक तीव्र होगी कारण चलते समय रामका पूरा-पूरा दर्शन भी नहीं हो सका था । निगोड़े आँसुओंने आँखोंमें कुछ ऐसा अन्धकार छा रखा था, देखनेकी शक्ति इतनी धूमिल कर रखी थी कि रूप-दर्शन सम्भव न था । वन-गमनका यह प्रसंग इतना अनायास और अप्रत्याशित रूपमें आ खड़ा हुआ कि समग्र चेतना लुप्त हो गयी, देखनेकी सुध-बुध नहीं, वह दारुण प्रसंग इस गम्भीरताके साथ उपस्थित हुआ कि चेतना न जाने किधर भूल गयी । सहसा विश्वास न हो सका कि राम चले ही जायँगे । जब सुधि आयी 'सूनो भवन विलोकति' अतः 'मुखड़ा' देखनेकी अभिलाषा जगी है । एक साथ ही व्यथा, पीड़ा, चेतना-लोप, आँसुओंके आधिक्य, मानसिक शैथिल्यकी सूचना इन पंक्तियोंमें है । किन्तु तुलसीका सुधारक 'भूरि कृपा'की ओर ध्यान आकर्षित कर अपनी याद दिला देता है । कौशल्या यदि माता रह सकतीं, सिर्फ माता, तो चित्र उदात्त स्वाभाविक, गम्भीर और संवेदनशील होता । इस गीतमें संगीतात्मकताका अभाव नहीं किन्तु यह संगीत चट्टानके नीचेसे फूट पड़नेवाले निर्झरके संगीतकी भाँति उन्मुक्त और सहज नहीं । शब्दोंसे यह संगीत फूटता हुआ नहीं दीखता । साधारणरूपमें लोग कह सकते हैं कि भाषा इस मार्गमें अवरोधक बन जाती है, इसे ही तो मैं गीति-काव्यात्मक प्रतिभाका अभाव समझता हूँ । वैज्ञानिकता और व्यक्तिगत अनुभूतिकी अभिव्यञ्जनामें कौशल्या और भक्तकी एकात्मकताके कारण व्यवधान आ खड़ा हुआ है । तुलसीके गीतोंमें वह निश्छल सरल प्रवाह नहीं दीख पड़ता जो सूरमें है । विरह-जनित वियोगकी अभिव्यञ्जनामें वह स्वाभाविकता नहीं रही । [illegible] विरह होनेके कारण इसे विप्रलम्भ शृंगारके अन्तर्गत आना चाहिए, इसमें शोकका स्थायित्व नहीं जो इसे करुण कहूं । अवधि निश्चित होनेके

कारण करुण-विप्रलम्भ भी यह नहीं। वात्सल्य रसके अन्तर्गत यदि इसे स्वीकार करें—यद्यपि वात्सल्यको इस प्रकार स्वीकार करनेमें शास्त्रकार एकमत नहीं—तब भी इसमें रामकी आयु और वन-गमनकी परिस्थितियोंके कारण वात्सल्यके रसत्वकी प्रतिष्ठा नहीं हो पाती।

हे री मैं तो प्रे[illegible]य।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोवणा होय।
गगनमण्डल पै सेज पियाकी, किस विधि मिलणा होय॥
घायलकी गति घायल जाणे की जिण लाई होय।
जौहरीकी गति जौहरी जाणे की जिण जौहर होय॥
दरदकी मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होय॥

मीराकी प्रीति एक दिनकी नहीं, मीरा दासी 'जनम जनम'की है, जिसके गलेमें प्रेमकी 'फाँसड़ियाँ' पड़ गयी हैं। बालमके रूपने मनमें ऐसा घर कर लिया है कि नयनके चित्रपटपरसे उतरता नहीं, आँखें वहाँ खुद रम गयी हैं।

पूर्व जनम की प्रीति हमारी, अब नहिं जात निवारी
सुन्दर वदन जोवते सजनी, प्रीति भई छे भारी

और वही छलिया जिसका भरा 'मनमें, नैनोंमें रूप' एक दिन—

छोड़ गया बिस्वास संगाती, प्रेम की बाती बराय
बिरह समँदमें छोड़ गया छो, नेहकी नाव चलाय।

उसके दर्शनोंको व्याकुल है। सारा संसार सुखकी नींदमें सो रहा है, केवल अकेली मैं आँसुओंकी माला पिरो रही हूँ।

मैं विरहिन बैठी जागूँ, जगत सब सोवे री आली ॥
विरहिन बैठी रंगमहलमें, मोतियनकी लर पोवे।
एक विरहिन हम ऐसी देखी, अँसुवन माला पोवे ॥
तारा गिन गिन रैन बिहानी, सुखकी घड़ी कब आवे।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलके बिछुड़ न जावे ॥

जबसे बिछोह हुआ है, कभी चैन मिलती नहीं, 'भई छमासी रैन, राह देखते-देखते आँखें पथरा गयीं, किन्तु 'मनभावनके आवन'की बात नहीं होती, और अब यह 'बिरह बिथा कासो कहूँ सजनी' कहनेसे ही कौन जान सकेगा अन्तरकी इस आकुलताको, 'हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरे दरद न जाणे कोय।'

मूर्ख वैद्य नाड़ियां टटोलता है, वह अन्तरकी आग, मनकी व्यथाको क्या जाने? शरीरकी व्यथा समझ इस रोगका उपचार करना चाहता है वह! कैसा भोला है, कैसा मूर्ख है, 'मूरख वैद मरम नहि जानत करक करेजे माँह'। यह रोग शरीरके उपचारसे मिटनेवाला नहीं, इस रोगकी ओषधि तुम्हारे पास नहीं। तुम्हारे किये कुछ हो नहीं सकता, तुम्हारा प्रयत्न व्यर्थ होगा, चेष्टा निष्फल जायगी। इसलिए—

जाहु वैद घर आपनो, तेरो किया न होय
मैं तो दाधी विरह की रे काहे को ओषधि देय।

मीरा विरहकी अग्निमें दग्ध है, साधारण लेपोंका प्रभाव केवल शरीर धर्मपर है, अन्तरकी पीड़ा इनसे मिट नहीं सकती।

'विरहकी मारी बन-बन डोलूँ' लेकिन 'बैद मिल्यो नहिं कोय' साधारण दर्द तो नहीं जो प्रकट किया जा सके। यह अनुभूति गम्भीर है कि इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यह दर्द इतना व्य है कि, प्रकटीकरणका कोई साधन नहीं। भला कौन ऐसा है इसकी सूचना 'प्रिय' को दे। कोई इस पीड़ाको समझता नहीं। कौन इसकी खबर दे। 'दरद दिवाणी' के 'दरद' का हाल के अभिव्यक्त हो? कोई इस दर्दको तो जानता नहीं; कारण—

> घायल की गति घायल जाणे की जिण लाई होय
> जौहरी की गति जौहरी जाणे, की जिन जौहर होय।

घायलकी गति घायल ही जानता है अथवा जिसके कारण चोट पहुँची हो, वह जानता है। सनातनधर्मी घायलको अपनी व्यथा, अपनी पीड़ासे इतनी फुर्सत कहाँ जो दूसरोंके दुखको जाँच-पड़ताल करे, समझे-बूझे। वह अपने आपमें इतना खो जाता है कि दूसरोंकी चिन्ता नहीं रह जाती। और फिर मीराकी अनुभूति तो साधरण नहीं। वैसी अनुभूति तो दूसरेकी शायद नहीं। व्यथाकी गतिको तो घायल ही जानता है, उसे अभिव्यक्त तो नहीं कर पाता। अनुभूतिकी गम्भीरता व्याख्याके परे है। दूसरा समझनेवाला वही पीड़ा पहुँचानेवाला छलिया है और वह तो समझना चाहता नहीं। 'घायलकी गति पहचानता तो है, मगर 'समझता नहीं' केवल उसकी एक नजर इस कसक, इस पीड़ाको मिटानेके लिए पर्याप्त थी, 'चितै दे मेरी ओर करक मिट जाय रे' मगर 'मैं चितवत तू चितवत नाहीं' ऐसा हृदय कठोर है। वह 'श्याम' जो इस पीड़ाकी गति समझता है, वह तो 'हो गये स्याम दूजके चदा'। और वह मूर्ख वैद तो केवल 'बाँह' पकड़ने भर जानता है और मैं—

खिण मंदिर खिण आँगणरे, खिण खिण ठाढी होइ
घायल ज्यों घूमूँ सदा री, म्हारी विथा न बूझै कोइ ॥

मीराकी यह चिन्ता है कि कोई उसकी व्यथा समझता नही और आँखें बरसाती हैं, ज्ञात होता है 'सावनके जलधर, इनमें आ बसे हैं'। पर कठिनाई यह है कि 'कोउ बूझत नाहीं'। यह प्रीति साधारण नहीं, प्रेमका मार्ग सीधा नहीं, यह राह बड़ो रपटीली है, पग-पगपर फिसलनेका भय है, गन्तव्य-स्थान भी कोई समीप नही, पैर काँप रहे हैं, राहमें टिक पाते नहीं—

ओहि मिलान जौ पहुँचे कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई ॥
है आगे परवत के बाटा। विषय पहार अगम सुठि घाटा ॥
बिच बिच नदी खोह औ नारा। ठाँवहिं ठाँव बैठ बटमारा॥ 'जायसी'

'गगन-मण्डल पे सेज पियाकी' भला 'किस बिध मिलना होय' प्रेम—पंथका स्वरूप-निरूपण बोधा करते हैं—

अति खीन मृनालके तारहुतें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-बेह कै द्वार सकै न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है ॥
कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ तें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा' तरवारिकी धार पै धावनो है ॥

'गगन-मण्डल पे सेज पियाकी'में केवल 'सुई-बेहकै द्वार सकै न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो' का ही भाव नहीं बल्कि 'गगन-मण्डल'की चर्चाद्वारा प्रियके उस अनन्त और व्यापक रूपककी अभिव्यञ्जनासे इसमें साकारत्वका तिरोधान हो जाता है। 'शून्य महलमें रहनि हमारी' अथवा 'गगन-मण्डलके बीचमें, तहवाँ झलकै नूर (कबीर) का भाव है। वह प्रिय केवल आँखका विषय नहीं, दार्शनिकताका

मोह यहाँ अवश्य है। गगन-मण्डलके द्वारा उस निर्गुण 'पीव' की अभिव्यञ्जना होती है जिसके लिए कबीर कहते हैं—

> मैं अबला पिउ पिउ करूँ, निर्गुन मेरा पीव।
> शून्य-सनेही राम बिन, देखूँ और न जीव॥

अथवा—सुन्न महलमें सुरत जमाऊँ सुखकी सेज बिछाऊँगी (मीरा)

किन्तु इस दार्शनिकतामें सिद्धान्त-निरूपणका आग्रह अधिक नहीं। साधारणतया ध्यान प्रेम मार्गकी कठिनाईकी ओर जाता है जिसके लिए कबीरने कहा—

> पाँव नहीं ठहराय, चढ़ूँ गिर गिर पड़ूँ।
> फिरि फिरि चढ़उँ सम्हारि, चरन आगे धरूँ॥
> अंग अंग थहराइ, तो बहुविधि डरि रहूं।
> करम कपट-मग घेरि, तो भ्रममें परि रहूँ॥
> बारी निपट अनारि, ये तो झानी गैल है।
> अटपट चाल तुम्हार, मिलन कस होइ है॥

और सहसा तब ध्यान जाता है, 'सूली ऊपर सेज पियाकी' और तब प्रेम-मार्गके सँकरेपनकी याद आती है—

> प्रेम-गली अति साँकरी, ता में दो न समाय
> जब मैं था तब गुरु नहीं, जब गुरु मैं तब नाहिं। (कबीर)

प्रेमके मार्गमें द्वैतकी भावना नहीं। प्रिय और प्रेमीमें जबतक पार्थक्य है, प्रेमकी पूर्ण परिणति नहीं। जबतक अहम्‌का भाव वर्तमान है, साधक और साध्यमें तादात्म्य नहीं। 'सूलीपर सेज पिया'में अपनत्व, निजत्वके खोनेकी इसी भावनाका संकेत है। जबतक आत्म-भावनाका

विनाश नहीं तबतक मिलनकी आशा नहीं। चाहे अगम अगोचरका प्रेम हो, या लौकिक प्रेम-भावना हो, जबतक इस निजत्वका विनाश नहीं हो जाता तबतक प्रेमकी पराकाष्ठा नहीं हो सकती। प्रेम त्याग है, इस कथनमें निजत्वके इसी त्यागकी चर्चा है। मीराकी इस बौद्धिकता, इस दार्शनिकताके कारण 'गीति-काव्य'में विकृति आ जाती है किन्तु ऐसा सहज स्वाभाविक आत्माभिव्यञ्जन है कि सहसा इनकी ओर ध्यान नहीं जाता और विचार भावना बनकर उपस्थित होता है।

मीराकी यह पीड़ा कोई बूझता नहीं, कोई जानता नहीं कि—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहीं चैन रात नहिं निदिया, तलफ तलफके भोर किया।
तन मन मोर रहँट-अस डोलै, सून सेजपर जनम छिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझै, साईं बेदरदी सुध न लिया। (कबीर)

'साईं बेदरदी' ने सुध न ली और, 'घायलकी गति घायल जानै की जिन लाई होय।" अथवा—

जनकी पीर राजा राम जानै कहूँ काहिंको मानै।
नैनका दुख बैन जानै बैनका दुख श्रवनाँ।
प्यंड का दुख प्रान जानै प्रान का दुख मरनाँ॥
आस का दुख प्यास जानै प्यास का दुख नीर।
भगति का दुख राम जानै कहै दास कबीर॥

और कोई दूसरा समझता तो नहीं, समझ सकता भी नहीं। 'मेरा दरद न जाने कोय'। यह पीड़ा कहीं चैन नहीं लेने देती। 'दरदकी मारी बन-बन डोलूँ' कोई वैद्य नहीं मिला; कोई ऐसा नहीं मिला जो मनकी पीर पहचाने, 'अन्तर बेदन विरह की, वह पीर न जानी

हो'। 'मीराकी यह पीर मिटेगी, जब बैद साँवलियाँ होय' और जबतक ऐसा होता नहीं 'कहा करूँ मेरो बस नहिं सजनी, नैन झ दोउ नीर' और यह पीर तो मानसिक है अन्तरकी है 'बाहरि घाव क नहिं दीसे, रोम रोम दी पीर'। केवल एक ही अभिलाषा है, आशा है, 'प्रे नदीके तीरा' 'साँवरियाके दरसण पाऊँ, पहर कुसुम्भी सारो'। बस य काम्य है, यही कामना है। लोग तरह तरहकी बातें करते हैं, सर को समझते नहीं, 'कोई कहे मीरा भई बावरी, कोई कहे मतमाती रे' किन्तु मीरा—'मैं तो प्रेम दीवानी, मेरो दरद न जाने कोय'। जि यह पीर दी है, जब वही नहीं समझता, जब वही उपचार नहीं कर यह दर्द जानेगा कौन ? सचमुच 'मीरा' प्रेमकी दीवानी है, उसका जानेगा कौन ?

अनुभूतिके आवेश, विचार और अनुभूतिका सन्तुलन, भाषा अ भावका एकीकारण, शब्द और संगीतका समन्वय मीराकी विशेषत हैं। आकुलताकी तीव्र धाराका निर्बन्ध उन्मुक्त प्रवाह है। मीर प्रेम मन्द-गतिसे बहनेवाली शरत-कालीन धारा नहीं है। किन्तु उ बरसाती नदीका क्षणिक प्रवाह भी नहीं। तीव्रता क्षणिक आवेश न अन्तरकी व्यथा केवल अनुभवका विषय है। मीरा उद्वेलित उद्वेगमें वासनाका आग्रह नहीं। सूरकी तरह अपनी पीड़ा व्यक्त कर के लिए गोपियोंकी ओट नहीं लेना पड़ती; मीरामें सहज स्वाभा स्वानुभूति और आत्मानुभूतिके साथ आत्माभिव्यक्ति और रसानुभूति मीराके लिए 'सोफो'के निमित्त कहे गये निम्नलिखित शब्द पूर्ण उपयुक्त हैं—

Love's priestess, mad with pain and joy of so
Song's priestess, mad with joy and pain of lo

"प्रेम-पुजारिन गीत की वेदना और आनन्दमें मग्न थी'
गीतकी पुजारिन, प्रेम की वेदना और आनन्द में मग्न थी।"

मीराकी वेदना ही गीत बनकर उमड़ पड़ी है, गीतमें वेदना ही फूट पड़ी है। सूर जैसी वाग्विदग्धता भी मीरामें नहीं, कबीर जैसा दार्शनिकताका आग्रह भी नहीं, विद्यापति जैसी ऐन्द्रियता भी नहीं, तुलसी जैसा पाण्डित्य भी नहीं, सहज सुकुमार भावना ही गीतोंमें साकार हो उठी है।

स्वजनि रोता है मेरा गान—
प्रियतक नहीं पहुँच पाती है कोई उसकी तान।
मिलता नहीं समीर पर इस जीका जंजाल,
: पड़ते हैं शून्यमें बिखर सभी स्वर ताल।
विफल आलाप-विलाप समान,
स्वजनि रोता है मेरा गान।
तड़नेको है तड़पता मेरा भावानन्द,
व्यर्थ उसे पुचकार कर फुसलाते हैं छन्द।
दिलाकर पद-गौरवका ध्यान,
स्वजनि रोता है मेरा गान।
अपना पानी भी नहीं रखता अपनी बात,
अपनी ही आँखें उसे ढाल रहीं दिन रात।
जना देते हैं सभी अजान,
स्वजनि रोता है मेरा गान।

दुख भी कहीं न मुझसे विमुख हो करे न कहीं प्रयाण
आज उन्हींमें तो तनिक अटके हैं ये प्राण।
विरहमें आ जा तू ही मान,
स्वलनि रोता है मेरा गान।

—मैथिलीशरण गुप्त

उर्मिलाके आंसुओंका मोल आँका नहीं जा सकता। लक्ष्मणका वनगमन किसी नियमकी रक्षाके लिए नहीं बल्कि शील-निर्वाहके लिए है। रामका बनवास पिताकी आज्ञाके कारण है किन्तु लक्ष्मणका निज-कृत बन्धन है किसीका आदेश पालन नहीं। जिस गौरव और महत्ताका संकेत साकेतके लक्ष्मणमें है वह उर्मिलाके लिए और कठिनता उपस्थित करता है। विरहका दुःख स्वाभाविक है, आँसुओंका ढलना प्राकृतिक है किन्तु गौरव-का ध्यान उन्हे बाँधनेका प्रयास कम नहीं करता। एक ओर उर्मिला कहती है :—

किसने मेरी स्मृतिको,
बना दिया है निशीथमें मतवाला
नीलमके प्यालेमें,
बुदबुद देकर उफन रही वह हाला।

उसके स्मृति-पटलपर उन दिनोंकी स्मृति खचित हो उठती है, जब उसके जीवनके पहले प्रभातमें 'तृण तृणको नभ खींच रहा था बूँद-बूँद रस देकर' और 'खींच रही थी दृष्टि सृष्टि यह स्वर्ण रश्मियाँ लेकर' किन्तु—

पाया था सो खोया हमने क्या खोकर क्या पाया?
रहे-न- हममें राम हमारे, मिली न हमको माया।

हे मानसके मोती, ढलक चले तुम कहाँ बिना कुछ जाने?
प्रिय हैं दूर गहनमें, पथमें है कौन तुम्हें पहचाने ?

कोई पहचाननेवाला नहीं, कोई तुम्हें जानता नहीं, पहचानता नहीं, तुम्हारी पहुँच प्रियतक हो नहीं सकती, वे केवल बहुत दूर ही नहीं बल्कि गहनतम वनमें हैं जहाँ प्रवेश सहज नहीं, आसान नहीं। इतना ही नहीं, वह इन आँसुओंको धूलमें नहीं जाने देना चाहती, बल्कि दुकूलमें बटोर रखना चाहती है। आँसुओं और फूलोंमें एक ही भावना की अभिव्यक्ति उसे मिलती है। फिर भी उसे गौरवका ध्यान कम नहीं है। वह जानती है उसका प्रिय महत् उद्देश्यकी पूर्तिके लिए गया है। रामका उच्च आदर्श भले मत हो, बुद्ध-जैसी लोक-कल्याणकी भावना भले मत हो किन्तु स्नेह और शीलकी रक्षाके लिए त्याग अपनेमें कम महत्वपूर्ण नहीं। वह जानती है,

जीवन केवल हास-विलास, रंग-राग नहीं, जीवनका लक्ष्य उत्सर्ग है—

जाये नहीं लाल लतिकाने झड़नेके लिए,
गौरवके संग चढ़नेके लिए जाये हैं।

यह उत्सर्ग, यह त्याग ही जीवनकी श्रेष्ठ कामना है अभिलाषा है। जीवनके इस त्यागमय सत्यसे वह अनभिज्ञ नहीं; और उसके प्रिय इसकी पूर्तिमें गये हैं, इसका भी कम ध्यान नहीं, किन्तु अपनी आँखोंको वह क्या करे! मनको किसी भाँति मना तो लिया मगर 'ये दोउ नयना झिगरि पड़ें, अतः 'निसिदिन बरसत नैन हमारे' वह जीवनमें 'प्रेमकी जय' दिखानेके लिए 'छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वनमें, लेकिन लक्ष्मणके व्रतका उसे ध्यान है, वह नहीं चाहती कि उसका प्रिय व्रत-च्युत्य हो लक्ष्य-भ्रष्ट हो, और वह 'प्रियके व्रतमें विघ्न' डाल सके अतः चाहती है—'रहूँ निकट भी दूर।'

मनकी यह द्विधा, यह संघर्ष ही उसकी भावनाका रहस्य है। एक ओर—

अवधि'शिला का था उसपर गुरु भार,
तिल तिल काट रही थी दृग जल धार।

और दूसरी ओर—

कठिन साधना किन्तु तत्व की,
प्रथम चाहिए सिद्धि सत्व की।

उसका 'यही रुदन ही मेरा गान' बनकर फूट पड़ता है और 'रोता है मेरा गान' आँसुओंकी तीव्रताके लिए जिस गम्भीरतम अनुभूतिकी आवश्यकता है वह उर्मिलाके लिए सम्भव नहीं, कारण लक्ष्मणके गौरवका ध्यान और अपनी तुच्छताका ज्ञान इस अनुभूतिको तीव्र और गम्भीर नहीं होने देते, वह पागल होना चाहती है। किन्तु—

न वियोग है न यह योग सखी,
कह कौन भाग्य-मय भोग सखी।

मनका यही द्वंद्व, गुप्तजीके गीतियोंको गम्भीर होने नहीं देता। उर्मिलाके आँसू बहते हैं किन्तु सूरके गोपियोंकी जल-धाराकी भाँति अनवरत और निर्बन्ध नहीं, बल्कि रुक-रुक कर निकलती है जिसमें उच्छ्वास है, ताप है, विरहकी कसक और पीड़ा है किन्तु वह तीव्र आवेगमय, उन्मुक्त प्रवाह नहीं है। उर्मिलाका यह रुदन महाकाव्यका विषय है, यह गुप्तजीकी स्वतंत्र गीति-रचना नहीं अतः व्यक्तित्वके एकत्वकी ओर ध्यान देनेपर चरित्रकी प्रधानता नष्ट हो जाती। आँसुओंके साथ आदर्शके प्रति उन्मेष रखनेका इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा फल नहीं हो सकता। महाकाव्यमें भी कवि आत्माभिव्यञ्जन करता है यद्यपि उसको गीतिकार जैसी सुविधा और स्वतंत्रता नहीं। मेरे विचारमें गुप्तजीकी आस्तिकता और वैयक्तिक अनुभूतिके संघर्षका चित्र यहाँ है। हृदयकी पीड़ा आँखोंमें उमड़नेको होती है, कुछ अंशोंमें उमड़ती भी है, किन्तु सहसा यह ध्यान हो आता है। सुख-दुःख उसके वरदान हैं क्यों? 'सुखमें आनन्द मनाऊँ' 'दुःखमें क्यों आँसू बहाऊँ' और आँखोंसे उमड़नेवाले आँसुओंकी धारा मन्द पड़ जाती है। व्यक्तित्वका यही विरोध उर्मिलाके इस मानसिक द्वन्द्वमें है। फिर भी पहले क्षणोंमें जीवनकी निस्सारता यह विफलता विकल तो करती है, और 'स्वजनि रोता है मेरा गान' यदि प्रियतक यह स्वर पहुँच पाता, यदि इस मनोव्यथाका पता लग जाता, यदि यह रोदनका गान प्रियके कानोंमें पड़ जाता फिर इतनी विकलता नहीं रहती, कमसे-कम इतना ख्याल नहीं रहता कि उसे पीड़ाका, व्यथाका ध्यान नहीं बल्कि प्रिय यह जान पाता कि वियोगिनी उर्मिलाके भाव क्या हैं? वह राजभवन

में रहकर भी कम दुःखिनी नहीं, सीताने रामका साथ देकर जिस आदर्शकी स्थापना की है, उर्मिला भी उसमें पीछे नहीं पड़ती और लक्ष्मणका साथ देती है। किन्तु लक्ष्मण जिस आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिए गये हैं, उसमें उर्मिलाके कारण बाधा उपस्थित होती, लक्ष्मण शायद व्रतकी रक्षा नहीं कर पाते अतः वह साथ नहीं गयी; किन्तु उसने प्रियसे ऐसा कहा भी तो नहीं, कह भी तो नहीं सकी। सीताका आदर्श सामने देखकर शायद लक्ष्मणको उर्मिलाके प्रति वह आस्था वह विश्वास न रहे—ऐसे उर्मिलाके विचार हैं और उर्मिला यहाँ अकेली रोती है, गाती है, उसके मनमें पीड़ा है, व्यथा है, उद्वेग है, विह्वलता है; किन्तु हृदयके इस आवेगसे प्रिय तो अपरिचित ही रह गये। उन्हें यह भी पता नहीं कि उर्मिलाके आँसू किस प्रकार छलछला रहे हैं! हाय री विकलता, इस विषादपूर्ण गीतकी तान प्रियतक पहुँच पाती; इसके सभी स्वर-ताल शून्यमें बिखर जाते हैं। कहीं आकाशमें फैल जाते तो उनकी ध्वनि इसी आकाशके तले कहीं बसे प्रियके कानोंमें प्रवेश कर ही जाते; लेकिन नहीं, शून्यमें बिखर जाते हैं जहाँ कोई नहीं, जहाँ कोई सुननेवाला नहीं, कोई ऐसा नहीं जो प्रियको इनका सन्देश देता। चपल-गति समीर भी हृदयकी यह तपन समझता नहीं, उसमें भी इसके कम्पन उत्पन्न नहीं होते जो प्रियके कानोंमें यह तान जा पहुँचे। प्रियके वियोगके कारण गाना ही रोना बन गया किन्तु इसका कम दुःख नहीं कि यह रुदन प्रियतक पहुँच नहीं पाता। यह अधीरताका कम कारण नहीं, काश यह प्रियके कानोंतक पहुँच पाता। फिर इतनी व्यथा नहीं रहती; आखिर इस आलाप-विलाप-प्रलापका कुछ मूल्य तो हो जाता। 'स्वर-तालके' शून्यमें झड़ पड़नेके कारण उस वन-फूलकी ओर ध्यान चला जाता है. जिसकी मदिर अन्ध-गन्ध जगको मतवाली नहीं करती, जो प्रेयसीके अलकोंका शृंगार नहीं बनता, रसिकोंके

गले नहीं लगता, एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर जो अनन्त शून्यमें बिखर जाता है। उर्मिलाके गीत भी इसी प्रकार व्यर्थ फैल जाते हैं जहाँ इनकी परिणति थी वहाँ इनकी पहुँच नहीं। उक्ति-वैचित्र्य और लाक्षणिक प्रयोग यहाँपर है किन्तु भावोन्मादका सहज प्रवाह नहीं—

उड़ने को है तड़पता मेरा भावानन्द,
व्यर्थ उसे पुचकार कर फुसलाते हैं छन्द।
दिलाकर पद-गौरव का ध्यान,
स्वजनि, रोता है मेरा गान।

उर्मिलाके भाव उड़नेको तैयार हैं उसके भाव प्रियतक पहुँचना चाहते हैं, लेकिन छन्द उन भावोंके लिए बन्धन बन जाते हैं। भाव पंख पसार कर उड़ नहीं पाते। सूरदासकी गोपियोंकी आँखें इस प्रकार नहीं उड़ पातीं पर यहाँ तो भावानन्द ही उड़ना चाहता है, अभिव्यक्ति इतनी अपूर्ण रह जाती है कि भाव अभिव्यक्त हो नहीं पाते। पद-गौरवका ध्यान दिलाकर छन्द फुसलानेकी चेष्टा करते हैं किन्तु यह प्रयत्न व्यर्थ-सा जाता है। भाव छन्दोंकी फुसलाहटमें नहीं आते और उन्मुक्त विहंग-से पिंजड़ेमें फँसते नहीं। इस पद-गौरवमें केवल छान्दस 'पद'का ही ध्यान नहीं बल्कि उर्मिलाकी उस हार्दिक वृत्तिकी भी अभिव्यञ्जना है जिसके कारण वह खुलकर रो नहीं पाती। उसके आँसुओंमें तीव्रता आ नहीं सकती। भाव और छन्दकी इस भूमिकामें पन्त और निरालाके छन्द-स्वातंत्र्यकी व्याख्या-सी है। अभिव्यक्ति और अभिव्यक्त तथा भाव एवं शैलीका सम्बन्ध साधारण नहीं। विषम वस्तुको उसकी अभिव्यञ्जनासे विछिन्न कर देखनेका प्रयास अनेक अंशोंमें शव-परीक्षा मात्र हैं। भाव और छन्दके विरोधद्वारा स्पष्ट प्रदर्शित हो जाता है कि भावानन्द भले हो, भावोन्माद नहीं है जो गीति-काव्यका

शिलाधार है। यहाँ गम्भीरतम अनुभूतिका नैसर्गिक स्वच्छन्द प्रवाह नहीं वल्कि विचार और बौद्धिकताके कारण कलाकारी है, कलात्मकता कम। मालूम पड़ता है कवि भाव, छन्द, पद इनकी व्याख्या कर रहा है। मानसिक संघर्षकी तीव्रता, भावोन्माद एवं अनुभूतिके गम्भीर क्षणोंमें ऐसी व्याख्या, यह लाक्षणिक प्रयोग, यह श्लेषात्मक आग्रह नहीं हो सकता।

अपना पानी भी नहीं रखता अपनी बात,
अपनी ही आँखें उसे ढाल रहीं दिन रात।
जना देते हैं सभी अजान।

उर्मिला चाहती है आँसू आँखोंमें ही बन्द रह जायँ क्योंकि वे बाहर आकर हृदयका सारा रहस्य प्रकट कर देते हैं, भेद बुझा देते हैं।

रहिमन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रकट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ॥

लेकिन यहाँ घरसे निकलनेकी बात नहीं। वह तो आँखोंके बाहर इन्हें निकालना नहीं चाहती। हाय री विवशता! अपनी आँखोंपर, आँखोंके पानीपर भी वश नहीं रह गया और यह पानी ढलता ही जा रहा है, रोके रुकता नहीं। वह नहीं चाहती कि 'मनका भरम खो जाय'—

अरे एक मन, रोक थाम तुझे मैंने लिया,
दो नयनोंने, शोक, भरम खो दिया, रो दिया।

अकेले दिलकी बात तो न्यारी थी, मन एक था कोई दस बीस तो था नहीं अतःकिसी प्रकार उसकी रोक थाम हो गयी किन्तु उधर एक मनको रोका तो दो आँखें रो पड़ीं। एकको तो रोकना आसान था,

दूसरे मनकी रोक-थाममें उर्मिला उलझ गयी तो दो नयन बह चले। आखिर इस बेबसीको क्या करे कोई!

उर्मिला अपने आँसुओंकी रोक-थाम क्यों चाहती है? क्या केवल इसलिए कि प्रियतक रोदनकी तान पहुँच नहीं पाती? क्या वह आशा करती है कि उसकी व्यथाकी तान उनतक यदि पहुँच पाती तो क्या वे रुक नहीं पाते, रुक नहीं सकते? और नहीं तो उसने जाना ही कैसे कि उसके गान प्रियतक नहीं पहुँच पाते? लेकिन, इतना ही नहीं, हो जाता है 'पद-गौरवका ज्ञान', इस पदका नहीं कि वह राजकुलकी है, बल्कि उस पद-गौरवकी याद जग पड़ती है जो लक्ष्मणके उच्च आदर्श-पालन, सहज त्याग एवं अनिर्वचनीय स्नेहके कारण मिला है, उसके साथ ही वह कर्त्तव्य-बुद्धि भी है, जो उसके कारण आँखोंके जाग्रत विषादमें उसमें जगती है। भला इस द्वन्द्वमें पड़े मनको वह स्वच्छन्दता कहाँ, जो खुलकर एक बार रो ले। वह रोती है अवश्य किन्तु सहसा पद-गौरवका ध्यान उसके आँसुओंकी झड़ी बन्द कर देते हैं ठीक वैसे ही जैसे अक्षम कविके छन्द उसके भावोंका पर कुतर देते हैं। यदि अपना वश चलता, वह इन आँसुओंको निकलने नहीं देती, कारण उनके द्वारा मनका सन्ताप, हृदयकी व्यथाका रहस्य प्रकट हो जाता है। किन्तु भाषा यहाँ कविका साथ नहीं दे रही है। शैलीकी सफलता केवल शब्दोंके प्रयोगमें नहीं बल्कि भावनाको उपयुक्त अभिव्यक्ति देनेमें है। जितनी विवशता, जितनी लाचारी इन भावनाओंमें है, उनकी संगीतात्मक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। वह करुणा, वह बेबसी संगीत होकर नहीं फूटती जो व्यथाको ध्वनिमय साकारता मिलती। 'जना देते हैं' में 'कस न भेद कहि देउ' जैसी आकुलता नहीं और फिर कौन? आँखोंका पानी ही तो फिर 'जना देते हैं' क्यों? 'अपनी ही आँखें उसे ढाल रही दिनरात'में आँसुओंके

इस गीतिमें भावावेशका स्वच्छन्द, निर्बंध, उन्मुक्त प्रवाह नहीं, जिनकी गीति-काव्यके लिए अपेक्षा होती है। कल्पना और सौन्दर्य-बोधसे जाग्रत और उद्दीप्त संगीतात्मकतासे अधिक उक्ति-चित्रोपमताका आग्रह है। भावावेशके अभावका कारण उर्मिलाका द्विधामय व्यक्तित्व एवं गुप्तजीका दृष्टिकोण है। संगीत यहाँ है, लेकिन शब्दोंके अन्तरालसे फूट पड़नेवाली संगीतात्मकता नहीं। ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि संगीत शब्दोंकी आत्मामें घुल गया है। गुप्तजीकी प्रतिभा गीति-काव्यात्मक नहीं प्रबन्धात्मक है। प्रबन्धमें इन गीतोंका समावेश नवीन प्रकारका ही प्रयोग है। कथाके आग्रहके कारण व्यक्तिमें प्रबन्धात्मकताका जो आरोप है, वह व्यक्तित्वके विकासका विरोधी न होकर भी वैयक्तिकताकी प्रबल अभिव्यक्तिका विरोधी अवश्य है। ऐसा नहीं कि व्यक्तिगत सुख-दुःखके गीतोंका प्रभाव उन चरित्रोंपर नहीं होता बल्कि उस सुख-दुःखकी समुचित अभिव्यक्तिका अवसर न होनेके कारण ही स्वानुभूति रसानुभूतिकी सीमातक नहीं पहुँच पाती। अनेक लोगोंने—महात्मा गाँधीतकने—साकेतमें उमड़े आँसुओंका विरोध किया है किन्तु मैं कहना चाहता हूँ कि साकेतमें—विशेषकर उर्मिलाके गीतोंमें—शुद्ध आँसुओंका इतना अभाव क्यों है!

तुम कनक किरणके अन्तरालमें
लुक छिपकर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवनके घन रस कन ढरते।

राधा, किशोरी हैं, चंचल है, प्रेमका उल्लास है किन्तु गाम्भीर्य नहीं, वह आनन्द विह्वल है, मुग्धा है। ईषत् लज्जाका भाव भी अधिक देरतक टिकता नहीं। कोई संकोच नहीं, कोई द्विधा नहीं।

आध आचर खसि आध वदन हाँसि आधहि नयन तरग।
आध उरज हेरि आध आँचर भरि तव धरि दगधे अनंग।
दसन मुकता पानि अधर मिलायत मृदु-मृदु कहतहि भाषा।
विद्यापति कह अनएसे दुख रह हेरि-हेरि ना पुरल आशा।

इस सौदर्य चित्रमें मनोरमता है, आग्रह है, किन्तु सौन्दर्य स्थूल रखाओंमें घिरा है। चित्रोंमें रंग अस्पष्ट है। प्रसादके चित्रमें स्थूलता नहीं, सौन्दर्य प्रगल्भ नहीं। सौन्दर्यिक चेतनाकी लहर दौड़ रही है।

तुम कनक किरनके अन्तरालमें
लुक छिपकर चलते हो क्यों ?

लाज-भरे सौन्दर्यको इस प्रकार सिमटकर प्रकट होनेकी आवश्यकता थी। उसे राधाकी भाँति यौवनके ईषत् उद्भेदहीमें—

छने-छने दसन छटा छट हास
छने-छने अधर आगे करु वास।

होना चाहिये था। लेकिन यह सौन्दर्य लुक छिपकर चलता है। यह सौदर्य साधारण नहीं। कनक किरणोके अन्तरालमें छिपनेवाले सौन्दर्य-में वही सौन्दर्य, वही मनोरमता, वही रंग-विलास आवश्यक है। छिपना तभी सम्भव है जब दोनोंका रंग-रूप एक हो। यह बिहारीकी नायिका भी नहीं जिसकी सूचना भ्रमरावली देती हो। कनक किरणोंके अवगुण्ठनमें सिमटे सौन्दर्यमें यौवनका उभार है। यौवन अपना रस-घट उडेल रहा

राधा, किशोरी हैं, चंचल है, प्रेमका उल्लास है किन्तु गाम्भीर्य नहीं, वह आनन्द विह्वल है, मुग्धा है। ईषत् लज्जाका भाव भी अधिक देरतक टिकता नहीं। कोई संकोच नहीं, कोई द्विधा नहीं।

आध आचर खसि आध वदन हाँसि आधहि नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आँचर भरि तब धरि दगधे अनंग।
दसन मुकता पाति अधर मिलायत मृदु-मृदु कहतहि भाषा॥
विद्यापति कह अनएसे दुख रह हेरि-हेरि ना पुरल आशा॥

इस सौंदर्य चित्रमें मनोरमता है, आग्रह है, किन्तु सौन्दर्य स्थूल रेखाओंमें घिरा है। चित्रोंमें रंग अस्पष्ट है। प्रसादके चित्रमें स्थूलता नहीं, सौन्दर्य प्रगल्भ नहीं। सौन्दर्यिक चेतनाकी लहर दौड़ रही है।

तुम कनक किरनके अन्तरालमें
लुक छिपकर चलते हो क्यों ?

लाभ-भरे सौन्दर्यको इस प्रकार सिमटकर प्रकट होनेकी आवश्यकता था। उसे राधाकी भाँति यौवनके ईषत् उद्भेदहीमें—

छने-छने दसन छटा छट हास
छने-छने अधर आगे करु वास।

होना चाहिये था। लेकिन यह सौन्दर्य लुक छिपकर चलता है। यह सौंदर्य साधारण नहीं। कनक किरणोंके अन्तरालमें छिपनेवाले सौन्दर्य-में वही सौन्दर्य, वही मनोरमता, वही रंग-विलास आवश्यक है। छिपना तभी सम्भव है जब दोनोंका रंग-रूप एक हो। यह बिहारीकी नायिका भी नहीं जिसकी सूचना भ्रमरावली देती हो। कनक किरणोंके अवगुण्ठनमें सिमटे सौन्दर्यमें यौवनका उभार है। यौवन अपना रस-घट उडेल रहा

राधा, किशोरी हैं, चंचल है, प्रेमका उल्लास है किन्तु गाम्भीर्य नहीं, वह आनन्द विह्वल है, मुग्धा है। ईषत् लज्जाका भाव भी अधिक देरतक टिकता नहीं। कोई संकोच नहीं, कोई द्विधा नहीं।

आध आचर खसि आध वदन हाँसि आधहि नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आँचर भरि तव धरि दगधे अनंग।
दसन मुकता पानि अधर मिलायत मृदु-मृदु कहतहि भाषा॥
विद्यापति कह अनएसे दुख रह हेरि-हेरि ना पुरल आशा॥

इस सौंदर्य चित्रमें मनोरमता है, आग्रह है, किन्तु सौन्दर्य स्थूल रखाओंमें घिरा है। चित्रोंमें रंग अस्पष्ट है। प्रसादके चित्रमें स्थूलता नहीं, सौन्दर्य प्रगल्भ नहीं। सौन्दर्यिक चेतनाकी लहर दौड़ रही है।

तुम कनक किरनके अन्तरालमें
लुक छिपकर चलते हो क्यों ?

लाभ-भरे सौन्दर्यको इस प्रकार सिमटकर प्रकट होनेकी आवश्यकता था। उसे राधाकी भाँति यौवनके ईषत् उद्भेदहीमें—

छने-छने दसन छटा छट हास
छने-छने अधर आगे करु वास।

होना चाहिये था। लेकिन यह सौन्दर्य लुक छिपकर चलता है। यह सौंदर्य साधारण नहीं। कनक किरणोंके अन्तरालमें छिपनेवाले सौन्दर्य-में वही सौन्दर्य, वही मनोरमता, वही रंग-विलास आवश्यक है। छिपना तभी सम्भव है जब दोनोंका रंग-रूप एक हो। यह विहारीकी नायिका भी नहीं जिसकी सूचना भ्रमरावली देती हो। कनक किरणोंके अवगुण्ठनमें सिमटे सौन्दर्यमें यौवनका उभार है। यौवन अपना रस-घट उडेल रहा

है। रसके कण विकीर्ण हो रहे हैं। उमड़ते यनसे मान रस अंग-अंगमें प्रदीप्त हो उठा है। यहाँ शैशव और यौवनका मेल नहीं। शिशुता छूट-चुकी है। यौवनकी आशा है, जिसमें अंग अंग दीपित है। फिर यह लज्जा कैसी? यह सलज्ज सम्भार कैसा? यह सौन्दर्य अंगोंसे ही नहीं फूटना वल्कि वचन और क्रियासे भी प्रगल्भ हो उठता किन्तु, सौन्दर्य लाज भरा है, मूक है, मुखर नहीं। विद्यापतिकी राधाने यौवन मान नहीं किया और तब इतनी निस्संकोच है। जयदेवकी राधा युवती है अतः उसकी प्रगल्भता स्वाभाविक है—

> स्फुरितमनङ्ग तरङ्गवशादिव सूचित हरि परिरम्भम्।
> पृच्छ मनोहरहार विमल जलधारममुं कुच कुम्भम्॥

किन्तु प्रसादकी वालाका यह भाव विलक्षण है। जहाँ उमड़ते सौन्दर्यमें संकोच, भय और आशंकाका त्याग उचित था, जहाँ उसे मुखर बन यौवनकी लहरोंकी सूचना देनी थी, जहाँ रसानुभूतिकी मग्नता स्वीकार करनी चाहिये थी, वहाँ यह यौवन-भरा सौन्दर्य मौन है। प्रसादके इस-चित्रमें नारी-सुलभ लज्जाका मिश्रण है। इस चित्रमें पन्तकी वाल-सुलभ चंचलता नहीं; शैशवका निश्छल हास नहीं, महादेवीकी करुणविषादमयी रूप-मूर्ति नहीं। यौवनका साकार चित्र है किन्तु सलज्ज लज्जा भारावनत मौन मधुर और तरल अङ्गोंसे शोभा फूट रही है, छटा छलछला रही है। किन्तु अपने सौन्दर्यमें लीन यह 'चली भरि उतराई' भी नहीं। प्रसादका यह चित्र रवि बाबूका 'उर्वशी'का भी चित्र नहीं।

> वृन्तहीन पुष्प सम अपनाते अपनी विकशि।
> कबे तुमी फुटिले उर्वशि।
> आदिम बसन्त प्राते, उठे छिले मन्थित सागरे।

डान हाते सुधा पात्र, विष भाण्ड लिए वाम करे,
तरंगित महा सिन्धु मंत्र शान्त भुजंगेर मत ।
पड़े छिलो पद प्रान्ते, उच्छ्वसित फणा लक्ष शत
करि अवनत ।
कुन्द शुभ्रनग्नकान्ति सुरेन्द्र वन्दिता,
तुमी अनिन्दिता ।
कोनो काले छिले नाकि मुकुलिका वालिका वयसी
हे अनन्त यौवना उर्वसि
आँधार पाथार तले कार घरे वसिया एकेला
मणिक मुकुता लये करे छिले शैशवेर खेला
मणि दीप दीप्त कक्षे समुद्रेर कल्लोल संगीते
अकलंक हास्य मुखे प्रवाल पालके घुमाइते
कार अङ्कटी ते ?
जखन जागिले, यौवने गठिता
पूर्ण प्रस्फुटिता ।

[विना वृन्तके फूलकी भाँति, अपने ही अपनेको विकसित करके, ऐ उर्वशि, तू कब खिली ? आदिम वसन्तके प्रभात कालमें मन्थित सागरसे दाहने हाथमें सुधापात्र और बायें हाथमें विषभाण्ड लेकर तू निकली थी। तरङ्गित महासिन्धु मन्त्रमुग्ध भुजङ्गकी भाँति अपने लाखों उच्छ्वसित फनोंको झुकाकर तेरे पदतलमें पड़ा हुआ था। कुन्दके समान तेरी शुभ्र कान्ति इन्द्रद्वारा सम्मानित है, तू अनिन्दिता है, भला कौन तेरी निन्दा करे ?

हे उर्वशि, तेरा यौवन अनन्त है, फिर क्या कलीकी तरह तू बालिका थी अथवा नहीं ? अतलके अन्धकारमें तू किसके यहाँ अकेली बैठी

हुई मणियों और मुक्ताओंको लेकर अपने शैशवका खेल करती थीं।
मणियोंके दीपोंसे प्रदीप्त भवनमें समुद्रका कल्लोल-संगीत सुनकर निष्कलङ्क
मुखसे हँसती हुई प्रवालोंके पलङ्गपर तू किसकी गोदमें सोती थी? इस
विश्वमें जब आँखें खुलीं, तेरा यौवन गठित हो चुका था। बिल्कुल तू
खिल चुकी थी।]

उर्वशीके इस चित्रमें उन्मद यौवनका हास-विलास है। लज्जा नहीं,
संकोच नहीं, कोई द्विधा नहीं, अनन्त रूपवती है उर्वशी, वह इन्द्र-लोक-
की रानी है, वह उस लोककी प्रेयसी है, उसके कटाक्षसे तीनों लोक
चंचल हो उठते हैं। नशीली सुगन्ध अन्ध वायु ढोती है। मधुमत्त
भौंरोंकी भाँति कवि लुब्ध-चित्त संगीतकी वर्षा करते हैं। उसके छन्द
छन्दपर सिन्धु तरङ्गित हो उठता है, धराका वक्षस्थल काँप उठता है।
वह स्वप्नलोक विहारिणी है। इस सौन्दर्य चित्रमें तीव्रता है, आवेश है,
उच्छ्वसित तरङ्ग, उद्दाम वेग है। प्रसादका चित्र संयमित है, लज्जाके भारसे
झुका हुआ। वासनाएँ उद्दाम नहीं, तरङ्गाकुल भावनोदधि नहीं, मूक,
सरल और निश्छल सौन्दर्य है। उर्वशीका 'वारांगणा सौन्दर्य' है। वह
अनन्त यौवना है। सुवासिनी प्रेयसी है, प्रियतमा है, प्रेमिका है। वह
'कीट्स'की नायिकाकी भाँति भी नहीं—

Light feet, dark violet eyes, and parted hair,
Soft dimpled hands, white neck and creamy breast.

प्रसादके इस सौन्दर्य-चित्रमें तरल हास भी नहीं, हँसी अधरोंपर
छला-छला नहीं पड़ती। कगारोंके सीमा-बन्धमें पड़ी, कल-कल ध्वनिकी
गुञ्जारसे मुखरित मधु-सरिता-सी हँसी वह सौन्दर्य पीता रहता है। हँसी
अधरोंके कगारोंका अतिक्रमण नहीं कर पाती; अधरोंपर रेखा-सी खिल
कर रह जाती है। मधु सरिताकी कल-कल ध्वनि फैल नहीं पाती, वह

सौन्दर्य नित्य उसे पीता रहता है। वह हँसी कभी मुखरित भी नहीं होती, कभी मरती भी नहीं। प्रसादके इस सौन्दर्य चित्रमें विद्यापतिकी राधा वाली 'आधी हँसी' भी नहीं, मुस्कानकी क्षीण रेखा मात्र है, संकोच-हीन उल्लासमय पूर्ण हास्य नहीं। इसमें नशीले यौवनके क्षणोंका भी चित्र नहीं—

पलकें मदिर भारसे थीं झुकी पड़तीं।
नन्दनकी शतशत दिव्य कुसुम कुंतला
अप्सराएँ मानो वे सुगन्धकी पुतलियाँ
आ आ कर चूम रहीं अरुण अधर मेरा
जिसमें स्वयं मुसकान खिली पड़ती।

× × ×

कितनी मादकता थी?
लेने लगी झपकी मैं
सुख रजनीकी विश्रम्भ कथा सुनती,
जिसमें थी आशा
अभिलाषासे भरी थी जो
कामनाके कमनीय, मृदुल प्रमोदमें
जीवन-सुराकी वह पहली प्यालीकी।

—प्रसाद

इस चित्र जैसी मादकता भी नहीं और न रूप-गर्व ही है। उद्दाम सौन्दर्यका स्वच्छन्द वर्णन है, जिसमें गति है, प्रवाह है, रमणीयता है। लाज-भरे सौन्दर्यके चित्रमें मन्थर, शान्त प्रवाह है, रमणीयता-पूर्ण सौन्दर्यका आग्रह है। यौवनकी कली खिल रही है। शैशव-यौवनके संगमकी सन्ध्या बीत चुकी। कामनाओंकी कली खिलनेहीवाली है। आशाएँ जगेंगी, उन्माद

निखरेगा। मलयके मदिर अन्ध-गन्धसे आकुल सन्ध्याका दुकूल आशाओं-की कलियोंसे भरेगा। रजनी आ रही है, जिसमें उन्माद है, मिलन है, उद्दाम गति है, प्रेमकी पुलक-भरी तरङ्ग है, अब लज्जाके इस अवगुण्ठनकी अपेक्षा ही क्या? यौवनके इस मधु-हासमें यह अपनेको छिपानेका विभ्रम कैसा? सौन्दर्य, इस सन्ध्याकी अरुणाभ छायामें छिपनेकी अब आवश्यकता नहीं। एक बार मुखरित हो दिशाओंको चाँदनीके हाससे परिपूर्ण कर दो, जीवनमें सौन्दर्य, सुषमा और ज्योत्स्नाका प्रसार हो।

इस चित्रमें सजीवता है, होठपर मन्द मुस्कान है, आँखोंमें यौवनकी बेहोश मदिराकी ईषत् लाली है, यौवन घनसे बरसती कामनाओंकी फुहियाँ, बूँदें हैं, किन्तु मौन, सलज्ज और भारावनत। यह रूप रेखाओंमें बाँधता नहीं, सीमामें रहता नहीं। चित्र और संगीतका समन्वय है। शब्दोंमें तरल, मन्थर प्रवाह है, संयम है, उद्दाम वेग नहीं। जिस प्रकार सौन्दर्य उद्वेग-रहित निश्चल, निष्कम्प दीपककी लौ है, उसी प्रकार संगीतात्मकता मधुर, मुखर, मन्द है। उल्लासका उन्मत्त नर्त्तन नहीं, वासनाका विकट अट्टहास नहीं। कल्पना अनुभूति और भावनाके साथ मिलकर एकाकार हो जाती है। कौतुक-भरा, मुस्कानकी रेखासे घिरा, सजीव चित्र है। इस चित्रमें सूक्ष्मता है किन्तु अस्पष्टता नहीं। चित्रकारकी कुशल तूलिकाने बारीक रेखाएँ खींची है महादेवीकी अस्पष्टतासे इसकी कोई तुलना नहीं। कल्पनाकी तूलिकासे चित्र खींचते समय महादेवीकी रेखाएँ चित्रपटसे दूर कहीं दूसरे लोकमें पड़ जाती हैं। चित्रपटपर चित्र देखनेका आग्रह रखनेवाले व्यक्तिको इसमें कठनाई हो जाती है। वह महादेवीका कल्पना-सूत्र पकड़ उस विस्तृत चित्रपटकी रेखाओंतक पहुँच पाता नहीं और फलस्वरूप वह महादेवीकी कविताओंमें चित्रात्मकताका अभाव मान बैठता है। प्रसादके इस चित्रकी रेखाएँ किसी

बाहरी चित्रपटपर नहीं पड़ती किन्तु वे सूक्ष्म अवश्य हैं अतः उन्हें देखनेके लिए दृष्टिगड़ानी तो अवश्य पड़ेगी। प्रसादकी अनुभूति पन्तकी भाँति कल्पनात्मक नहीं बल्कि कल्पनाके प्रभावसे उस अनुभूतिमें गम्भीरता और तीव्रता आती है। पन्तमें सौन्दर्यकी छायात्मक कल्पनाका आवेश है—

आज उन्मद मधु-प्रात
गगनके इंदीवरसे नील,
भर रही स्वर्ण मरंद समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल,
सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मधुरालस, प्राण।

शयन-शिथिल उन्मील सरसिजकी निद्रालस पलकोंमें माधुर्य है, मतवालापन है किन्तु वह लज्जाका भार नहीं जो 'मधु-सरित सी यह हँसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों'में है। और इसमें नहीं—

काली आँखोंमें कितनी
यौवनके मदकी लाली
मानिक मदिरासे भर दी
कितने नीलमकी प्याली (प्रसाद)

चिर सलज्ज अवगुण्ठनमयीका यह सौन्दर्य तरल, छायामय और नवीन है।

———

नयनोंके डोरे लाल गुलाल-भरे, खेली होली !
जागी रात सेज प्रिय पति-सँग रति सनेह-रँग घोली,
दीपित दीप-प्रकाश, कञ्ज-छबि मञ्जु-मञ्जु हँस खोली—
मली मुख चुम्बन रोली ।
प्रिय-कर कठिन-उरोज-परस कस कसक मसक गयी चोली
एक-वसन रह गई मन्द हँस अधर-दशन अनबोली—
कली-सी काँटेकी तोली ।
मधु-ऋतु-रात, मधुर अधरोंकी पी मधु सुध-बुध खो ली,
खुले अलक, मुँद गये पलक-दल, श्रम-सुखकी हद हो ली—
बनी रतिकी छबि भोली ।
बीती रात सुखद बातोंमें प्रात पवन प्रिय डोली,
उठी सँभाल बाल, मुख-लट, पट, दीप बुझा हँस बोली—
रही यह एक ठठोली ।

— निराला

सौन्दर्य चेतनाके उन्मेषसे जागरित निरालाके इस रूप गीतमें सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्तिके साथ सौन्दर्यकी कलात्मक सृष्टि है। जब-तक 'वह रूप जगा उरमें' न था तबतक जीवनमें माधुर्यकी सृष्टि नहीं हुई थी ; कारण स्नेहकी बूँदें ही तो जीवनको जीवन देती हैं, अतः उस रूपके जगते ही 'बजी मधुर वीणा किस सुरमें' ? 'किस सुरमें' जो कौतूहल है वह केवल वीणावादकके अजनबीपनके कारण नहीं बल्कि सुरके उस सरस अनजानेपनके कारण है जैसा और कभी जग न पाया था। रवि बाबूके 'जागिलो झङ्कार वीना मधुर स्वरे'में स्वर तो मधुर अतः जाना हुआ है केवल 'झङ्कार वीना'के कारण कौतूहल, उत्सुकता और जिज्ञासा है। 'किस सुर'की जिज्ञासाकी तुष्टिके साथ 'प्यार करती

हूँ अलि' अतः 'इसलिए मुझे भी करते हैं वे प्यार।' सौन्दर्यमें स्नेह-की पुलक और स्पर्शकी कोमलता है।

'नयनोंके डोरे लाल गुलाल-भरे'में जिस मिलनका संकेत है वह क्षणिक आवेश नहीं ; दो क्षणोंका व्यापार नही ; इसमें परकीयत्वकी सम्भावना नहीं वैष्णव साहित्यमें परकीयाकी कल्पनाद्वारा प्राणोंके नवोन्मेष, चञ्चल आवेग और गम्भीर प्रेरणाकी अभिव्यक्ति हुई है किन्तु उनके साथ अन्याय भी कम नहीं, प्रेम ही स्वकीया अथवा परकीयाका मापदण्ड होना चाहिए अतः प्रेमके इस प्रबल और प्रचण्ड आवेशमें परकीयत्वको छाया नहीं हो सकती! परकीयत्वकी कल्पना द्वारा मिलनके क्षणोंकी क्षणिकताका चित्र उपस्थित किया जा रहा है। निरालाकी नायिकाका यह मिलन आधी रातमें छिपकर आनेवाले प्रियका संयोग मात्र नहीं! इस सौन्दर्यपूर्ण शृंगारिक चित्रणमें मानवीय भावना-की प्रतिष्ठा है! नारीका सौन्दर्य मात्र शरीरमें आबद्ध नहीं बल्कि अरूपको वहाँ मूर्तता प्राप्त होती है। 'रूप और नारी' शीर्षक निबन्ध-में निरालाने लिखा है ;—"साहित्यमें इस अरूपकी स्वतन्त्र सत्ताको नारियोंमें स्थिर रूप दिया है। ××××× बाह्य महाशून्य चेतन-स्पर्शसे जगी हुई असंख्यों रूपसी अप्सराओंकी तरह ये साहित्यकी पृथ्वीपर चपल-चरण, नम्र, शिष्ट, भिन्न-भिन्न अनेक प्रकृतिकी श्री शृंगारमयी, रूपके ऊषा-लोकमें अपलक ताकती हुई, लावण्यकी ज्योतिसे पुष्ट-यौवना युवती कुमारिकाएँ हृदय-शून्यके चेतन स्पर्श-से जगकर उठी हुई हैं, जो मूर्त बाह्यरूप राशिहोकी तरह अमर हैं।"

इसी भूमिकामें निरालाके इस शृंगार गीत को देखना चाहिए। 'प्रिय कर कठिन उरोज परस कस कसक मसक गयी चोली' और जय देवके 'धीर समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली, गोपी-पीन पयोधर-

मर्दन-चञ्चल-कर-युगशाली'में रूप-साम्य होते हुए भी सौन्दर्य-भावना-की मूर्तता से आच्छन्न रूप-विधानकी चेतनाके कारण अन्तर है। कुंज-की एकान्तता, यमुना तीर और उन्माद मदनकी कल्पना गीत-गोविन्द-की राधाके परकीयत्वका संकेत करती है। इस शृंगार-भावनामें अबाध वेग है जिसमें 'लोक लाज खोई'की तीव्रता है। जयदेवकी राधा सुकु-मार, किञ्चित् लज्जिता किन्तु प्रगल्भा है और प्रेम-विह्वला है। वह अनुराग उन्मादकारी हो उठा है। राधाके कृष्ण 'गोप कदम्ब नितम्बवती' मुख चुम्बन'... हैं, जिसमें स्नेहकी एकान्तिकता नहीं, शठनायकत्व है। विद्या-पतिकी राधाका रूप उन्माद और प्रेमोल्लास विह्वल है। मिलनके उल्लासमें उन्मत्त राधाकी वाणी फूट पड़ती है:—

> कि कहब रे सखि आनँद ओर
> चिर दिने माधव मन्दिर मोर।

इस मिलनमें कोई द्विधा नहीं किन्तु है अचेतन मानसकी संकोच-भावना जिसका मूल विकास नैतिकताकी भावनाके आधारपर हुआ है। 'प्रातःकाल हो गया। आकाशके सभी तारे अव्यक्त हो गये। कोयलने कूकना शुरू कर दिया। विरहके कारण चीत्कार करनेवाला चक्रवाक मिलनके विभोर क्षणोंमें मूक हो गया। चाँद मलिन हो गया। नगरकी नारी उठकर चली आयीं। कुमुदिनीमें मकरंद ढँक गया। होठोंके पान-का रंग भी म्लान हो चला। अब विलास करनेका समय नहीं रहा। देखो, नंदनन्दन हमको निन्दा कर रहा है:—

> हे हरि! हे हरि! सुनिय स्रवन भरि,
> अब न विलास क बेरा।

गगन नखत छलसे अवेकत भेल,
कोकिल करइछ फेरा।
चकवा भोर सोर कए चुप भेल,
उठिए, मलिन भेल चन्दा।
नगर क धेनु डगर कए संचर,
कुमुदिनी वस मकरन्दा।
मुखकर पान से हो रे मलिन भेल,
अवसर भल नहिं मन्दा।
'विद्यापति' भन एहो न निक थिक,
जग भरि करइछ निन्दा।

'जग भरि करइछ निन्दा' में नैतिक संकोचके साथ रूप और स्वाधीनपतिका होनेका गर्व है। जग निन्दाकी परवाह नहीं करनेवाले प्रियके कारण लोक-लाजकी भावनाके कारण अचेतन मनमें होनेवाले संघर्षका अस्पष्ट चित्र अंकित हो गया। हर्षके साथ अवरोधक (Censor)का बन्धन-विधान भी है।

'जागी रात सेज प्रिय पति-सँग रति सनेह-रँग घोली,
दीपित दीप प्रकाश, कञ्ज छवि मञ्जु-मञ्जु हँस खोली—
मली मुख चुम्बन रोली।'

इसमें संकोचका कोई बन्धन नहीं। 'प्रिय पति-सँग' में स्वकीयत्व-विधान है। जयदेवकी राधाकी भाँति निरालाकी रूप-सुन्दरी 'उन्मद-मदन' उत्पीड़िता प्रगल्भता नहीं और विद्यापतिकी राधाकी तरह संकोच-शीला किशोरवय बालिका ही है। रविबाबूके एक चित्रमें विवश-संकोचका चित्र है यद्यपि दोनों चित्रोंमें अन्तर कम नहीं। विद्यापतिको

राधामें स्वाधीनपतिका होनेके कारण गर्वोन्माद और नायककी विलास-प्रियताके प्रति संकोच-भरी आसक्ति है और रविबाबूकी किशोरीमें संकोच-की सलज्ज और कातर भावना—

'रात बीतनेसे पहले मुझे जगाया क्यों नहीं ? दिन चढ़ आया और मैं लाजके मारे मरी जा रही हूँ। लज्जाके कारण जकड़े पैरोंसे मैं राह कैसे चलूँ ? आलोकके स्पर्शमात्रसे लज्जाके कारण संकुचित हो शेफालिकाएँ झड़ी जा रही हैं। अपनी इस कामिनीकी शिथिल लज्जाको देख किसी तरह प्राण सँभाले हुए हूँ। उषाकी वायुसे बुझ बुझकर बेचारे प्रदीपकी जान बच गयी और रातके चन्द्रमाने गगनके एक कोनेमें छिपकर शरण ली है। पक्षी पुकार-पुकारकर कहते हैं—रात बीत गयी। बगलमें कलसी दबाए बधुएँ पानी भरनेको चली जा रही हैं ; अपनी खुली हुई व्याकुल बिथुरी वेणीको मैं सँभाल रही हूँ। मैं कैसे इस समय स्नान करनेको निकलूँ ?

यामिनी ना जेते जागाले ना केनो
वेला होलो मरि लाजे।
सरमे जड़ित चरणे केमने
चलित्र पथेर माझे।
आलोक परशे मरमे मरिया
देखो तो शेफाली पड़िछे झरिया,
कोनो मने आछे परान धरिया—
कामिनी-शिथिल साजे।
निभिया बाँचिलो निशार प्रदीप
उषार बातास लागी।

रजनीर शशी गगनेर कोने
लुकाय शरण माँगी !
पाखी डाकी बोले—गैलो विभावरी ;
वधू चलै जलै लोइया गागरी,
आमी ए आकुल कवरी आवरी
केमने जाइबो काजे ॥

विद्यापतिकी नागरीको चिन्ता है कि 'जग भरि करइछ निन्दा' और रविबाबूकी सुकुमार बालाको चिन्ता है कि 'आमी ए आकुल कवरी आवरी, केमने जाइबो काजे।' प्रभातके प्रदीपकी भाँति कहीं बुझकर आलोकमें यदि वह छिप पाती अथवा गगनके कोने अस्तमित चाँदकी भाँति कहीं लुक पाती। इस कामिनीमें एक अपना सौकुमार्य और भाव-तन्मयता है, वह विद्यापतिकी राधाकी भाँति प्रगल्भा नहीं, प्रौढ़ा नहीं।

'मधु ऋतु-रात' 'भोली'में कोई द्विधा नहीं, कोई संकोच नहीं, मानसिक दवाव भी नहीं, मनका कुञ्चित आवेश भी नहीं। सहज प्रेमासक्तिकी सरल और स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इसमें विद्यापतिकी राधाकी भाँति प्रगल्भता भी नहीं ; और न रविबाबू सुकुमार बालिकाके 'सरमे जड़ित' चरण ही इसके हैं। स्वस्थ भावनाकी उन्मुक्त और बन्धन-हीन अभिव्यक्ति इसमें है जिसमें व्रजभाषा काव्यकी स्थूल शृंगारिकताका स्पर्श नहीं।

अधखुली कंचुकी उरोज अध आधे खुले,
अधखुले वेप नख रेखनके झलकैं।

कहैं पद्माकर नवीन अधनीवी खुली,
अधखुले छहरि छराके छोर छलकैं।
भोर जग प्यारी अध उरध इतै की ओर,
भावी झिखि झिरकि उचारि अध पलकैं।
आँखें अधखुली, अधखुली खिरकी है खुली,
अधखुले आनन पै अधखुली पलकैं॥

अलस-सौन्दर्यके अस्त-व्यस्त और विपर्यस्त वेश-विन्यासका सफल चित्रण यहाँ हुआ है। 'उठी सँभाल बाल, मुख लट, पट' में न तो यह अलस भावना है और न वेश-विन्यासकी विपर्यस्तता। निरालाकी नायिकामें वह उन्मुक्तता, संकोच-हीन निरावरणता और आशंका-हीन क्रिया है जिसकी अभिव्यक्ति 'प्रेम और मृत्यु' (Love and dream) में हुई है—

Her dress she soon discards
And falls into my arms and laughs and cries
And tells me life was sad until I came.

—Herbert Read

निरालाको इस गीतकी प्रेरणा 'आँखोंके डोरे लाल' से मिलती है और 'आँखें बता रही हैं कि जागे हो रातभर' क्योंकि इन आँखोंमें मदिराका मतवालापन नहीं। 'इति सनेह रंग' में धुली बालाका यह चित्रण उन्मुक्त और पूर्ण है उसमें आशंका नहीं, द्विधा नहीं, संकोच नहीं, बाधा-बन्धन नहीं। यह प्रेरणा भावात्मक नहीं यद्यपि इसके द्वारा भाव जागरित होते हैं। इस प्रेरणाका पूर्ण और अन्वित चित्र कवि अंकित करता है जिसके द्वारा निरालाका तटस्थ और, निस्संग व्यक्तित्व

अभिव्यक्त होता है। 'धरे पदमाकर नगीन अभनीरो मुक्ते, अधखुले लहरि लसके और लटकें' में गति एक अर्द्ध-नग्नताका रूप लेता हुआ दीख पड़ता है और उसका शृंगारिकतापूर्ण व्यक्तित्व झलक रहा है। इस प्रकारके चित्रोंमें विशेष प्रकारकी तन्मयता अवश्य आती है जिसका प्रभाव पाठकपर पड़ता है। निराला इस सौन्दर्य-चित्रको अपनेसे विच्छिन्न करके देखते हैं अतः जयदेवकी भावुकतापूर्ण सरल शृंगारिक रस मग्नता इसमें नहीं। वैयक्तिकता गीतिकाव्यकी आत्माके रूपमें स्वीकृत है। निरालाका तटस्थ व्यक्तित्व इसमें प्रतिफलित है वैयक्तिक रस-भावनाकी परिणति इसमें नहीं। चित्रमत्ता, संगीतात्मकता इकाईपन और अन्विति, आवेग एवं प्रेरणा तथा व्यक्तित्वकी अस्पष्ट आभा इसमें है किन्तु आत्मनिष्ठताकी जागरूक चेतना नहीं। फलतः निरालाके इस सौन्दर्य-गीतमें गीति-काव्यत्वसे अधिक गीतात्मकता है।

रविबाबूमें जहाँ स्त्रैण माधुर्य और कोमलता, एवं विशिष्ट तरलता है, वहाँ निरालामें ओजमय सौकुमार्य एवं लावण्य। 'ललित लवग लता... ..' का संगीत शब्द संगतिके कारण प्रवाहमय है। 'पदमाकर' के कवित्तमें तो छन्द-विधानके कारण प्रवाहकी क्षिप्रता होनी ही चाहिए। निरालाके इस सौन्दर्य-गीतके संगीतकी मन्थर, अलस गति है जो तत्कालीन 'मूड' के उपयुक्त है जिसकी अभिव्यक्ति 'खुले अलक' मुँद गए पलक' में हुई है। 'सरमे जड़ित चरणेके मन, चलित पथेर माझे' के सलज्ज संकोचके कारण आन्तरिक चञ्चलता और क्षुब्धताके दर्शन रविबाबूके गीतात्मक संगीतमें होते हैं किन्तु निरालाके उन्मुक्त विलासमें उस चाञ्चल्यके लिए स्थान नहीं। आत्म-निष्ठताकी स्पष्ट भावनाके अभावमें एक ओर जहाँ भावावेश और तन्मयताके पूर्ण क्षणोंकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकी है, वहाँ दूसरी ओर चित्रमें पूर्णता, स्पष्टता और

अन्विति आयी है। काव्यकी आत्मा संगीतके स्वरोंमें उतर आयी है और संगीतका स्वर काव्यका 'सुर' भर रहा है।

विदा हो गयी साँझ, विनत मुखपर झीना आँचल धर,
मेरे एकाकी आँगनमें मौन मधुर स्मृतियाँ भर।
वह केसरी दुकूल अभी भी फहरा रहा क्षितिजपर,
नव असाढ़के मेघोंसे घिर रहा बराबर अम्बर।
मैं बरामदेमें लेटा शय्यापर पीड़ित अवयव,
मनका साथी बना बादलोंका विषाद है नीरव।
सक्रिय यह सकरुण विषाद, मेघोंसे उमड़-उमड़कर
भावोंके बहु स्वप्न भाव बहु व्यथित कर रहे अन्तर
मुखर विरह दादुर पुकारता उत्कण्ठित भेकीको,
वनभागमें मोर लुभाता मेघ-मुग्ध केकी को।
आलोकित हो उठता सुखसे मेघोंका नभ चंचल,
अन्तरतममें एक मधुर स्मृति जग-जग उठती प्रतिपल
कम्पित करता वज्र धराका घन गभीर गर्जन स्वर।
भूपर ही आ गया उतर शत धाराओंमें अम्बर,
भीनी-भीनी भाप सहज ही साँसोंमें घुल मिलकर।
एक और भी मधुर गन्धसे हृदय दे रही है भर
नव असाढ़की सन्ध्यामें मेघोंके तममें कोमल,
पीड़ित एकाकी शय्यापर, शत भावोंसे विह्वल।

एक मधुरतम स्मृति पलभर विद्युत्-सी जलकर उज्ज्वल
याद दिलाती मुझे हृदयमें रहती जो तुम निश्चल ।
—सुमित्रानन्दन पन्त

कवि रुग्ण शय्यापर पड़ा है, एकाकी विषण्ण और व्यथित । नव असाढ़की सन्ध्यामें मेघोंका कोमल तम फैल रहा है । आषाढ़के बादलोंमें वह गम्भीरता नहीं आयी है जो सारे संसारको तमाच्छादित कर ले । रह रहकर टीस उसके हृदयमें जगती है किसीकी याद जग पड़ती है, ठीक जिस तरह नव वर्षाके उमड़ते मेघोंको देख यक्षका हृदय उद्वेलित हो उठा था—

आषाढ़स्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्ट सानुं
वप्रक्रीडापरिणत गजप्रेक्षणीय ददर्श ॥
तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो -
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥
[अब असाढ़ आते ही उसने चोटीपर बादल देखा'
क्रीड़ामें झुक ढूह ढहाते हाथी-सा उसको लेखा ॥
उसे देख वह उत्कण्ठित हो जैसे-तैसे खड़ा रहा,
जी भर आया बड़ी देरतक दीन सोचमें पड़ा रहा ।
जब सुहावनी घटा देखकर सुखी अनमने हो जाते,
तब आलिङ्गन रसिक कभी क्या रहकर दूर चैन पाते ?]
—केशवप्रसाद मिश्रकृत अनुवाद

असाढ़के नव बादल घिर आये हैं और कवि एकाकी है । उसके हृदयमें कोई निश्चल रूपसे वर्तमान है, उस अन्तर्वासिनीकी याद

आ जाती है। सन्ध्याकी वह शान्त मधुर श्री आँखोंमें घूम जाती है। सन्ध्या विदा ले रही है। उसके विनत मुखपर हलके फैले मेघोंका झीना आवरण है क्षितिजके केसर रंगसे रञ्जित-आकाशका अंचल लहरा रहा है। डूबते सूर्य-की रश्मियाँ बादलोंके साथ घुल मिलकर नये सपने जगा रही है। अम्बर असाढ़के मेघोंसे भर रहा है और कवि रुग्ण हो खाटपर पड़ा है एकाकी और उन्मन। मेघोंके इस छायामय आलोकमें—

> दिनेर आलो निवे एल, सूर्य डोवे डोवे,
> आकाश घिरे मेघ जुटेछे चाँदेर लोभे लोभे।
> आकाश जुड़े मेघेर खेला, कोथाय ना सीमान,
> देशे देशे खेले वेड़ाय केउ करे ना माना।
>
> —रवीन्द्रनाथ ठाकुर

[दिनका प्रकाश बुझ चला, सूर्य डूबने जा रहा है। चाँदके लोभसे मेघ आकाशको घेर जुट आये हैं। ....आकाशमें मेघोंके खेलकी कोई सीमा नहीं। देश-देशान्तरमें उनका खेल होता रहता है। कोई मना नहीं करता।]
इसमें सघनता और गम्भीरता नहीं, केवल मेघोंका झीना-सा आवरण है जिससे छन छनकर सन्ध्याकी श्री बिखर रही है। और 'झीन वसन महँ झलकत काया'सा सौन्दर्य रच रही है। सन्ध्याके इस सौन्दर्यके प्रति कविमें बाल-सुलभ चपलता अथवा जिज्ञासा नहीं। वह अपनी अन्तर्यामिनीको पहचानता है और उसका स्वरूप ही सन्ध्याकी इस विनत-श्रीमें देख रहा है। सन्ध्याके सहज सौन्दर्यकी भाँति उसकी अन्तर्वासिनी विदा ले चुकी थी। जीवनकी कर्म-संकुलमें अन्तर्वासिनी खो-सी रही थी किन्तु न तो वह कार्य-संकुलता है अथवा न आनन्दोद्रेकपूर्ण जीवन और न उसे भूल जानेका आग्रह। आज वह एकाकी है, रुग्ण है। वह [illegible] चाहता है जिसका कोमल स्पर्श ताप ज्वलित माथेको शीतलता

है ; इस 'एकाकी आंगन' में भावोंके मधु स्वप्न जग रहे हैं । प्रकृतिका अनन्त सौन्दर्य-चित्र उसके सामने फैला है 'आलोकित हो उठता सुखसे मेघोंका नभ चंचल' और मनमें किसीकी याद जग पड़ती है किन्तु यह स्मृति करुण नहीं बल्कि मादक है ; कटु नहीं मधुर है । इस माधुर्यमें अनुपम स्वाद है । शय्यापर पीड़ित कविके मनमें विषादकी वह करुण घटा नहीं घिरती जो महादेवीके गीतोंमें है । प्रकृतिके सोल्लास चित्रका अपूर्व आवेग है । इसमें ऐन्द्रीयताका सौन्दर्य-चित्र है, रङ्गोंसे पूर्ण रेखाओंमें दृढ़ ।

अगरुकी सोंधी सोंधी गन्ध किसीके श्वास समीरण-सी स्मृति जगाती है और हृदय और भी मधुर गन्धसे भर उठता है । शत-शत विह्वल भाव उमड़ते आते हैं । बादलोंकी प्रिया क्षणभरको चमक विलीन हो जाती है । अन्तर्वासिनीकी निगूढ़ भावनामें सन्ध्याका 'यह चित्र एकाकी जीवनकी करुण-मधुर वेदनामें क्षण भरको स्मृति तीव्र कर देता है ।

'यह सच है कि व्यक्तिगत सुख दुःखके सत्यको अथवा अपने मानसिक

संघर्षको मैंने अपनी रचनाओंमें वाणी नहीं दी है, क्योंकि यह मेरे स्वभावके विरुद्ध है'—पन्तजीका यह कथन कमसे कम इस रचनाके सम्बन्धमें सत्य नहीं। 'अनुभूतिकी तीव्रता' और आवेश नहीं। कविका विषाद हलाहल विष नहीं मन्द, और मधुर-मधुर है। उसके हृदयमें किसी अभावकी अनुभूति होती है उस अभावको वह बौद्धिक आवरण भी नहीं देता जैसा अन्यत्र हुआ है। पल्लवकी चित्रोपम भाषामें कल्पनाका सतरङ्गी मेल है। छाया-वादकी विशेषताओंमें कल्पनाके इस झीने किन्तु इरान्वित रूपका आवेश कम नहीं मिलता। पन्तकी कल्पना अपनी भावनाओंका प्रसार यहाँ प्रकृतिके मनोरम चित्रमें अधिक नहीं पाती। अपनी रुग्णतापर मीठा-सा क्षोभ इसलिए है कि 'नव असाढ़की सन्ध्या' है मेघोंका 'कोमल तम' है। उस-का हृदय एक बार बाहर प्रकृतिकी गोदमें खेलनेको उत्सुक हो उठता है किन्तु आजकी रुग्णता उसकी भावनाओंके पर बाँध देती है। उसे याद आते हैं बचपनके दिन जब मेघोंकी इस लुका-छिपीमें वह अनन्त कौतुक और विस्मयका भाव देखता था, उसे याद आते हैं जवानीके दिन जब मेघोंकी इस छायामयी सृष्टिमें प्रकृति-सौन्दर्यकी असीम भावना जग पड़ती थी किसीके साहचर्यका स्पन्दन था। आजके एकाकी जीवनमें कितनी विरसता है। वह अन्तर्वासिनी है और 'मेघोंका क्रन्दन' उसकी याद जगा देती है। पृथिवीसे उठती हुई सोंधी गन्ध कितनी मादक और उन्मादक है किन्तु उन्माद ऐसा नहीं जगता जो उसे बहा ले जाय। ज्ञात होता है कवि केवल 'पीड़ित' अवयव शय्यापर लेटा नहीं बल्कि उसका मन भी रुग्ण है आज उसमें वह भावना नहीं जब उसने लिखा था 'मैं नहीं चाहता चिर सुख' और जीवनमें 'सुख-दुखकी' आँख मिचौनीका आग्रह भी उसमें नहीं रह गया है। यद्यपि व्यथाकी वह हाहाकारमयी तीव्रता नहीं, द्विज जैसा वेग नहीं और न महादेवी जैसी संयत किन्तु आकुल करुण कथा है। बल्कि

पन्तके इस लोकमें वेदनाका स्फुरण मात्र है हल्का-सा आघात है विक्षुब्ध करनेवाला आवेश नहीं। अनुभूतिके इस हल्केसे कम्पनके कारण ही पन्तमें प्रवाहकी तीव्रता कम है। पन्त कल्पनाप्रिय और अलंकार-प्रधान भाषाके पक्षपाती हैं अतः गीतिकाव्यका निर्वाह सम्यक् रूपमें नहीं मिल सकता; किन्तु जहाँ उनकी अनुभूति उनके कल्पनात्मक और आलंकारिक आवेशको छोड़ पाती है वहाँ गीतिकाव्यका स्वरूप निखर आता है। मुझे १९२९के लिखे इस गीतमें 'ग्रन्थि' और 'पल्लवकी' रचनाओंका आभास मिलता है।

कौन दोषी है? यही तो न्याय है?
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, उधर
दग्ध चातक तरसता है,—विश्वका
नियम है; रो अभागे हृदय! रो!!

और 'मुखर विरह दादुर पुकारता उत्कंठित भेकीको

किन्तु तीव्रता और आवेश नहीं जिसने ग्रन्थिमें लिखनेको बाध्य किया था—

शून्य जीवनके अकेले पृष्ठपर
विरह! —अहह, कराहते इस शब्दको
किस कुलिशकी तीक्ष्ण चुभती नोकसे
निठुर विधिने अश्रुओंसे है लिखा!!

पन्तकी आधुनिक बौद्धिकताके भीतर हार्दिकताके दर्शन काव्य-प्रेमियोंके लिए शुभ संकेत हैं। बौद्धिक सहानुभूतिके मर्ममें हार्दिकताका—मुझे रागात्मिकता कहना चाहिये—अभाव हो जाता है। कविता अबौद्धिक नहीं, बौद्धिकतासे उसका वैर नहीं किन्तु बुद्धि-तत्त्वके अतिशय भारको वह वहन

नहीं कर सकती। काव्य जिस प्रकार बौद्धिकताका [illegible] अपना आधार खो देता है, उसी प्रकार बौद्धिकताके अनाधिक्य आग्रहके कारण भावना खो बैठता है। पन्तकी स्मृति इसलिए नहीं जग पड़ती कि कल्पनाके द्वारा सन्ध्या और अलकोंकी धूमिल अस्पष्ट छायाका काल्पनिक चित्र वे खड़ा करते हैं वरन् सन्ध्याकी वेला अजीब रहस्यात्मकताके साथ उनके समक्ष उपस्थित होती है और ठीक वैसे समय जब मन विरस हो रहा है, एकाकीपन खल रहा है। उन्मन कविके अन्तरमें अभावकी अनुभूति जग पड़ती है; यही प्रेरणा है और सहसा कविको याद आती हैं, वे सन्ध्याएँ जिस समय यह एकाकीपन नहीं था, यह विरसता नहीं थी। अभावको बौद्धिक प्रेरणाके द्वारा सामाजिक सांस्कृतिक एवं मानवीय भावनाका आवरण उसने दे रखा था। एक ओर निराशाके कारण जहाँ व्यक्तिवाद अव्यक्त असीम कल्पनामें साकार प्रियतमका चित्र आँकता है, वहाँ उसमें बौद्धिक आवेशके कारण नवीन सामाजिक अभावात्मकताका आवेश उत्पन्न करनेकी क्षमता स्वीकृत होनी चाहिये। जहाँ भक्तिका अथवा रहस्यात्मक आग्रह स्वीकार कर कवि अनुभूतिका स्वरूप एवं आलम्बन परिवर्तन कर देता है, शोध कर देता है वहाँ दूसरे प्रकारका कवि अनुभूतिको व्यापक करनेके लिए बुद्धिका सहारा लेता है, जिसे प्रसादने 'इड़ा' और 'कामायिनी', 'बुद्धि और श्रद्धा' के रूपकद्वारा प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा की है पन्तमें बुद्धिऔर भावनाका समन्वय न हो सका था किन्तु हार्दिकता कहीं अलग थी नहीं, वही उसको अन्तर्वासिनीके रूपमें, प्रच्छन्न भावसे हृदयमें स्थित थी। मेघोंका लोक इस भूले रागको आलोकित कर गया और—

एक मधुरतम स्मृति पलभर विद्युत-सी जलकर,
याद दिलाती मुझे, हृदयमें रहती जो तुम निश्चल।

नहीं कर सकती। काव्य जिस प्रकार बौद्धिकताका तिरस्कारकर अपना आधार खो देता है, उसी प्रकार बौद्धिकताके अत्यधिक आग्रहके कारण भावना खो बैठता है। पन्तकी स्मृति इसलिए नहीं जग पड़ती कि कल्पनाके द्वारा सन्ध्या और असाढ़की धूमिल अरुणाभ छायाका काल्पनिक चित्र वे खड़ा करते हैं बल्कि सन्ध्याकी वेला अजीब रहस्यात्मकताके साथ उनके समक्ष उपस्थित होती है और ठीक वैसे समय जब मन विरस हो रहा है, एकाकीपन खल रहा है। उन्मन कविके अन्तरमें अभावकी अनुभूति जग पड़ती है; यही प्रेरणा है और सहसा कविको याद आती हैं, वे सन्ध्याएँ जिस समय यह एकाकीपन नहीं था, यह विरसता नहीं थी। अभावको बौद्धिक प्रेरणाके द्वारा सामाजिक सांस्कृतिक एवं मानवीय भावनाका आवरण उसने दे रखा था। एक ओर निराशाके कारण जहाँ व्यक्तिवाद अव्यक्त असीम कल्पनामें साकार प्रियतमका चित्र आँकता है, वहाँ उसमें बौद्धिक आवेशके कारण नवीन सामाजिक अभावात्मकताका आवेश उत्पन्न करनेकी क्षमता स्वीकृत होनी चाहिये। जहाँ भक्तिका अथवा रहस्यात्मक आग्रह स्वीकार कर कवि अनुभूतिका स्वरूप एवं आलम्बन परिवर्तन कर देता है, शोध कर देता है वहाँ दूसरे प्रकारका कवि अनुभूतिको व्यापक करनेके लिए बुद्धिका सहारा लेता है, जिसे प्रसादने 'इड़ा' और 'कामायिनी', 'बुद्धि और श्रद्धा' के रूपकद्वारा प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा की है पन्तमें बुद्धिऔर भावनाका समन्वय न हो सका था किन्तु हार्दिकता कहीं अलग थी नहीं, वही उसको अन्तर्वासिनीके रूपमें, प्रच्छन्न भावसे हृदयमें स्थित थी। मेघोंका लोक इस भूले रागको आलोकित कर गया और—

एक मधुरतम स्मृति पलभर विद्युत-सी जलकर,
याद दिलाती मुझे, हृदयमें रहती जो तुम निश्चल।

पन्तमें चित्रात्मकता, चित्रोपम भाषा एवं अलंकार विधानद्वारा स्वरूप निर्देशका आग्रह अधिक दीख पड़ता है। इस साकेतिक चित्रणमें महादेवी जैसा चित्रपटका विस्तार नहीं, प्रसाद-जैसी सूक्ष्मता नहीं बल्कि पन्तके चित्रोंका रहस्य समझनेके लिए कल्पनाके सूक्ष्म सौन्दर्यिक आवेशकी अपेक्षा है। कवि और पाठकके मानसिक स्तरकी विभिन्नता ही अस्पष्टताकी सृष्टि करती है। इस गीति-रचना-में चित्रोंका अभाव नहीं 'विनत मुखपर झीना आँचल धर' 'केसरी दुकूल अभी भी फहरा रहा क्षितिजपर' 'विद्युत्-सी जलकर' आदिके द्वारा सन्ध्या केवल सौन्दर्यका सूक्ष्म विधान नहीं उपस्थित करती बल्कि चाक्षुस प्रतिमाएँ खड़ी करती है। सन्ध्याका यह अपार्थिव सौन्दर्य अनुपम है। प्रसादके लाज-भरे सौन्दर्यमें जो ऐन्द्रिय चेतना है वह पन्तकी इस सन्ध्या-में भी है केवल भूमिका और रेखाका अन्तर है।

पन्तकी इस गीति-रचनामें संगीतका विक्षुब्ध प्रवाह और शब्द-झंकारका मोह नहीं जो 'धूम धुँआरे, काजर कारे', और 'चमक झमक मय' आदिमें है। अनुभूतिकी अपेक्षाकृत अतीव्रता संगीतमें भी वही मधुर मन्द गति भरती अन्यथा अनुभूति और संगीतात्मक वेगमें अन्तर आ जाता और एक दूसरेको बल प्राप्त नहीं होता। पन्तकी संगीतात्मकतामें माधुर्य है, शब्दोंमें निश्चित प्रवाह है कल्पनाद्वारा अनुभूतिका संवेग, अलंकार प्रधान चित्रोपम भाषा, संगीतका मधुर, मन्द, संयत प्रवाह इस गीति-रचनाकी विशेषताएँ हैं।

जाने किस जीवनकी सुधि ले
लहराती आती मधु बयार।

रञ्जित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोकका अरुण राग,
मेरे मण्डनको आज मधुर ला रजनीगन्धाका पराग।
यूथीकी मिलित कलियोंसे
अलि, दे मेरी कबरी सँवार।

पाटलके सुरभित रंगोंसे रँग दे हिम-सा उज्ज्वल दुकूल,
गुथ दे रशनामें अलि-गुञ्जनसे पूरित झरते बकुल-फूल।
रजनीसे अञ्जन माँग सजनि
दे मेरे अलसित नयन सार।

तारक-लोचनसे सींच सींच नभ करता रजको विरज आज,
बरसाता पथमें हरसिंगार केशरसे चर्चित सुमन-लाज।
कण्टकित रसालोंपर उठता—
है पागल पिक मुझको पुकार।
लहराती आती मधु बयार।

—महादेवी वर्मा

× × ×

आँसुओंका कोष उर, दृग अश्रुकी टकसाल,
तरल जल कणसे बने घन-सा क्षणिक मृदुगात।
जीवन विरहका जलजात।

ऐसे 'विरहका जलजात जीवन' में मधु बयार किसी बीते जीवनकी सुधि दिला जाती है। बयारका यह पुलकमय कोमल स्पर्श जीवनके उन क्षणोंकी याद दिला देता है जिस समय सन्ध्याकी धूमिल अरुणाभ

छाया, मिलन, उल्लास, और उत्तेजनाका आवेश भर जाती थी। जीवन आज जैसा उस समय 'रीता-रीता' न था बल्कि था पूर्ण और आनन्द-मय। 'बयार' का यह सन्देश जीवनमें स्फुरण देता है, इसके मधुर स्पर्श-से 'मुर्झाये फूलोंके लोचन' भी 'फीकी मुस्कान' से भर जाते हैं—

जाने किस बीते जीवनका सन्देशा दे मन्द समीरण,
छू देता अपने पंखोंसे मुर्झाये फूलोंके लोचन।

किन्तु इस 'बयार' की उत्तेजना चपल और उद्धत नहीं। यह उत्तेजना प्राणोंको विह्वल तो करती है, मिलनकी उत्कण्ठा तो बढ़ाती है, प्राणोंमें स्पन्दन भर जाती है किन्तु मतवालापन नहीं, उन्माद नहीं,'सुधि' ऐसी नहीं जो सारी सुधि भुला दे। वायुके स्वरमें आनेवाली बाँसुरीकी साँसें ऐसी नहीं जो महादेवी गोपियोंकी भाँति सारे व्यवधान, सारे सँभार छोड़ निकुञ्जोंकी ओर दौड़ पड़ें। सिंगार नहीं कर सकनेकी ग्लानि भी नहीं, वह दिनकरकी भाँति ऐसा नहीं कहतीं कि 'अभी तो कर पायी न सिंगार, रासकी मुरली उठी पुकार'। निरालाकी यह 'शिशिर समीर' भी नहीं। केवल बयारका मधुर, हलका झोंका है; जो जीवनको झकझोरता नहीं केवल हौले हौले स्पन्दन जगा देता है। उस जीवनके लिए आकुल क्रन्दन नहीं, भावोन्मेष और उल्लासोन्माद नहीं। 'जीवन की सुधि' मात्र है, वह कौन-सा जीवन है, उस जीवनमें कौन-सा उन्माद था उसका पता नहीं। केवल उस जीवनका क्षीण आभास ही मिलता है, उसकी अनुभूति केवल मनको कँपा देती है। किन्तु उस सुधिमें कसकती वेदना नहीं बल्कि मिलनका सन्देश है। न जाने प्रियतम कहाँ छिपा था, उसकी सुधितक न थी, आज उसका सन्देश मिला है, बयार उस मिलनका सन्देश सुना जाती है। आज फिर मन

कैसे लगे ? इस घर, आँगनकी सीमाओंमें घिरकर वह कैसे रुके ? उसे प्रियतमसे मिलने चलना है । आज कितने युगोंके बाद जीवनमें ऐसा मधुर अवसर आया है, इसे व्यर्थ जाने देनेकी इच्छा नहीं । किन्तु मिलनकी इस लालसामें उद्दाम वेग नहीं, वह वर्षाकी लहराती, लहराती खरधारा नहीं, इसमें शरत्कालीन नदीका-सा संयम है, गम्भीरता है चञ्चलता नहीं ।

युग-युगकी खोजके भीतर विश्रान्ति घेर लेती है, आगे बढ़नेकी लालसा नहीं, शक्ति नहीं, आवेश नहीं, पैर अपने-आप रुक जाते हैं, किंवा रुक-रुककर आगे बढ़ते हैं । अँधेरी रात घिरनेको है, रहा-सहा आलोक भी जाता रहेगा, हाय क्या किया जाय ? सहसा 'लहराती मधु बयार' जीवनके रीतेपनको सुधिसे भर जाती है और एक बार मन कह उठता है—शिथिल पग है, कोई चिन्ता नहीं, मिलनका सन्देश मिला है, मुझे उस प्रियतमतक पहुँचना है, इस विवशतापर विजय पानी होगी । सखि, मेरे इन चरणोंको शीघ्र रँग दे, मुझे प्रियतमसे मिलने जाना है । अनेक युगोंके व्यवधानके बाद यह 'मिलन यामिनी' आयी है । बिना किसी सँभारके अभिसार कैसा ? 'नव अशोकके अरुण राग' से इन शिथिल चरणोंको रँग दे । हृदयका राग—रागात्मिका वृत्ति—अंग-अंगसे फूट पड़े । आज जब मिलनके आवेशमें हृदयकी वृत्ति मचल पड़ी है, अनुभूति उद्वेलित है, फिर क्यों न कण-कण इस रागसे रँग न जाय, मनके उल्लासकी लाली सब ओर फूट पड़े, मिलनोत्सुकताकी लाली, मादकताका प्रतीक बनकर उमड़ पड़े । लेकिन 'अशोक' नवीन लेना, कहीं उसका रंग धूमिल न हो गया हो, कारण जीवनका यह 'अशोक' भी नवीन है, नूतन है । 'नभका कोई कोना' जिसका अपना नहीं और 'उमड़ी कल थी, मिट आज चली' वाली

उसका वास्तविक स्वरूप नहीं। आत्मा परमात्मासे मिलनेके लिए उत्कंठित तो रहती है किन्तु 'माया-रिपु', शरीर-धर्म इस मिलनमें बाधा उपस्थित करते हैं और वह अपने स्वरूपको भूलकर इसमें फँस जाती है। फिर कोई समझका उपाय नहीं दीखता। कबीर उस परमात्माको अपने भीतर ही देखते हैं, कारण आत्मा और परमात्मामें अग्निराशि और चिनगारीका-सा सम्बन्ध है दोनोंमें एक ही आग है! 'उजियाला जिसका दीपकमें तुझमें भी वह चिनगारी', युग-युगके बिछोहके बाद तो कभी उसकी सुधि जग पड़ती है। विरहके क्षणोंकी करुण-भावना मिलनोत्कंठा और उल्लास में परिणत हो जाती है। करुण-भावनामें निराशाकी धधकती आँच नहीं व्यथाकी आर्द्रतामें डूबके गोपियोंकी आँखोंकी यमुना नहीं जिसके आवेशमें आकर वे कहती हैं :—

कैसे पनिघट जाऊँ सखी री डोलौं सरिता तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ चली है इन नैननके नीर॥
इन नैननके नीर सखि री सेज भई घर नाऊँ,
चाहति हौं वाही पै चढ़िके श्याम मिलनको जाऊँ।

तोषनिधिकी गोपियोंकी आँखोंके करुण-प्रवाह जैसी व्यथा-धारा नहीं।

गोपिनके अँसुवानको नीर पनारे भये, बहिके भये नारे,
नारेन हूँते भई नदिया, नदिया नद ह्वै गये काट कगारे।
बेगि चलो तो चलो ब्रजको कवि 'तोष' कहै ब्रजराज दुलारे,
वे नद चाहत सिन्धु भये अब नाहिं तो ह्वैहैं जलाहल सारे।

सर्वत्र एक संयम है उद्दामवेग नहीं। मिलनके इस उल्लासमें प्रकृति, आत्मा और परमात्माके भीतर सप्राण चेतना है। प्रकृति आत्मा-

से विच्छिन्न और विभिन्न न रहकर समष्टिगत एकात्मताकी व्यञ्जना देती है। उल्लास केवल आत्मिक नहीं, बल्कि वह उल्लास सम्पूर्ण प्रकृति-की आत्मामें परिव्याप्त है। प्रकृति भावनाकी भूमिकाके रूपमें ही नहीं आती बल्कि एकात्म-भाव स्थापित कराती है। आत्मा और प्रकृति उल्लासके सूत्रमें गुँथकर एक हो जाते हैं, प्रकृति शृंगार-प्रसाधन करती है और उसके उपकरण आनन्दोल्लासकी सूचना भी देते हैं। प्रकृति यहाँ निरपेक्ष नहीं मानव-सापेक्ष है। प्रेरणा अपने हरहराते वेगसे नहीं जगती, वह तूफान भी नहीं उठाती बल्कि कोमल स्पर्शसे स्फुरण करती है। भावनाओंकी यह मन्थर गति छन्द-छन्दमें मन्द्र, मन्थर गति देती है। भावोंकी गति और छन्दके लयमें अपूर्व सामञ्जस्य है। अलंकारत्व विधानकी चेष्टा नहीं। चित्र इतना अस्पष्ट भी नहीं और न इसे स्थूल रेखाओंमें देखा जा सकता है। प्रकृतिके विस्तार और तादात्म्य-स्वरूपके कारण भिन्न-भिन्न अंग विछिन्न न रहकर सतेज, प्राणवान और एकप्राण हो जाते हैं। 'कोयलकी पुकार' और 'बयार' एकहीके विभिन्न किन्तु विच्छिन्न अंग नहीं। यहाँ मनुष्य और प्रकृतिमें केवल अत्यन्त समीपका सम्बन्ध नहीं; दोनों दो भिन्न चेतनाएँ भी नहीं। प्रकृति केवल सहज संक्षोभ्य और सप्राण नहीं, मानवीय वृत्तिकी भूमिका मात्र नहीं बल्कि एक प्राण है। निराला जैसा निर्बन्ध मुक्त स्वरूप नहीं, तीव्र प्रवाह भी नहीं, पन्त जैसी चित्रमत्ता और स्वरूपप्रियता भी नहीं, सहज, संयत मानवीय अनुभूतिकी भावनागत अभिव्यञ्जना है, प्रकृति यहाँ 'सर्ववादकी धार्मिकता' सूचित नहीं करती। महादेवीकी कविताके दार्शनिक आधारके अन्वेषणमें रत आलोचक अनुभूतिके भावनात्मक विकासकी ओर ध्यान नहीं देते। महादेवी यहाँ दर्शनके सिद्धान्त नहीं देतीं; रहस्य-भावनाके इतिहासकी व्याख्या नहीं करतीं, आत्मा-परमात्मा और प्रकृतिके सम्बन्धको

मीमांसा नहीं करती बल्कि मधुर अनुभूतिकी कलात्मक अभिव्यञ्जना करती है। मीराका उद्वेग, चाञ्चल्य नहीं। महादेवी स्वप्नोंकी दुनियामें जागरण करती दीख पड़ती हैं। रहस्यवादिता यहां है किन्तु वह साधनात्मक, बौद्धिक रहस्यवाद नहीं। सूफियोंकी-सी भी इनमें भावना नहीं। यहां स्वप्नमयताका मोह नहीं, चित्रित सौन्दर्यकी अपेक्षा नहीं बल्कि आन्तरिक सौन्दर्यकी भावात्मक व्यञ्जनाका कुछ प्रभाव है।

महादेवीका यह संयम किन्तु बाह्य, परिस्थितिगत आत्मसंवरण या संकोचका फल नहीं, जीवनके व्यापक दृष्टिकोणके कारण है। प्रेम जीवनकी अमूल्य अनुभूति है। लोक-गीतोंमें प्रेमका जो सहज सुकुमार वर्णन है, वह अकृत्रिम, सरल और सहज प्रवाहयुक्त है। 'प्रेमके अबुद्धिवाद' का प्रश्न ही नहीं उठता। मीराके प्रेम प्रदर्शनमें वही सहज सरल उच्छ्वास है, रत्त भी कम उच्छ्वसित नहीं किन्तु प्रेमका वह आग-भरा उच्छ्वसित आवेग महादेवीमें नहीं। यहां प्रेम और वासनाकी भिन्न स्वरूपताका प्रश्न नहीं। प्रेमके अतिरञ्जित चित्रोंके द्वारा अचेतन रूपसे मानसिक संतुष्टिका मोह महादेवीमें नहीं दीखता। कल्पना जहां उल्लासको विस्तार और व्यापकता देती है, वहां इसके स्वरूपमें निश्चिन्तता कम कर देती है। महादेवीके कुछ चित्रोंमें अस्पष्टताका जो मोह मिलता है, उसका यहां स्पष्ट अभाव है। अस्पष्टता भावना और अनुभूतिका समन्वय न देख पानेके कारण लक्षित होती है। इस गीतमें 'मधु बयार' की प्रेरणाके, उल्लासकी अनुभूतिका प्रकृतिके चित्रोंद्वारा व्यञ्जना हुई है। भावनाके स्पष्ट वर्णनके स्थानमें संकेतात्मक अभिव्यञ्जना हुई है जिसमें मिलनके उल्लासका संकेत मिलता है। यहां जीवनके साधारण राग द्वेषका चित्र नहीं। इसे—

'Tis a common tale
An ordinary sorrow of man's life.'

नहीं कह सकते। इस उल्लासका भी सामाजिक आधार है। वैयक्तिकताका इतना अधिक मोह नहीं कि प्राण-प्राणमें इसके स्वर गूँज न सके। महादेवी बौद्धिक चेतना नहीं उत्पन्न करतीं, चमत्कारपूर्ण बुद्धिसे उद्वेगपूर्ण बात भी नहीं कहतीं बल्कि भावावेश 'उत्पन्न कर देती हैं और पाठक भी आनायास कह उठता है—

जाने किस जीवनकी सुधि ले
लहराती आती मधु बयार।

किन्तु इस जीवनमें द्विधा नहीं, संकोच नहीं, पराजित होनेका भाव भी नहीं। शिथिल चरणमें उत्तेजनाका अभाव भी नहीं। 'कबरी' के अन्धकार-पूर्ण संकेतमें भी निराशा नहीं, एक मधुर-करुण-भावना है अवश्य। यह करुण-भावना केवल आत्माको घेर ही नहीं रखती, इसे नवीन प्राण देती है और यह करुणा—

'रज कणपर जलकण हो बरसी
नव-जीवन अंकुर बन निकली।'

हो जाती है। जीवनके जिस स्नेह-सुलभ, सरल उज्ज्वल उल्लासका वर्णन है वह शिशुके हासकी तरह भी नहीं, वन-बालाके गीतों-सा उन्मुक्त भी नहीं, यौवनकी मदिरासा मतवाला भी नहीं और परकीयाके प्रेम-सा दबा हुआ, उत्कंठित, संकुचित पर उद्दाम भी नहीं। यह स्वयं महादेवी-जैसा है करुण-मधुर मधुर-करुण।

अनागता पूजा

जीवनके पहले प्रभातमें—

मिला तुम्हींसे था मुझको
प्रिय, यह पावन 'उपहार–'।

जिसे कहते तुम आज 'अभाव'
लिये नयनोंमें करुणा नीर;
और करनेको जिसका अन्त—
(व्यथित हो, होकर परम अधीर—)

रहे हो मेरे चारों ओर
विभवकी दारुण ज्योति पसार।

ज्योति यह दारुण है, हाँ देव !
क्योंकि मैं हूँ चिरतमका दास।
सुखी रहता दुखहीमें डूब,
कहाँ जाऊँ किस सुखके पास ?

सम्हाले सम्हलेगा भी कभी
किसीका मुझसे इतना प्यार ?

वासनामें विष है, है आग
लालसामें, सुखमें सन्ताप।
पुण्य पाऊँगा मैं किस भाँति ?
कहाँ जायेगा मेरा पाप ?

विश्वकी पीड़ाओंको कहाँ
मिलेगा प्रश्रय, मधुर दुलार ?

विरति-पथ है कोलाहल-हीन;
इसीपर चलने दो चुपचाप।
साथमें दुर्बलताएँ रहें;
प्रलोभनका न मिले अभिशाप।
बहुत सुन्दर लगता है मुझे
यही मेरा 'सूना संसार'।

जनम भर तप करनेके बाद,
मिला है मुझको यही 'अभाव'।
इसीमें है मेरा सर्वस्व,
न है कुछ पानेका अब चाव।
बिछाकर मोहक माया-जाल
साधनाका न करो संहार।

लिये जो हलचल अपने साथ,
यहाँ आये हो मेरे पास।
उसे दे पाऊँगा किस भाँति
इसी छोटे-से घरमें वास?
लूट लेंगे मुझको ये लोग,
समेटो इनकी भीड़ अपार।

दाह अति शीतल है यह, है न
कहीं इसमें ज्वालाका नाम।
बरसने दो करुणा-घनको न,
न है इसका अब कोई काम।
जला, जल चुका बहुत, चुपचाप
पड़ा हूँ अब तो बनकर 'छार'!

विकल विह्वल थी जब मधु-धार,
किया प्यासे अधरोंने मान।
पुनः उस मादकताकी ओर
करो उपक्रम ले जानेका न।
लुढ़क जाऊँगा, हो हत-चेत,
रहे रस क्यों बरबस यों ढार ?

जगाओ अब न हियेकी भूख,
न भड़काओ चाहोंकी प्यास।
इसी 'सूनेपन' में है शान्ति,
तृप्ति, सुख, संयम, हर्ष, हुलास।
कहाँ अब वे आँखें हैं, हाय !
निहारूँ जिनसे यह शृंगार ?

करो विचलित मत मुझको, देव !
दिखाकर 'कुछ देनेका चाव'।
साधनाकी वेदीपर बैठ,
पूजने दो यह 'अमर अभाव'।
इसीमें हो तुम, हूँ मैं; और
इसीमें भरा तुम्हारा प्यार।

—जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'

अस्तित्व और जीवनमें उतना ही अन्तर है जितना निरकांक्ष अवैयक्तिक एवं विचार, अनुभूति और आकांक्षासे पूर्ण क्षणोंमें। जीवनकी यह अनुभूति जितनी तीव्र होगी, उतनी ही गम्भीर जीवनी-शक्ति होगी। अस्तित्व मात्रको जीवन नहीं कहते। सामाजिकतापर आग्रह दिखाने-

वाले मनुष्यके व्यक्तित्व और वैयक्तिकतापर ध्यान नहीं देते। साहित्य वर्ग-विशेषका चित्रण करनेके स्थानमें विशेषकी सृष्टि करता है। प्रेम वैयक्तिक अनुभूति है। जीवनमें ऐसे क्षण आते हैं जिस समय मानवीय वृत्ति अपनी सीमामें संकुचित न रहकर किसी दूसरेके व्यक्तित्वकी परिधिमें जा समाती है। प्रेमी अपने व्यक्तित्वका आक्षेप (projection) दूसरेके व्यक्तित्वमें कर देता है और दोनों भिन्न प्राणी नहीं रह जाते, नहीं रह पाते। प्रेमके त्यागकी चर्चाका यही रहस्य है, केवल साधारण वस्तुओं अथवा भावनाओंका त्याग मात्र नहीं बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्वका त्याग है। ऐसी पूर्णताके क्षणोंमें जीवनका राग सम्पूर्ण जगतका विराग है। किसीका राग ही विरागका कारण बन जाता है। किन्तु जीवनमें ऐसे क्षणोंका भाव टिक नहीं पाता। आशा-निराशा दुःख-द्वन्द्वकी भूमिकामें आत्मानन्दका दार्शनिक आग्रह इसीका परिवर्तित रूप है। इस अभावके क्षणोंमें ज्ञात होता है जैसे उसका व्यक्तित्व ही कहीं खो गया है, वह 'वह नहीं' जो मिलनके क्षणोंमें था। यह अभाव, इस अभावका भाव इतना व्यापक और विशद हो उठता है कि प्रेमी और अभावकी इस भावनामें कोई अन्तर नहीं रह जाता। अभाव स्वयं अभावात्मक नहीं बल्कि भावात्मक है और 'हृदयका सूनापन' का यही तात्पर्य है कि अभावका भाव अपनी पूर्ण प्रतिष्ठाके साथ प्रतिष्ठित है; 'अभावकी पीर' जब यह व्यापकता ग्रहण कर लेती है 'पीर' नहीं आनन्द है, व्यथा नहीं 'सुख' है, कारण अब अपने अस्तित्वका यही है आधार। प्रिय केवल स्मृतियोंमें जीवित रहता है। वैसी अवस्थामें [illegible] किन्तु व्यथाभरी स्मृति ही उसकी भावनाका मूल है। जीवनके इस [illegible] वैयक्तिक कहकर उड़ाया नहीं जा सकता, इसमें अखण्ड मानवताके लिए स्थान नहीं कहकर साधारण और सामान्यकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसमें जीवनकी दार्शनिकताका आलोक है, यद्यपि साम्प्रदायि-

एक ओर एकान्तमें बैठ कवि जीवनका रस ले रहा है कि—

लिये जो हलचल अपने साथ,
यहाँ आये हो मेरे पास ।
उसे दे पाऊँगा किस भाँति
इसी छोटे-से घरमें वास ?
लूट लेंगे मुझको ये लोग
समेटो इनकी भीड़ अपार ।

वेदना उसे इतनी प्रिय है कि वह इस 'अभाव'को छोड़ना नहीं चाहता। अभावको खोकर वह अपने आपको, अपने प्रेमको, अपनी भावनाको अपने व्यक्तित्व और निजत्वको खोना नहीं चाहता। उसे सुखकी इच्छा नहीं, यह बात नहीं, वह मिलनके लिए कम उत्सुक नहीं, किन्तु उनके सुखको सँभाल तो नहीं सकेगा। कितनी लाचारी है ! कितनी बेबसी है ! इसीलिए वह कहता है—'जा भूल मुझे अब उदार' जिसमें फिर लोभ उसे घेर न सके उसका अभाव मिट न जाय ! यह अभाव अनायास प्राप्त नहीं हुआ है जो केवल तुम्हारी लालसाओं और प्रलोभनसे भरी दुनियाके कारण मिट जाय अतः विभवकी दारुण ज्योति पसारना व्यर्थ है। करुणा जिससे आँखोंमें आँसू छलछला आये हैं, व्यर्थ है। कृपा करो, व्यर्थ मुझे विचलित न करो।

करो विचलित मत मुझको देव।
दिखा कर कुछ देनेका चाव।

यह अभाव ही जीवनका सर्वस्व है, अन्यतम है, निधि है अतः—

भावनाकी वेदीपर बैठ
पूजने दो यह 'अमर अभाव'।

ीव्र थी कि कुछ ज्ञात नहीं होता था, एक अनुभूति, अनिर्वचनीय
वेषादकी गम्भीरता थी जिसमें अनुभूतिका भानतक नहीं होता था।
वेषाद और वेदनाके उन क्षणोंमें 'स्तम्भित हो जाना' कहनेसे ही
प्रवस्थाका परिचय नहीं दिया जा सकता। आवेश और आवेगके
ग्म होनेपर ही वेदना और अभावके इस रूपकी अनुभूति हो पायी अतः
ह अभाव केवल क्षणमात्रका आवेश नहीं, उद्वेग नहीं, बल्कि जीवनकी
ाधनाका फल है। अतः यह साधना ही, यह अभाव ही सर्वस्व है।
णभरके लिए आकर-इस अन्यतम साधनाको मिटाओ नहीं। आज
सीमें 'सुख-शान्ति' है, इसका नाश कर एक बार फिर चल दोगे। अतः
से मिटाओ नहीं, यह व्यक्तित्व ही बन गया है—

> जनम भर तप करनेके बाद
> मिला है मुझको यही 'अभाव'।

दि कुछ क्षणोंकी साधनाका यह फल होता, आनन्दपूर्वक मिटा दिया
ा सकता था, कारण क्षणोंका ही तो खेल था। फिर पाया जा सकता है
फर अधिक चिन्ता क्यों? प्रेमी उन क्षणोंमें ही जीवित रहता है, जिन
णोंमें जीवनकी अनुभूतियाँ तेज और सजग रहती हैं, अन्यथा सारा जीवन
स्तेज अभ्यास मात्र है, केवल अभ्यास। जीवनकी इन घड़ियोंमें ही
ो यह अभाव मिला है अतः 'जनमभर'के तपकी चर्चा है, करुण-
या है।

तुम समझते हो जलन और पीड़ाओंकी बस्ती बसी हुई है। इस
लनमें करुणाके छींटे शीतलता देंगे। लेकिन भाई! अब जलन रह
। कहाँ गयी? जब इसीका शृङ्गार है, इसीका अक्षय कोष है, जीवनका
ही आधार है, जब यह जलन 'अमर शान्तिकी जननी है' फिर इसमें

दाहकता कहाँ ! जलन कहाँ ! इसलिए तुम्हारी कृपाकी आवश्यकता नहीं । अब तुम्हारे करुणा-घनका कोई काम नहीं । ऐसा दिन था अवश्य जब तुम्हारी इस वर्षाका मोल होता, जब तुम्हारे इस करुणा-घन के कारण जीवनमें आशाओंके अंकुर उग पाते, जब आजकी मरुभूमि शस्य-श्यामला भूमिमें परिवर्त्तित हो सकती, जब इस जीवनमें सरसता आ पाती किन्तु हाहाकारमय 'क्षार'के अतिरिक्त और शेष कुछ भी नहीं रह गया, अब यहाँ आशाओंके अंकुर उग नहीं सकते, अपनी करुणाका व्यर्थ दुरुपयोग न करो । अब यहाँ जलन रह कहाँ गयी जो करुणाके घनोंकी वर्षाकी आवश्यकता हो, तुम्हारा प्रयत्न विफल जायगा ।

दाह अति शीतल है यह, है न
कहीं इसमें ज्वालाका नाम ।
बरसने दो करुणा-घनको न,
न है इसका अब कोई काम ।

आज जो नयनोंमें करुणा-नीर लेकर आये हो, इनकी आवश्यकता नहीं रही, अपेक्षा भी जाती रही अतः 'विभवकी दारुण ज्योति' का प्रसार बन्द करो । अब वे आँखें नहीं जो जगका अक्षय शृंगार देख सकें । बारबार 'कुछ देनेका चाव' दिखाकर विचलित न करो । इसी जीवनमें 'सुख और शान्ति' है । मैं 'बिका हुआ धन हूं परदेसी' फिर मोल-तोलसे क्या होने जानेको है, व्यर्थ तुम्हारे प्रयत्न होंगे ।

'जनम भरके मुझ दुखियाको न
रह गया अब कोई भी क्लेश,

कोई दुःख नहीं, कोई क्लेश; पीड़ा, व्यथा, बेचैनी नहीं, कारण—

मिटाकर ही अपना अस्तित्व
मिला करता है खोया प्यार।

इसलिए अभाव ही सर्वस्व है और—

साधनाकी वेदीपर बैठ,
पूजने दो यह अमर अभाव।

द्विजको इस गीति-रचनामें व्यथाका मर्म-मधुर स्पन्दन है, विषादका वह प्रत्यक्षीकरण नहीं जिससे हिन्दी साहित्यमें असत्यताका प्रसार अधिक होता जा रहा है। द्विजमें वह आवेश भी नहीं जिसके द्वारा वह अपनी अनुभूतिको किसी अन्य आवरणमें छिपाकर उपस्थित करें। सहज मानवीय करुण-अनुभूतिकी मार्मिक अभिव्यञ्जना है। कल्पनाके मनोरम चित्र नहीं, अलंकारत्वका मोह नहीं, प्रकृतिके रँगीले चित्रोंपर कूँची फेरनेका प्रयास नहीं, इसका कारण है द्विजकी एकान्तिक अनुभूति और उसकी गम्भीरता। यह अनुभूति द्विजकी अपनी है, वैयक्तिक है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि 'कवि अपनी अनुभूतियोंकी समता अपने पाठकों तथा श्रोताओंके साथ स्थापित' न कर 'केवल व्यक्ति-वैचित्र्यवादसे काव्यकी रचना' कर रहा है। साधारणीकरणका अर्थ केवल सामान्य और साधारण बनाना नहीं। रस-ग्राह्यताके अन्तरमें संस्कारकी स्थिति है। जिसे विषाद और अभावकी अनुभूति नहीं उसमें रसात्मकता जग नहीं सकती, वह उक्ति-वैचित्र्यसे प्रभावित भले हो सके। अलङ्कारत्व-विधान अपने छिछलेपनको भरनेका प्रयास है। रस-निष्पत्तिका अर्थ अन्तर्स्थित संस्कार-गत वासनाको जाग्रत करनेकी क्षमता है; और इस अर्थमें 'द्विज' की कवितामें रस है, रस-ग्राह्यता है, अपेक्षा है केवल 'प्रेम पीड़ाकी मीठी चोट खाये' हुए दिलकी। इसमें संगीत है, संगीतात्मकता है, प्रवाह है, माधुर्य

है, पीड़ा है और है अन्तरतमको झंकृत करनेवाली रागिनी। महादेवी जैसी शान्त किन्तु करुण-वेदना नहीं; 'द्विज'की वेदनामें चञ्चलता अधिक है, महादेवीने अपनी वेदनाको सरस और संयत कर लिया है। उनके गीतोंमें वेदना ही कविता बनकर निकलती है जिनमें व्यथा है, सौन्दर्य्य-बोध है, मानसिक संयम है। 'द्विज' की वेदनामें प्रवाह है, बहा लेनेकी शक्ति है, तीव्रता है। वेदनाने कविपर अधिकार रखा है, उसकी अभिव्यक्ति आवेशपूर्ण है। महादेवी जहाँ 'करुण-मधुर' हैं, वहाँ द्विज केवल 'करुण' हैं। किन्तु द्विजकी कवितामें 'मिठास' का अभाव नहीं, यद्यपि वह 'अभावकी पूजा' और साधनामें लीन हैं। द्विजकी वेदना मार्मिक और अन्तर्स्पर्शिनी है।

अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला!
रूक्ष दोनोंके बाह्य स्वरूप,
दृश्य-पट दोनोंके श्री-हीन;
देखते एक तुम्हीं वह रूप,
जो कि दोनोंमें व्याप्त विलीन।
ब्रह्ममें जीव, वारिमें बूँद,
जलदमें जैसे अगणित चित्र।
ग्रहण करती निज सत्य स्वरूप
तुम्हारे स्पर्श-मात्रसे धूल;
कभी बन जाती घट साकार,
कभी रंजित, सुवासमय फूल।

और यह शिला खण्ड निर्जीव
शापसे पाता-सा उद्धार,
शिल्पि ! हो जाता पाकर स्पर्श
एक-पलमें प्रतिमा साकार।
तुम्हारी साँसोंका यह खेल,
जलदमें बनते अगणित चित्र।

मृत्ति, प्रस्तर, मेघोंका पुञ्ज,
लिये मैं देख रहा हूँ राह,
कि शिल्पी आयेगा किस रोज
पूर्ण करनेको मेरी चाह।
खिलेंगे किस दिन मेरे फूल ?
प्रकट होगी कब मूर्ति पवित्र ?
और मेरे नभमें किस रोज
जलद विहरेंगे बनकर चित्र ?
शिल्पि ! जो मुझमें व्याप्त विलीन,
किरण वह कब होगी साकार ?

—रामधारी सिंह 'दिनकर

रूप-अरूप जीवनके कुछ क्षणोंकी देन हैं। प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें ऐसी घड़ियाँ आती हैं जिस समय उसकी प्रतिभा-किरण अन्तर्मुखी हो जाती है, अन्तर्मुखी होनेका केवल इतना ही अर्थ नहीं कि वह केवल अपने आपको, अथवा अन्तरकी उस भावनाको देखता है बल्कि अन्तर्मुखी होनेका यह भी तात्पर्य है कि उस समय वह वस्तु-विशेषका वाह्य-स्वरूप ही नहीं देखता बल्कि उस आवरणको चीरती हुई किरणें उसके अन्त-

. कवि जिसने देखा था कि उसकी कविता जो कभी लोगोंमें प्राण फूँक देती है, आज उसमें वह आवेश नहीं अथवा जिस आवेशको वह अपनी वाणीद्वारा जन-जनके कण्ठमें भरना चाहता है, जो शत-शत कण्ठोंमें अजस्र प्रवाहिनी मन्दाकिनीकी धाराकी भाँति उद्वेलित हो उठे आज उसमें वह उफान नहीं। वह उन्मन है, उदास है उसके चारों ओर भी झीना-झीना अन्धकार है वह असफलताकी, निराशाकी भावनासे आक्रान्त होने जा रहा है। सहसा उसका ध्यान 'मृत्तिका और शिला' की

ओर जाता है। वह देखता है दोनों, हैं निश्चेष्ट, अरूप, चेतनाहीन। उसकी प्रेरणामें भी प्राण नहीं, उसमें ज्वलन्त अग्निका स्फुरण नहीं। शिला है, अनगढ़, अरूप, आकारहीन, चेतना-रहित किन्तु रूपकी सम्भावनाका अभाव नहीं। उड़ती धूल महत्त्वहीन और श्री-हीन है—

'अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला !'

दोनोंके वाह्य-रूप रूक्ष हैं, कोई श्री नहीं, कोई सौन्दर्य नहीं। उनके अन्तर्भूत सौन्दर्य, रूपकी सम्भावनाके ध्यानके लिए शिल्पी और उसकी कलाका आवेश आवश्यक है अन्यथा कोई रूप तैयार नहीं हो सकता। शिल्पीकी आँखें वाह्य-रूक्षता और आवरणकी श्री-दीनताको पहचानती हैं, वे इनकी रूप-सम्भावनाका मर्म समझती हैं, वे जानती हैं 'जिस भाँति ब्रह्ममें जीवकी सत्ता, जलमें बूँदका अस्तित्व और जलदमें चित्रकी सम्भावना है उसी भाँति इस अरूप मृत्तिका और इस अनगढ़ शिलामें भी रूपका संस्पर्श है किन्तु इसके देखनेके लिए पैनी दृष्टि चाहिये। शिल्पीमें वह प्रतिभाकी किरण है, वह आवेश है। इस अरूपताके भीतर रूपका भाव अन्तःसलिला सरस्वतीकी जल-धाराकी भाँति परिव्याप्त है।

घटकार मृत्तिकामें केवल रूपकी सम्भावना नहीं देखता, मूर्तिकार केवल शिला खण्डोंके रूप-ध्यानमें ही खोया नहीं रहता बल्कि उसका स्पर्शमात्र उन्हें स्वरूप दे देता है। मृत्तिका घट बन जाती है और अचेतन शिला चेतनाकी साकार भावना मूर्ति बनकर खड़ी हो जाती है जिसमें सौन्दर्य है और है गत्यात्मकता एवं गतिकी भावना। वह अगतिशील और अचेतन होकर भी चेतन है, भावात्मक चंचल है। रूपकी सम्भावना उनमें थी, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु केवल सम्भावना ही स्वरूप तो नहीं दे सकती। उसके लिए कलाकारकी भावना अपेक्षित है। स्रष्टाकी मौलिकता केवल रूप-विधानकी सम्भावनाके ज्ञानमें नहीं बल्कि उस स्पर्शमें है जिसके कारण वह वस्तु जीवित, जाग्रत और साकार हो उठती है। उपकरण ही वास्तविक नहीं, वास्तविक है वह संस्पर्श जो निर्जीवको जीवन एवं रूपहीन, अनगढ़ और अशोभन शिलाखण्डको रूप और सौन्दर्य देता है। उपकरणोंकी समानता ही सर्वत्र शक्तिका परिचायक नहीं है। कलाकार केवल व्यक्त और परिसीमके प्रति जाग्रत नहीं बल्कि उनकी अन्तर्भूत भावनाकी अनुभूति उसमें जाग्रत रहती है। व्यक्त और अव्यक्तकी मीमांसामें दिनकरने कहा था—

गीत अगीत कौन सुन्दर है ?
गाकर गीत विरहके तटनी वेगवती बहती जाती है।
दिल हलका कर लेनेको उपलोंसे कुछ कहती जाती है।
तटपर एक गुलाब सोचता 'देते स्वर यदि मुझे विधाता !
अपने पतझड़के सपनोंका मैं भी जगको गीत सुनाता।'
गा गाकर बह रही निर्झरी पाटल मूक खड़ा तटपर है
गीत अगीत कौन सुन्दर है ?

निर्झरीके 'दिल हलका कर लेने' और 'पाटलके मौन'में जो व्यक्त और

अव्यक्त संगीत है उसमें कौन अधिक सुन्दर है, वह उस दिन नहीं जान सका। रूपात्मक आवेगके कारण संगीतात्मक आवेश रहनेपर भी पाटलके संगीतका माधुर्य वह जान सका था किन्तु वह उस दिन नहीं जान सका था कि—

Heard melodies are sweet, but those unheard
Are Sweeter; (Keats)

लेकिन इस अव्यक्त सङ्गीतकी अन्तर्भूत रागिनी कलाकारके हृदयको ध्वनि है। उसके अन्तरका स्पन्दन उसमें प्रव्याप्त है। अतः कलाकार वस्तुका अन्तर ही नहीं देखता बल्कि उसके साथ अपने अन्तरका तादात्म्य स्थापित करता है और दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं। संसारके स्रष्टाने धूलिके साधारण उपकरणसे ही सुवासमय फूल अथवा जीवन-घट-की रचना की है अथवा कुम्भकारके हाथोंकी नवीन रूपकी चेतना मृत्तिकाको मिलती है अतः—

कलाकार वह 'राम' है जिसके स्पर्शमात्रसे निर्जीव शिलाखण्ड सौन्दर्यमयी रमणीकी भाव-मूर्ति बन खड़ा हो जाता है। कलाकारने वस्तुओंको उनका वास्तविक-स्वरूप दिया है। सत्य मात्र अस्तित्व नहीं बल्कि भाव है। कलाका सत्य केवल उपकरण नहीं बल्कि उन उपकरणोंसे निर्मित कला-कृति वास्तविक है। जिस प्रकार कलाकारके लिए कोई उपकरण हेय नहीं, उसी प्रकार कुछ भी असत्य नहीं; यदि असत्य कुछ हो सकती है, वह है उसकी भावुकता यदि आवेशके अभावमें ही वह-रचना करने बैठ जाय। उपकरण प्रधान नहीं, गौण है, प्रधान हैं कलाकारकी भावनाएँ जो उपकरणके अन्तर्हित रूपको देखकर उन्हें वास्तविक-स्वरूप दे सकें। किन्तु वह रागात्मक आवेश इच्छापूर्वक जगाया तो नहीं जा सकता। एक दिन 'दिनकर'ने समझा था कि कल्पना ही सब कुछ है। कलाकार कल्पना-के आनेकी बाट जोहता है और समझता है कि कल्पना वह आवेश देगी जिसके कारण उसके गान मर्म-मधुर हो उठेंगे। इसलिए उसने कहा—

अयि सङ्गिनी सुनसानकी—

तुम जानती सब बात हो
दिन हो कि आधी-रात हो
मैं जागता रहता कि कब
मञ्जीरकी आहट मिले
मेरे कमल वनमें उदय
किस काल पुण्य-प्रभाव हो

किस लग्नमें हो जाय कब ?

जानें कृपा भगवानकी
अयि सङ्गिनी सुनसानकी !

आज भी उसकी 'प्रतीक्षा' उसी भाँति जागरूक है। वह उन क्षणोंकी बाट जोह रहा है, जब उसके भीतरका कलाकार जग पड़ेगा, कलात्मकताका आवेश सजग होगा और वह उस कलाका निर्माण कर सकेगा जिसमें अरूपको रूप, अव्यक्तको आकार और कुरूपको सौन्दर्य मिलेगा। वह जानता है, उसके अन्तरका कलाकार जब उद्बुद्ध होगा तभी ऐसी कलाका निर्माण हो सकता है। उसके गीतोंमें 'रसवाद नहीं' है, उनमें चिरन्तन कलाका विकास नहीं हुआ ; वह जानता है, उसके गीतोंमें स्थायित्व नहीं आया है, अभी वह रेखाओंद्वारा केवल चित्र ऑक भर रहा था, उन चित्रोंमें रङ्ग नहीं। अभी उनका पूर्णनिर्माण नहीं हुआ किन्तु वह कलात्मक आवेशकी प्रतीक्षा कर रहा है जिसके द्वारा अनुपम चित्र अङ्कित हो जाया करते हैं। वह समझता है कविता चेतन क्रिया नहीं, बौद्धिक विलास भी नहीं, अति भावुकताको 'जिमनास्टिक'-भी नहीं। कविता स्वयं लिख जाती है, किन्तु वैसे क्षण आये नहीं। इसलिए—

मृत्ति, प्रस्तर, मेघोंका पुञ्ज,
लिये मैं देख रहा हूँ राह,
कि शिल्पी आयेगा किस रोज़
पूर्ण करनेको मेरी चाह।

खिलेंगे किस दिन मेरे फूल ?
प्रकट होगी कब मूर्ति, पवित्र ?

और मेरे नभमें किस रोज,
जलद विहरेंगे बनकर चित्र ?

शिल्पि ? जो मुझमें व्याप्त-विलीन,
किरण वह कब होगी साकार ?

कौन जानता है, उसे क्षणोंका आवेश प्राप्त होगा अथवा नहीं, किन्तु उनकी प्रतीक्षा, उनकी आकांक्षा तो स्वाभाविक है। मुझे जैसे लगता है, वह समझने लगा है कि आजतककी स्वर-साधनामें वह सफल नहीं। वह स्वर साधता तो अवश्य रहा है, किन्तु उस स्वरमें प्राणवान चिरन्तन प्रवाह नहीं; उसके द्विधा-संकुल प्राण प्रकाशकी किरणें खोज रहे हैं; वह अभीतक अन्धकारमें राह ढूँढ़ रहा है। उसे प्रकाश चाहिए, इस द्विधा, इस ऊहापोहसे त्राण चाहिये। उसमें प्राणोंकी आकुलता छन्दोंमें बँध नहीं पाती और वह 'उन्मन, उदास', उन प्रकाश-किरणोंकी खोजमें खोया जाता है।

इस गीतकी प्रेरणा कविको 'अचेतन मृत्ति और अचेतन शिला' से मिलती है। अनुभूतिकी तीव्रता इसमें अधिक नहीं, कारण अनुभूतिकी तीव्रावस्थामें कल्पना और विचारके लिए अवकाश अधिक नहीं रहता। सहज-संक्षोभ्य मानव-वृत्तिमें चेतनाकी प्रबल लहर जग पड़ती है, जो निर्बन्ध है, उन्मुक्त है। यहाँ अनुभूतिके साथ अतः बौद्धिकताका समन्वय है। 'घट' 'फूल' 'मूर्त्ति' और बादलोंके चित्रमें वह उसी आन्तरिक चेतनाकी किरण देख रहा है। अतः गीति-काव्यकी अति भावुकताका समावेश यहाँ नहीं। 'दिनकर' की कविताओंमें अतिभावुकता (Sentimentalism) का प्रभाव अधिक है किन्तु इस गीतमें बौद्धिकताने भावनाका स्वरूप ग्रहण किया है यद्यपि गीति-काव्यके लिए बौद्धिकताका

यह बोझ कुछ अधिक है। 'ग्रहण करती'''अगणित-चित्र'में बौद्धिकता अधिक स्पष्ट है । 'वचन' के गीतोंमें जहाँ प्रेमकी मनोदशाओंके द्योतक चित्र अधिक हैं, वहाँ दिनकरमें बौद्धिक चित्रणका आवेश पाया जाता है। इसलिए संगीतात्मकताके प्रवाहमें अन्तर आ जाता है। अनुभूतिकी मात्रा एवं बौद्धिकताके मिश्रणकी विभिन्न अवस्थाके कारण दोनोंकी धाराओंमें विभिन्नता है। 'दिनकर'के संगीतका प्रवाह अपना-सा है, निराला जैसा पुरुष-मधुर नहीं, पन्त जैसी चित्रमत्ता और कोमलता उसमें नहीं, महादेवी जैसी घुलामिला देनेवाली मधुरता भी नहीं; नेपाली जैसा अक्खड़पन भी नहीं। इस गीतकी संगीतात्मकता शब्दोंसे फूट पड़ने वाली धाराकी भाँति नहीं। 'ब्रह्ममें जीव' 'वारिमें बूँद', 'जलदमें जैसे अगणित चित्र' के द्वारा चित्रमत्ताको आधार अवश्य मिला किन्तु कल्पना-ही के द्वारा ही इन चित्रोंकी चित्रोपमता ग्रहण हो सकती है। चित्रोंकी रेखाओंमें प्रसादकी भाँति सूक्ष्मता नहीं, महादेवीकी विशदता भी नहीं और अंचलकी मांसलता भी नहीं। चित्रोंकी रेखाएँ स्पष्ट और गहरी हैं। रसात्मकता अधिक नहीं पर व्यञ्जनाका अधिक आग्रह है। आत्मिक आवेशका यह बौद्धिक चित्रण है। 'चित्र' 'रोज' 'दिन' आदि शब्दोंकी पुनरावृत्तिसे जो कानोंमें खटक पैदा होती है, उसमें माधुर्यका अभाव नहीं और वह कविकी भावनाके साथ पुनः सम्बन्ध स्थापित करा देती है। गीतिकाव्यत्वसे काव्यत्व इसमें अधिक है।

हम दीवानोंकी क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले;
मस्तीका आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले,

आये बनकर उल्लास अभी,
आँसू बनकर बह चले अभी,

सब कहते ही रह गये, अरे
तुम कैसे आये, कहाँ चले?
किस ओर चले? यह मत पूछो,
चलना है, बस इसलिए चले;
जगसे उसका कुछ लिये चले,
जगको अपना कुछ दिये चले;

दो बात कही; दो बात सुनी!
कुछ हँसे और फिर कुछ रोये!

छककर सुख दुखके घूँटोंको
हम एक भावसे पिये चले!
हम भिखमंगोंकी दुनियामें
स्वच्छन्द लुटाकर प्यार चले;
हम एक निशानी-सी उरपर
ले असफलताका भार चले;

हम मान रहित अपमान रहित
जी भरकर खुलकर खेल चले;

हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणोंकी बाजी हार चले !
हम भला बुरा सब भूल चुके,
नतमस्तक हो मुख मोड़ चले ;
अभिशाप उठाकर होठोंपर
वरदान दृगोंसे छोड़ चले,
अब अपना और पराया क्या ?
आबाद रहें रुकनेवाले ;
हम स्वयम् बँधे थे और स्वयम्
अपने बन्धन हम तोड़ चले !

—भगवतीचरण वर्मा

बेसुध क्षणोंमें कोई नवीन उन्मेष और नूतन आवेश लेकर जीवनमें प्रवेश कर जाता है। क्षणोंकी बात ही तो ठहरी, निजत्व—अपनी सुधबुध—खो जाता है। यह जीवनकी अनुपम, अद्वितीय अनुभूति है, पता नहीं लगता, कौन-सा परिवर्तन हो गया किन्तु हो कुछ अवश्य जाता है। आँखें किसीको देखनेको उतावली हो जाती हैं, कभी निहार सकती नहीं, सामने आनेपर लजा जाती हैं, किन्तु देखनेकी चाह और बढ़ती जाती है, यह प्यास मिटती नहीं यहाँतक कि प्यास ही जीवन है, जीवन मात्र ही प्यास है। वह अपूर्व है जो जीवनके गहन अन्धकारमें प्रकाशकी किरणें बन आती है, वह आशा है, उल्लास है उन्माद है। वह जीवन-मरुभूमिकी सरसधार है,—

भरे हुए सूनेपनके तम
में विद्युतकी रेखा-सी ;

असफलताके पटपर अंकित
तुम आशाकी लेखा-सी।

× × ×

बरस पड़ी हो मेरे मनमें
तुम सहसा रस-धार बनी;
तुममें लय होकर अभिलाषा
एक बार साकार बनी!

किन्तु प्रेमका यह आवेश भी चिरस्थायी नहीं। क्षण वास्तवमें क्षण ही रह जाते हैं, युग बन नहीं पाते और प्रेमकी कोमल लतिका फूल लगनेके पहले मुरझा जाती है कलियाँ आ पातीं नहीं। संसार स्वप्न मात्र नहीं और सपनोंके आधारपर बसी-बसायी दुनिया कम ठोस सिद्ध नहीं होती। प्रेम जीवनका वही मधुर सपना है, जिसमें एक ओर जहाँ आशा, उत्साह, आनन्द विश्वास और विस्तार है, वहाँ दूसरी ओर निराशा, निरुत्साह, निरानन्द अविश्वास और संकोच है। प्रेमकी इस व्यापकताके मूलमें प्रेमीके व्यक्तित्व-का वही प्रक्षेपण (Projection) है। निराशा-जनित वेदनाके मूलमें अपने व्यक्तित्वपरका यही आघात है। दो सत्ताओंके एकीकरणका यही रहस्य है। व्यक्तित्वका भिन्नत्व नहीं अपितु एकत्व ही प्रेमकी चरम साधना है। किन्तु यह साधना, यह एकत्व क्षणोंकी देन हैं। 'बनना और फिर बिगड़ना यही संसृतिकी गति है, उसका नियम है।' जिसे विधिकी विडम्बना, ललाट-लिपिकी अनिवार्यता आदि कहा जाता है, वह इसी विवशताकी भिन्न संज्ञा है। जीवन जिन विरोधी तत्त्वोंद्वारा निर्मित हुआ है उसमें आशाओंके सुनहले सपने ही नहीं बल्कि निराशाकी तत किरणें भी हैं। 'हँसने और हँसाने' को आनेवाली 'मधु-ऋतुकी पागल

किन्तु केवल 'किन्तु' बना रह जाता है। यह व्यथा फिर भी स्थायी नहीं। क्षणोंके संयोगकी भाँति वेदनाके क्षणोंकी तीव्रता तो घट ही जायगी। अब राह दूसरी है। वेदनाकी गहरी अनुभूति वेदनाको ही गँवा देती है वैसी अवस्थामें वेदना अभिशाप नहीं, वह वरदान बनकर आती है। प्रेमी वेदनाहीमें जीवित नहीं रहता बल्कि उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व वेदना-मिश्रित हो उठता है। उस समय जीवन-दर्शन सांसारिक क्षुद्रताओं, मान-अपमानके ऊपर उठ जाता है। उसकी जाँच संसारकी मान्यताओंद्वारा नहीं किया जा सकता। भावनाओंमें वेदनाका दंशन नहीं होगा, एक मर्म-मधुर टीस होगी। वह छटपटाता भी नहीं, चिल्लाता भी नहीं, हो-हल्ला भी नहीं मचाता एक हल्की-सी धड़कन, मधुर वेदनाकी अधखुली हँसी ही वेदनाका परिचय दे पाती है। संसारकी दृष्टिमें वह पागल है। संसार जिन मान्यताओंके द्वारा जीवनका मूल्य निर्धारण करना चाहता है उनकी कसौटीपर वह कसा जा नहीं सकता। संसार उपदेश कम नहीं देता। वह चाहता है—कोई सामाजिक मान्यताओंका तिरस्कार न करे। वह कहता है,—'भले आदमी' क्या अच्छी सूरत बना रक्खी है, क्या कर रहे हो, क्यों अपने जीवनको व्यर्थ बर्बाद कर रहे।' 'नर हो न निराश करो मनको'। 'संसार क्या ?' जिसने प्रेमका यह बन्धन बाँधा था और एक दिन तोड़ दिया—

> जिसने तोड़ा प्रिय उसने ही
> था दिया प्रेमका यह बन्धन !

वह भी कह उठती है,—आनन्दसे रहो, जीवन रसको यों व्यर्थ न बहाओ।' किन्तु 'मैं दीवाना तो भूल चुका अपनेको' इसलिये यह उप-

अस्तित्वके साथ जो टिक सकनेका भाव है वह तो नहीं। यह जीवन आज कुछ वैसा ही अनिर्दिष्ट, आदर्शहीन, लक्ष्य-भ्रष्ट है। कोई बन्धन नहीं, 'चारो लोक जगीरीमें' है। इस संसारके 'मिलन-मेला' में कुछ क्षणोंका ही तो संयोग है। सहसा निर्मेघ गगनमें चमक पड़नेवाले धूमकेतुकी भाँति ही तो 'क्षणिक परिचय का सुख-संयोग' है—

आये बनकर उल्लास अभी,
आँसू बनकर बह चले अभी।

कितना क्षणिक है यह मिलन-संयोग; 'उठे दर्दकी तरह, गिर पड़े आँसूकी तरह' जब चलना ही अभीष्ट है, संसारमें कोई विरामदायिनी गोद नहीं, जब गति मात्र उद्देश्य है फिर—'किस ओर चले ? यह मत पूछो ? तुम पूछते हो, 'संसारमें अभी हमने देखा ही क्या ? यह अनेकानेक विचित्रताओंका भण्डार है। यहाँ नित्य नवीन सुखोंका साज हैं।' फिर भी, भाई जो देख लिया, वह पर्याप्त है, अब और अधिक देखनेकी चाह बाकी नहीं रही। इतना ही क्या कम है जो—

जगसे उसका कुछ लिये चले,
जगको कुछ अपना दिये चले,
दो बात कही दो बात सुनी
कुछ हँसे और फिर कुछ रोये !

जीवनमें और कुछ तत्त्व तो रहा नहीं इस अन्धी दुनियाको हमने अपना प्यार दिया, और संसारने केवल असफलताका भार दिया। जगसे उसका अभिशाप लिया और उसे अपनी करुणाका वरदान दिया।

अस्तित्वके साथ जो टिक सकनेका भाव है वह तो नहीं। यह जीवन आज कुछ वैसा ही अनिर्दिष्ट, आदर्शहीन, लक्ष्य-भ्रष्ट है। कोई बन्धन नहीं, 'चारो लोक जगीरीमे' है। इस संसारके 'मिलन-मेला' में कुछ क्षणोंका ही तो संयोग है। सहसा निर्मेघ गगनमें चमक पड़नेवाले धूमकेतुकी भाँति ही तो 'क्षणिक परिचय का सुख-संयोग' है—

आये बनकर उल्लास अभी,
आँसू बनकर वह चले अभी।

कितना क्षणिक है यह मिलन-संयोग; 'उठे दर्दकी तरह, गिर पड़े आँसूकी तरह' जब चलना ही अभीष्ट है, संसारमें कोई विरामदायिनी गोद नहीं, जब गति मात्र उद्देश्य है फिर—'किस ओर चले ! यह मत पूछो ! तुम पूछते हो, 'संसारमें अभी हमने देखा ही क्या ! यह अनेका-नेक विचित्रताओंका भण्डार है। यहाँ नित्य नवीन सुखोंका साज हैं।' फिर भी, भाई जो देख लिया, वह पर्याप्त है, अब और अधिक देखनेकी चाह बाकी नहीं रही। इतना ही क्या कम है जो—

जगसे उसका कुछ लिये चले,
जगको कुछ अपना दिये चले,
दो बात कही दो बात सुनी
कुछ हँसे और फिर कुछ रोये !

जीवनमें और कुछ तत्त्व तो रहा नहीं इस अन्धी दुनियाको हमने अपना प्यार दिया, और संसारने केवल असफलताका भार दिया। जगसे उसका अभिशाप लिया और उसे अपनी करुणाका वरदान दिया।

होती है। इस गीतमें हृदयकी कली-सी विकलता, प्रेम पीड़ाका माधुर्य, भावुकताके रससे सिंचित मर्म-मधुर पीड़ा, सामाजिक मान्यताओंके प्रति उदासीनता, अनुरागकी उन्मादक दशा है। यह मर्मस्पर्शी है, इसमें भावोद्रेककी क्षमता है।

कोकिलकी यह कोमल पुकार।
कितने मधुसिक्त वसन्तोंने कर मधुर भेज दी यह पुकार॥

पर तारोंकी नीरव समाधिमें
डूबे मेरे सभी गान,
असहाय हृदयकी हूक हाय!
आँसू बन आयी है अजान।
यह तो जीवन दंशन-सा है, विष, सा साँसोंका है उभार॥

क्या मधुर राग! यह तो मेरे
सुखका है अपहृत धन महान,
ये विहँग अलग हो उड़े सभी
ले मुझसे मेरे मधुर गान।
यह गान, आज है सोई-सी स्मृतिका कितना निष्ठुर

— ३

वसन्तकी अमराइयोंसे मादक अन्ध-गन्ध आकर जो अनुभूतिको जगा देती है। कलियोंका सुहास किसी

मुस्कानकी याद दिलाती है। समीरकी चञ्चल-हिलोर लहरें उठाती इठलाती चल पड़ती है। चारों ओर हर्ष-हुलास छाया है किन्तु सूनेपनकी स्मृति रह-रह टेस लगा जाती है। वसन्तकी वासन्ती सुरभि नये सपने जगा देती है—

सिहरें द्रुम-दल, नव पल्लव
फूटें डालोंपर कोमल,
लहरे मलयानिल, कलरव
भर लहरोंमें मृदु-चञ्चल !

मुद्रित नयना कलिकाएँ
फिर खोल नयन निज हेरें,
मञ्जरियोंके मुकुटोंमें
नव नीलम आम-दलोंके

जोड़ों मञ्जुल घड़ियोंमें
ऋतुपतिको पहनानेको
झुक डालोंकी लड़ियोंमें।

—निराला

ऐसी है वासन्तिकता—

कूलनमें केलिमें कछारनमें कुञ्जनमें,
क्यारिनमें कलिन कलीन किलकंत है।
कहे पद्माकर परागहूमें पौनहूमें,
पातिनमें पीकन पलासन पगंत है।

होती है। इस गीतमें हृदयकी हूक-सी विकलता, प्रेम-पीड़ाका माधुर्य, भावुकताके रससे सिंचित मर्म-मधुर पीड़ा, सामाजिक मान्यताओंके प्रति उदासीनता, अनुरागकी उन्मादक दशा है। यह मर्मस्पर्शी है, इसमें भावोद्रेककी क्षमता है।

कोकिलकी यह कोमल पुकार।
कितने मधुसिक्त वसन्तोंने कर मधुर भेज दी यह पुकार॥

पर तारोंकी नीरव समाधिमें
डूबे मेरे सभी गान,
असहाय हृदयकी हूक हाय!
आँसू बन आयी है अजान।
यह तो जीवन दंशन-सा है, विष, सा साँसोंका है उभार॥

क्या मधुर राग! यह तो मेरे
सुखका है अपहृत धन महान,
ये विहँग अलग हो उड़े सभी
ले मुझसे मेरे मधुर गान।
यह गान, आज है सोई-सी स्मृतिका कितना निष्ठुर प्रहार।

—रामकुमार व

वसन्तकी अमराइयोंसे मादक अन्ध-गन्ध आकर जीवनकी सो
अनुभूतिको जगा देती है। कलियोंका सुहास किसीकी मन्द मु

मुस्कानकी याद दिलाती है। समीरकी चञ्चल-हिलोर लहरें उठाती इठलाती चल पड़ती है। चारों ओर हर्ष-हुलास छाया है किन्तु सूनेपनकी स्मृति रह-रह टेस लगा जाती है। वसन्तकी वासन्ती सुरभि नये सपने जगा देती है—

सिहरें द्रुम-दल, नव पल्लव
फूटें डालोंपर कोमल,
लहरे मलयानिल, कलरव
भर लहरोंमें मृदु-चञ्चल !
मुद्रित नयना कलिकाएँ
फिर खोल नयन निज हेरें,
मञ्जरियोंके मुकुटोंमें
नव नीलम आम-दलोंके
जोड़ों मञ्जुल घड़ियोंमें
ऋतुपतिको पहनानेको
झुक डालोंकी लड़ियोंमें।

—निराला

ऐसी है वासन्तिकता—

कूलनमें केलिमें कछारनमें कुञ्जनमें,
क्यारिनमें कलिन कलीन किलकंत है।
कहै पद्माकर परागहूमें पौनहूमें,
पाविनमें पीकन पलासन पगंत है।

द्वारमें दिसानमें दुनीमें देस देसनमें,
देखो दीप दीपनमें दीपति दिगंत है।
बीथिनमें ब्रजमें नवेलिनमें बेलिनमें,
बननमें बागनमें बगरयो बसंत है।

चारों ओर वासन्ती-श्री फैली है और इसी समय कोयल कूक उठती है। मन पहलेसे ही कुछ उन्मन-सा, उदास-सा था। कुछ सूना-सा जान पड़ता था, किन्तु पता नहीं हृदयमें क्या खटक रहा था कि कोयलकी कूक उठी। कवि एक बार सजग हो उठता है, अरे 'कोकिलकी यह कोमल पुकार'। स्मृतियाँ सो चुकी थीं, वह उस मर्म-व्यथा, अन्तरकी पीड़ाको भूल चुका था। दिलका घाव भरता दीख रहा था। मनमें बार बार उठ पड़नेवाली पीर कसक पैदा नहीं करती थी। अब न वह आकुलता थी, न था उद्वेग। हलचल शान्त थी कि सहसा जग पड़ी, 'कोकिलकी यह कोमल पुकार!' आह, 'कोयलकी यह पुकार' कितनी मादक है! न जाने कितने वसन्तोंकी मादक सुराका इसने पान किया है। यह मधुसिक्त है, उन्मादक है। वह खोयी पीर जग पड़ती है। घाव फिर हरे हो जाते हैं, न जाने कौन-सी व्यथा, कौन-सी पीड़ा छिपी है इसमें। कोयलकी यह पुकार आनन्द, मिलन, हर्षका गीत जगाती है। प्रकृतिके नव-हासका चित्र अंकित कर जाती है किन्तु आज हवा बदली नजर आती है। मन विरस है, उन्मन है. किसीकी चाहमें मस्त है, अभाव-त्रस्त है और 'कोयलकी यह पुकार' उस अभावकी अनुभूतिको तीव्र कर देती है। कवि कल्पनाका उपासक था वह 'तारोंके गजरोंवाली' निशाके साथ गगन-विहार करता था; आज जिज्ञासा और औत्सुक्यके इस जीवनमें अनुभूतिकी ज्वाला जग पड़ती है। कविको अनुभूति कल्पनासे अधिक प्रिय है।

और 'कोयलकी यह कोमल पुकार' उसकी अनुभूतिको जगा देती है। यदि इस कोमल पुकारमें रस-मग्नता नहीं होती, अगर उसकी बुद्धि काम कर पाती वह सुनी-अनसुनी कर देता किन्तु इस पुकारमें इतनी मादकता है कि बुद्धि साथ दे पाती नहीं। न जाने कितने वसन्तोंकी मादकताने इसे मादक बनाया है। फिर कैसे न इसकी मादकता अपरिमेय हो, अतुलनीय हो,। और 'कोकिलकी यह कोमल पुकार!'

उसकी अनुभूति इतनी तीव्र है कि वह मौन है, भाव इतने गूढ़ हैं कि उन्हें वाणी नहीं मिलती। जबतक अनुभूतिकी यह तीव्रता नहीं थी उसके गान स्वरके पंखोंपर चढ़ आकाशका विहार कर रहे थे किन्तु आज भावना मूक है, ठीक उसी प्रकार मूक जैसे अपलक तारे।

तारोंकी नीरव समाधिमें
डूबे मेरे सभी गान,
असहाय हृदयकी हूक हाय!
आँसू बन आयी है अजान।

गीतोंने नीरव समाधि ले ली। आकाशकी आँखोंके आँसू तारोंके रूपमें झलक रहे हैं। तारोंकी अपलक व्यथामें आकाशकी करुण-कहानी है। उसी प्रकार हृदयकी अन्तर्भूत भावना परिधि खोकर निस्सीम हो रही है और आँसू ही उस व्यथाके परिचायक हैं। यही तो पीड़ा है कि 'एक स्वप्न बन गयी तुम्हारे प्रेम-मिलनकी बात' और इस घड़ीमें 'कोयलकी यह कोमल पुकार!' कोयल ऐसे स्वर न सुना। आँखोंमें छानेवाले आँसू 'दिलका भेद' कह देते हैं, और 'असहाय हृदयकी हूक' कुछ बूँद आँसू बनकर रह जाती है। यदि यह हृदय असहाय नहीं होता, प्रियको बाहुओंकी सीमामें घेरकर रवि बाबूकी बालिकाकी तरह कह उठता—

'ओ आमि दिबो ना तोमाय' (तुम्हें जाने न दूँगी) लेकिन हृदयमें इतनी शक्ति कहाँ थी जो बाहुओंकी सीमामें घेर रखा जा सके अगर यही सम्भव होता आखिर रोना क्यों आता ? 'अनजान हृदयकी हूक आँसू बन आयी है' और फिर भी 'कोयलकी यह कोमल पुकार !' यह जीवन ही विषादका गीत बन गया है—

आह मेरा गीला गान,
वर्ण-वर्ण है उरका कम्पन,
शब्द-शब्द है सुधिका दंशन
चरण चरण है आह,
कथा है कण-कण करुण अथाह
बूँदमें बाडव का दाह

—पन्त

जीवन तो व्यर्थ वेदना-भार बन रहा है। उसमें आशाओंकी दुनिया बसा ली थी किन्तु आज स्मृतियोंका, आशाओंका संसार लुट चुका है बस 'यह जीवन तो दंशन-सा है, विष सा साँसोंका है उभार'। किसी भाँति उस वेदनाको सुला रखा था, पीड़ाको दबा चुका था, दंशनकी टीस कम पड़ गयीं थी कि सहसा सुन पड़ी 'कोकिलकी यह कोमल पुकार'। भावनाकी इस प्रचण्ड धारामें, अनुभूतिके वेगवान हरहराते प्रवाहमें मनका बाँध बह गया। आँसुओंमें मन बह गया। स्मृतियोंका यह जीवन दंशन-सा है, रह-रहकर पीड़ा होती है, जिस तरह काँटे रह-रहकर चुभते हैं, स्मृतियाँ रह-रहकर टीस पैदा करती हैं और प्रत्येक पल, हरेक घड़ी, हर साँस विष-सी लगती है।

अरी कोकिल ! तूने कहाँ यह राग सीखा ! तेरे इस संगीतमें मेरा अपहृत वैभव छिपा है। मैं वसन्तकी मदिर-वासन्तिकतामें मुग्ध हो जाता था; कविकी वाणी मुखर हो जाती थी, उल्लासके गान फूट पड़ते थे जिसमें उन्माद था, उल्लास था, मादकता थी, बेहोशी थी। तूने मेरे उसी गानको चुरा लिया है। आज मुझसे वह गान छिन गया है, मैं सूना रह गया हूँ और मेरा वह गान तेरे कण्ठसे फूट पड़ा है। मेरा गान ही आज सारे पक्षी गा रहे हैं। केवल एक मैं ही लुटा हुआ रह गया हूँ, मेरे अशेष वैभवसे सभी ऐश्वर्यशाली बन गये हैं, और मैं छूछा रह गया हूँ; मन-धन 'दीन'। यह राग मधुर है इसलिए नहीं कि माधुर्य इसमें स्वयं बसता है। इस रसकी सृष्टि तो मैंने की थी। वह रस तो छिन गया है किन्तु तेरे गानमें वह आ बसा है। कोकिल, तेरे इस निष्ठुर गानमें न जाने कितनी मौन-मधुर, स्मृतियाँ छिपी हैं। स्मृति तो चुपचाप पड़ी थी, समझ रहा था वह सो गयी है, सदाके लिए चली गयी है, किन्तु समझा न था कि वह केवल चुपचाप पड़ी है, सोयी-सी है सोयी नहीं, और सहसा तेरी 'यह कोमल पुकार'। शान्त सरोवरमें जैसे किसीने कङ्कड़ी फेंक दी, जल-राशि चञ्चल और विक्षुब्ध हो उठी। मानस-लहरियाँ सो रही थीं कि तुम्हारी यह मधुर पुकार कानोंमें गूँज उठी, अनेक स्मृतियोंको जगाती और चञ्चल बनाती।

मानव सापेक्ष प्रकृतिकी संवेदनशीलतासे परिचित कविके अन्तरमें कोयलकी कूक हूक पैदा करती है। अनुभूति गहरी हो उठती है और वह एक बार कराह उठता है। अनुभूतिकी इस ठेससे कल्पना सोयी नहीं रह जाती और 'व्योम कुंजों'की विहारिणी 'तारोंकी नीरव समाधि' में कविके डूबे गान देखती है। 'नीरव समाधि'में डूबे गान नीरवताके परिचायक हैं, उनमें मुखरता नहीं, कवि इतना भावाभिभूत

हो उठता है कि उसकी अभिव्यक्ति कुण्ठित होती ज्ञात होती, है यद्यपि इन पंक्तियोंमें अपनी अभिव्यक्तिको साकारता देनेका उसने प्रयास किया है। असहाय हृदयकी हूक 'आँसू बन आयी है' इसमें अपनी विवशता, बेकसी और लाचारीका भाव है। अब रोनेके सिवा और कोई चारा तो नहीं। 'द्विज' की भाँति कविकी यह अनुभूति गम्भीर नहीं ; 'द्विज'की 'अभावकी पूजा'में अभावकी भावात्मकताके दर्शन हैं उसके प्रति मोह है, यहाँ अभाव उस रूपमें नहीं ; अभाव खलता है, व्यथा और पीड़ाकी सृष्टि अवश्य करता है। डा० वर्माकी अनुभूति ऐसी नहीं जो मात्र अनुभूति रूपमें उपस्थित हो, वह कल्पनाका साहचर्य छोड़ नहीं सकती। अनुभूतिकी तीव्रता मनोदशा सूचक कुछ शब्दोंकी सोमामें ही अभिव्यक्षित हो पाती है, और केवल 'आह' 'उफ' करनेवालेमें ही वेदना हो, आवश्यक नहीं। कल्पनाकी उँगलियाँ पकड़ कवि मनोरम चित्र अंकित कर सकता है, इसका आशय है कि उसमें कलागत निस्संगता है, वह अपनी व्यथाको देख पाता है, उसे पहचानता है। द्विजका कवि अपनी अनुभूतिमें इतना मग्न है कि उसमें पर्याप्त निस्संगता नहीं आती। अतः जहाँ एक ओर अनुभूतिकी गम्भीरता, तीव्रता और आवेशके कारण द्विजकी कविता प्राणवती हो जाती है, वहाँ डा० वर्माकी कविता कलात्मक है, सौन्दर्यमयी है। कोयलकी इस पुकारके कारण 'निराला' जैसा उल्लास 'कुमार'के मनमें नहीं जगता, वह वसन्तके नवहर्षका उपहार लेकर नहीं आती; 'पिकस्वर' 'नभ सरसाता नहीं।' पिकीकी इस पंचम पुकारमें वर्ड्सवर्थ जैसी बाल-सुलभ जिज्ञासा और आनन्दोद्रेक भी डा० वर्मामे नही।

> Thrice welcome, darling of the Spring !
> Even yet thou art to me

No bird, but an invisible thing,
A voice, a mystery;

[वसन्तकी प्रिये, तुम्हारा स्वागत है, तुम्हारा स्वागत है; यद्यपि तुम अदृश्य हो और मेरे लिए केवल एक स्वर हो, एक रहस्य हो।]

डा० वर्माके लिए कोकिल केवल गान नहीं, केवल रहस्य नहीं। 'कुमार'का कवि उसे पहचानता है, जानता है उसमें कितनी मोहकता है, कितनी मादकता है। आकाशकी चुपगुप नीरवतामें अपनी ही अनुभूतिका प्रसार वह देखता है। अपने किसी दिनके मधुर गानको पक्षियोंमें पाता है! किन्तु आज उनके कण्ठ रुँधे हैं, वह गा नहीं सकता और उसके गानका ही स्वर सब जगह है, सभी उसके स्वरमें गाते हैं, केवल वही मूक है, अपनी व्यथा प्रियतक पहुँचा नहीं पाता। कितनी लाचारी है, कितनी वेबसी है। इसमें संसारकी क्षणिकता, प्रेम और सौन्दर्यके अस्थायित्वकी चिन्ता उसे नहीं उसके रोनेमें कीट्सकी-सी विवशता भी नहीं, शेली जैसा उद्दाम आवेश भी नहीं, महादेवी जैसी घुलानेवाली सुकुमार करुणा भी नहीं, मीरा जैसा मतवालापन भी नहीं, एक मधुर किन्तु मदिर वेदनाकी झंकार है। वेदनाकी विवृत्यात्मक अभिव्यञ्जना नहीं केवल सुकुमार रेखाओंके द्वारा साकारता देनेका प्रयास है। प्रसादकी भाँति रेखाएँ सूक्ष्म भी नहीं, महादेवीकी भाँति इसमें विशदता भी नहीं, लेकिन मधुर सुकुमारता है। कल्पनाका रूप गीतिकाव्यके लिए उपयुक्त नहीं हुआ करता। पन्तके गीतोंमें कल्पनाके इस व्यापक समावेशके कारण अनुभूतिका आवेश घट जाता है। डा० वर्मामें कल्पना अनुभूतिके साथ इस तरह घुल मिल गयी है कि साधारणतया पाठकको ज्ञात नहीं होता कि वह कल्पनाके चित्र देख रहा है। और

यही इनकी शक्ति है। गीतिकाव्य संगीतात्मक है अतः छन्द-गत प्रवाहका निर्वाह आवश्यक है। 'कोयलकी पुकार' में मादकता है, कारण न जाने 'कितने मधुसिक्त वसन्तों'ने इसे मधुर किया है ; प्रवाहमें तीव्रता अतः अपेक्षित है, ऐसी अवस्थामें अपहृत, स्मृति और निठुरमें प्रवाहकी बाधकता आ जाती है यद्यपि मैं मानता हूँ निष्ठुर पर 'स्वर' के रुकनेसे है निष्ठुरताकी ओर सहसा ध्यान चला जाता है। 'अज्ञान' और 'महान' शब्द चित्रोंकी सांकेतिकतामें कोई सहायता नहीं देते। करुणा यहाँ प्राणोंमें घुली मिली नहीं है, डा० वर्मा सौन्दर्यके कवि हैं, जिसमें उद्दाम वासना नहीं, कठोर संयम भी नहीं; आवेशका तीव्र दंशन नहीं, भावनाका कल्पनात्मक अभिव्यञ्जन है जिसमें कलाकारकी निस्संगता और संवेदनशीलता है।

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

हो जाय न पथमें रात कहीं
मंजिल भी है दूर नहीं—
यह सोच थका दिनका पंथी भी जल्दी-जल्दी चलता है।
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

बच्चे प्रत्याशामें होंगे,
नीड़ोंसे झाँक रहे होंगे—
यह ध्यान परोंमें चिड़ियोंके भरता कितनी चंचलता है !
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

मुझसे मिलनेको कौन विकल ?
मैं होऊँ किसके हित चंचल ?
यह प्रश्न शिथिल करता पदको भरता उरमें विह्वलता है !
दिन जल्दी जल्दी ढलता है !

—बच्चन

सन्ध्याकी अरुणाभ धूमिल छाया कोलाहाल परिपूर्ण जीवनकी विश्रान्तिका परिचय अपने अन्तरमें छिपाये आती है। प्रकृतिमें जहाँ जीवनके उल्लासके चित्र हैं, वहाँ निराशाकी घटाओंका घटाटोप भी है। प्रकृतिकी संवेदनशीलता मानव-सापेक्ष है, मनुष्य अपने अन्तरका प्रतिबिम्ब प्रकृतिके दर्पणमें देखता है। सन्ध्याकी घनी छाया छाती आ रही है। दिन ढलता जा रहा है, धूप छिपनेपर है, कहीं राहमें ही रात न हो जाय, फिर यहीं कहीं रात काटनी पड़ेगी। अगर पैर जल्दी करें घर पहुँचा जा सकता है, कारण मंजिल दूर नहीं। अगर मंजिल दूर होती, चिन्ता क्या थी, यहीं कहीं रात बिता ली जाती। इतना समीप आकर राहमें टिकते नहीं बनता और सन्ध्या घिरती आ रही है, जल्द अँधेरा हो जायगा और फिर उस अन्धकारमें एक पग बढ़ाना सम्भव नहीं होगा। इसलिए थके पंथीके प्राण आकुल हैं, उसके पग चञ्चल हैं और है पद-गति चञ्चल। किसी प्रकार गन्तव्य स्थानपर पहुँचना होगा, पहुँचना ही होगा। और इधर 'अब रात नभसे उतरती' अतः—

यह सोच थका दिनका पंथी भी जल्दी जल्दी चलता है।

दिनभर चलनेके कारण उसके पैर थक चुके हैं, पद-गति शिथिल हो चुकी है, चलनेकी इच्छा नहीं, किन्तु वह जल्द-जल्द अपने डग भर रहा है

'हो जाय न पथमें रात कहीं' और चिन्ता तो यह है कि 'मंज़िल भी है दूर नहीं'। पथिककी इस चञ्चलतामें कितनी तीव्रता है। कविका मन भी पथिकके साथ उड़ चलना चाहता है।

सन्ध्या हो चली माता-पिता चञ्चु-पटलमें दाने भरकर लौट रहे होंगे। न जाने कितनी दूर वे निकल गये होंगे। सन्ध्या हो चली, किन्तु वे लौटे नहीं। आह, सूरज भी डूब चला और वे लौटे नहीं। बच्चोंके मनकी आशंका और प्रतीक्षा आकुल बनकर नीड़ोंसे झाँक पड़ती है। उधर माता-पिता सोच रहे हैं, बच्चे आकुल प्रतीक्षा कर रहे होंगे; बार-बार नीड़ोंसे झाँक-झाँक आसमानकी ओर देख रहे होंगे और इधर सन्ध्या हो गयी। अन्धकार बढ़ता जाता है और इस अन्धकारके साथ ही बच्चोंकी आकुलता बढ़ रही होगी। कहीं और देर हो गयी तो बच्चोंके प्राण सूख पड़ेंगे। दिनभर उन्हें भोजन न मिला होगा। माता-पिता लौटकर उनके चञ्चु-पटलमें दो दाने डाल देंगे और उनके पङ्खोंके नीचे बच्चे सुखकी नींद सो सकेंगे इसीलिए—

यह ध्यान परोंमें चिड़ियोंके भरता कितनी चंचलता है।

'बीत चली सन्ध्या की वेला'

और

बच्चे प्रत्याशामें होंगे
नीड़ोंसे झाँक रहे होंगे।

पंथी सोचता है, उसकी उन्मन प्रिया द्वारपर आकुल प्रतीक्षामें खड़ी होगी, आँखोंमें आँसू और होठोंपर करुण-विषाद होगा। सन्ध्याकी अन्तिम किरणें उसके अलकोंसे उलझ रही होंगी। यदि

राहमें ही अन्धकार नहीं हो जाय, यदि रात उसको मार्गमें अड़े नहीं, वह एकाकिनी प्रियातक पहुँच सकेगा। उसकी विषादभरी आँखोंमें प्रेम और मिलनके आँसू छल-छला पड़ेंगे, होठोंपर मधुर मुस्कान खिल पड़ेगी और प्रियाकी आकांक्षा पूरी होगी। प्रियाका यह ध्यान ही उसके पैरोंको गति देता है, उन शिथिल चरणोंकी गतिका कारण यही भावना है। दिनको जल्दी-जल्दी ढलते देख पंथीको गति-चपलता और पक्षियोंके परोंकी चञ्चलता देख कविके पैर भी स्वयं उठ पड़ते हैं, वह भी तेज चलने लगता है, किन्तु उसकी दशा उस भटके, अकेले पंछीकी भाँति है—

> अन्तरिक्षमें आकुल, आतुर
> कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
> पंथ नीड़का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक अकेला

और सन्ध्याकी वेला बीत चली, अन्धकार छाता जा रहा है, हाय! 'चल बसी सन्ध्या गगनसे'। सहसा उसके पैर सहम जाते हैं, आखिर उसके पैरोंमें गति क्यों? गतिमें चञ्चलता क्यों? और मन एक बार विषादसे भर जाता है। पंथी विकल है कि उसकी प्रिया उसकी आकुल-प्रतीक्षा कर रही होगी, पंछी चञ्चल हैं कि उनके बच्चोंका धीरज छूट रहा होगा। आखिर कौन ऐसा है जो उसकी प्रतीक्षा कर रहा हो? उसका नीड़ उजड़ चुका है। नीड़ अब है ही कहाँ? न तो उसकी प्रिया ही है, और न बच्चे ही हैं जो उसकी प्रतीक्षा करते होंगे। हाय, यह जीवन भी कैसा मरुस्थल है जिसमें अब कोई आशा नहीं, आकांक्षा नहीं। विस्तृत मरुभूमि-सा जीवन है जिसमें आशाओंके अंकुर उगते नहीं, अभिलाषाके पौदे पनपते नहीं, यहाँ तो निराशाका ताप है, अनन्त ताप! कहीं कोई प्रतीक्षा करनेवाली होती उससे मिलनेके लिए जल्द-जल्द भागनेमें कितना

आनन्द आता ; उसमें कितना स्वाद आता किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, य शक्य नहीं। किन्तु सभी दिन ऐसे नहीं थे, एक ऐसा भी समय था ज रातके आँगनमें आशाओंके दीप जलते थे, जब मिलनका यह पर्व था। यह जीवन सदासे ऊसर मरुभूमि ही नहीं था इसमें आशाओं और अर मानोंकी बस्ती थी किन्तु आज विस्तृत व फैली बालुका-राशि है, मात्र बालुकाराशि, जिसमें स्नेहकी रस-सिञ्चित धारा नहीं।

अन्धकार बढ़ता जा रहा है, एकाकी मग है कोई संगी नहीं, साथी नहीं, अतः—

> डर न लगे सुनसान सड़कपर,
> इसीलिए कुछ ऊँचा स्वर कर
> विलग साथियोंसे हो कोई पथिक, सुनो गाता आता है।

इनमें एकाकी अकेले पथिककी अन्तर्वेदनाका स्वर है। दिवंगता 'प्रियाके अभावमें कवि बच्चनकी निराशा हृदयमें अँटती नहीं'। यह पीड़ा, यह अनुभूति कुछ इतनी और ऐसी तीव्र है कि उसकी व्यथा [illegible] नहीं आ जाता—

> दर्दका हदसे गुजरना है दवा हो जाना।

इसीलिए उसके [illegible] उठ पड़ते हैं और वह जल्दी जल्दी [illegible] है कि [illegible]—

> 'मुझसे मिलनेको कौन विकल ?
> मैं होऊँ किसके हित चंचल ?' का ध्यान आता है।

[illegible] दिन [illegible] उसकी भी प्रतीक्षा करती होगी, अतः

उसके पैर जल्द जल्द उठ रहे हैं। पंछीके बच्चे नीड़ोंमें आशाओंसे भरे इन्तजार कर रहे होंगे इसलिए उनके परोंमें चञ्चलता है। पर कौन ऐसा है, जो उससे मिलनेको विकल है ? एक दिन ऐसा था जब उसकी प्रतीक्षामें आँखें बिछानेवाला कोई था मगर वह दुनिया उजड़ चुकी है और वह प्रिया न जाने कहाँ कितनी दूर किस देशमें जा बसी है। एक ऐसा भी दिन था जब उसने नयी निराली दुनिया बसायी थी जो—

भावनाओंसे विनिर्मित

कल्पनाओंसे सुसज्जित थी किन्तु वह वैसी नहीं रही और आज—

'कर चुकी मेरे हृदयका स्वप्न चकनाचूर दुनिया !'

इस दुनियामें उसने असंख्य स्वप्न पाल रखे थे, अरमानों, आशाओं और अभिलाषाओंका संसार उसने बसा रखा था। उसने समझा था 'प्यार अमर' है शाश्वत है, चिरन्तन है किन्तु—

समझा तूने प्यार अमर है,
तूने पाया वह नश्वर है,
छोटेसे जीवन से की है तूने बड़ीबड़ी प्रत्याशा !

पर किसीकी आशा पूरी कहाँ हुई है ! और उसी प्रकार कविकी बसी बसायी दुनिया भी उजड़ जाती है। दूसरोंको घर लौटते देख उसके पैर अनायास, अभ्यासवश घरकी ओर चल पड़ते हैं; किन्तु सहसा उसे ध्यान आता है—

मुझसे मिलनेको कौन विकल,
मैं किसके हित होऊँ चंचल,

और सहसा 'यह प्रश्न शिथिल करता पगको' एवं 'भरता कितनी विह्वलता' है। जो व्यथा, जो पीड़ा अनुभूतिकी तीव्रताके कारण दृष्टिसे ओझल हो गयी, जिसकी अनुभूति, मालूम पड़ता था, शेष नहीं रह गयी, इस प्रश्नके उठनेके कारण और तीव्र सजग तथा सतेज हो जाती है। सारा संसार शीघ्रता कर रहा है, केवल उसके पैर शिथिल और विजड़ित हैं। वह पूछता है—किसके लिए मिलनेको विकल होऊँ, कौन ऐसा है जो मिलनेकी प्रतीक्षामें आतुर है ? और उत्तर है—कोई नहीं, कोई नहीं। और—

यह प्रश्न शिथिल करता पगको भरता कितनी विह्वलता है !

उल्लाससे उल्लसित होनेवाले जीवनमें विषादकी विह्वलता और सघन हो उठती है। इस वेदनामें भावोन्माद है, अनुभूतिकी तीव्रता है और अभिव्यक्तिका सहज, सरल प्रवाह है। पंथी और पंछीकी चञ्चलता कविको निराशा और व्यथाकी भूमिकाके रूपमें है। प्रकृतिका विविध रंगरञ्जित यहाँ चित्र भी नहीं, मानव-सापेक्ष संवेदनशीलता और भाव-प्रवणता भी नहीं, कल्पनाकी व्योम-कुंज विहारिणी उड़ान भी नहीं। पंथी और पंछीके चित्रोंमें रागात्मकता और संगीतका संतुलन है। कल्पना इन चित्रोंमें रंग भरती है और अनुभूतिको तीव्र करनेमें सहायक होती है। इसमें न किसी 'वाद' का विवाद है और न किसी 'पन' की 'पनपनाहट'। चञ्चलताकी पृष्ठभूमिपर शिथिल थके चरणोंकी मन्दता और बेबसी, लाचारीका करुण-विषाद चित्र है। वह संसारको देखना नहीं चाहता, उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी है, जहाँ उसकी मात्र वेदना ही सत्य है; 'कवि अपनी आकुलवाणीसे अपना व्याकुल मन बहलाता' है। मनकी करुण-व्यथामें कल्पनाके सजीव चित्र हैं, कोमल और सुकुमार।

महादेवीकी व्यथामें उफान नहीं; अचञ्चल दीपककी मधुर लौ है स्निग्ध एवं सरल। निरालाकी परुषता अनिर्वचनीय है। बच्चनकी व्यथा वैयक्तिक है, वह इन सभीसे भिन्न है, जिसमें विषादकी गम्भीरतामें भी सरलता है, जीवनगत परिस्थितियोंके अनूठे और मोहक चित्र हैं। इस गीतका सौकुमार्य इसकी शब्द-शक्तिमें है। 'गजल' की पद्धतिके अनुकरणके कारण ही नहीं बल्कि अपनी सहज प्रकृति और सरल प्रवृत्तिके कारण इसमें भाषा-सारल्य और प्रसादकता है। पन्त जैसी क्लिष्ट और निराला जैसी परुष-कोमल, शब्दावली नहीं। न तो संस्कृतका मोह है और न फारसीकी चिन्ता। चित्रोंमें महादेवी जैसी अस्पष्टता भी नहीं। गुप्तजी-की भाँति सङ्गीत और शब्दमें व्यवधान भी नहीं। सङ्गीत जैसे अन्तः-सलिला सरस्वतीकी भाँति फूट पड़नेवाला है। भाषाकी यह सफाई बच्चनकी अपनी विशेषता है। क्लिष्ट कल्पना, अलङ्कारत्व-विधान रागानुभूतिकी परिक्षीणताका परिचायक होता है; बच्चनके इस गीतमें इनका आवेश नहीं। एक ही भावनाका विस्तार है अतः दुहरे व्यक्तित्व अथवा सङ्घर्षपूर्ण मानसिक अवस्थाका विश्लेषण नहीं। कविकी अनुभूति केवल अपने उपयुक्त चित्र सँवार लेती है, जिसमें सङ्गीत है, माधुर्यपूर्ण करुण-प्रवाह है। शब्द और सङ्गीत, भावना और अनुभूतिका समन्वय है। कविके साथ कहनेकी इच्छा होती है—

यह प्रश्न शिथिल करता पगको भरता कितनी विह्वलता है।

'जल्दी जल्दी' में जिस प्रकार उच्चारणद्वारा शीघ्रताका भान होता है उसी प्रकार 'शिथिल' और 'विह्वलता' में धीमा पद-क्षेप है। ज्ञात होता है चलनेमें अधिक श्रम होता है, पैर उठते नहीं, गति

पश्चिम नभमें कोलाहल कर मेघ उठे सखि काले काले

१

नाच रहे उसपार क्षितिजपर आज मगन मन डगमग-डगमग
हलचल मचा रहे हैं उड़कर पंछी-दलसे मेघोंके दल
मेघाच्छित है मन्त्रमुग्ध है जल-थल गगन अखिल भूमण्डल
उमड़ उठा नद चलीं हिलोरें आज गगनका सागर चञ्चल
सारा जग दोलायमान है ज्यों सागरमें लहर उछाले
पश्चिम नभमें धूम मचाकर मेघ उठे सखि, काले काले

२

आँखें चमक उठीं मस्तीसे मन्त्रमुग्ध प्यासी वसुधाकी
पायी उसने बूँद-बूँदमें एक अनूठी झलक सुधाकी
एक ओर जलधार प्रवाहित एक ओर बूँदोंकी झाँकी
मेघोंमें लुक छिपकर कोई सुरा उँडेल रहा है साकी
झूम रहे हैं पावस-रसमें कुञ्ज-लता तरुवर मतवाले
नभ-मण्डलमें द्वन्द बाँधकर मेघ उठे सखि काले काले

३

नीचे छायी है हरियाली, श्याम मेघमाला है ऊपर
नभमें गरज रहे हैं बादल थिरक रही हैं बूँदें भूपर

कविके मनमें एक प्रश्न यह चिन्तित करता है उठ-उठकर
किस प्रियका यह गर्जन-तर्जन कौन प्रियाका आँसू झर-झर
आँखों-आँखोंमें हँसते हैं 'पी पी' रटन लगानेवाले
नील गगनमें उमड़ घुमड़कर मेघ उठे सखि काले काले

—गोपालसिंह नेपाली

सन्ध्याकी रक्ताभा निगलते हुए काले-काले मेघ उमड़ते आ रहे हैं। 'असीम नभमें' कोलाहल कर उठनेमें सन्ध्याका सङ्केत है, उमड़ते मेघोंके दल झुन्द बाँधकर आ रहे हैं। अन्धकार उमड़ता चला आ रहा है। पक्षियोंके उड़ते समूहका-सा कलरव नीले आकाशको परिव्याप्त कर रहा है। नील-गगन आज समुद्रका-सा दृश्य उपस्थित कर रहा है। मालूम पड़ता, जैसे सागरमें ज्वार आ गया है। हिलोरें उठ रही हैं। आखिर आकाशकी इस हलचलमें भी सागरके तरल क्षुब्ध हृदयका आभास है। सागरका जल ही तो मेघ बनकर आकाशमें हलचल है। कविका हृदय भी उल्लसित हो उठता है। सन्ध्याकी वेला है, न जाने मनमें कितनी आशाएँ, आकांक्षाएँ धूम मचाकर उमड़नेवाले मेघोंकी भाँति हृदय-नभको आन्दोलित कर रही होंगी। चारो ओर रस उमड़ पड़ा है, हरियाली झलक पड़ी है। बूँदें छलक-छलक मस्ती और बेहोशीकी घड़ियाँ ला रही हैं। कुञ्जकी लताएँ और पेड़ मस्तीमें झूम रहे हैं। सर्वत्र नवीन आशा, अभिलाषाएँ अंकुरित हो रही हैं। कविके उद्वेगमें विरहकी वेदना नहीं, मीठी 'पीर' की कसक नहीं। सन्ध्याकी निकटतामें उसके मनमें 'मुझसे मिलनेको कौन विकल' की याद नहीं जगती, उसके पग भी शिथिल नहीं होते। मेघोंका यह उमड़ना देख सूरकी गोपियोंकी भाँति भी वह नहीं कहता—

हाँ होगी निस्सन्देह,
आज सदा सुख छाया होगा कानन-गेह
आज अनिश्चित पूरा होगा श्रमित प्रवास
आज मिटेगी व्याकुल श्यामाके अधरोंकी प्यास ! [illegible]

—निराला

यह पन्तजीकी सन्ध्या जैसी सन्ध्या नहीं, जो 'निज सुन्दर [illegible] आँचल' देकर विदा हो जाय । पन्तके [illegible] मनकी [illegible] [illegible] सन्ध्या अभिभूत है । सुकुमार कल्पनाशील पन्त इसके, [illegible] उमड़े बादलोंकी शोभा मुग्धमनसे देखते हैं । यहाँ स्वस्थ कविकी स्वस्थ कल्पनाका आकार लेकर 'मेघ जुटे सखि काले काले' । ध्वनिमें न तो विरह-जनित वेदना है और न मिलनका हर्षोल्लास । अधरोंपर हल्की हँसीकी झलक है । मेघोंके उमड़नेके कारण उसका मन उमड़ा नहीं

पड़ता बल्कि उसकी सौन्दर्यिक अनुभूति और कल्पना जग पड़ती है। उसमें 'आँखों आँखोंमें हँसते हैं 'पी पी' रटन लगानेवालों' जैसी अनुभूति है ; वह बादलोंको देख 'विरही यक्ष' की भाँति अधीर नहीं होता। अपने आँसुओंसे धराका आँचल भिगोता नहीं, अथवा केवल दिखानेके लिए हर्षोल्लासका अभिनय भी नहीं करता। वह अपनी भावनाके प्रति ईमानदार है क्योंकि 'देखा-देखी हम जी न सके देखा-देखी हम मर न सके।' नेपालीका द्रष्टा प्रकृतिसे अपनेको भिन्न रखकर उस सौन्दर्यका आनन्द लेता है। कारण सौन्दर्य आनन्दका अजस्र स्रोत है (A thing of beauty is joy for ever : Keats) महादेवी जैसा करुण-मधुर भाव भी नेपालीमें नहीं है। यहाँ सौन्दर्यके प्रति आकर्षण और उन्मेष है। सन्ध्याके उमड़ते मेघ मध्यकालीन कवियोंके उद्दीपन भी नहीं, और न शुद्ध आलम्बन ही है। केवल बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव जाग्रत करना ही इनका ध्येय नहीं। कविके सहज संक्षोभ्य मानसकी सहज सुकुमार किन्तु कलात्मक अभिव्यञ्जना है। रामकुमार वर्मामें सौन्दर्यके प्रति पूरा आकर्षण है किन्तु उनमें नेपाली जैसी निस्संगता नहीं अपितु संलग्नता है। डा० वर्माके गीतोंमें अतः रागात्मक आवेश है और नेपालीके इन गीतोंमें सौन्दर्यात्मक राग। रवि बाबू जैसा औत्सुक्य और रहस्यात्मक आवेश भी नेपालीमें नहीं है; उसमें मुग्धता, उन्मेष और झीना-सा आवेश है।

कविका न बँधनेवाला मन इन गीतोंमें बँध नहीं सका है किन्तु उद्दाम, अन्ध आवेग नहीं अतः भाषा जहाँ सुकुमार है वहाँ संयत भी। निरालाके प्रचण्ड व्यक्तित्वकी छाप उनकी अनुभूति शैलीके माध्यमसे छलक पड़ती है। पन्तकी सुकुमार कल्पनामें स्वप्निल आवेशकी अभिव्यञ्जना है। नेपालीकी शैलीमें 'निर्जीपन' है। संयम और सन्तुलनके साथ ही शैलीमें पार्वत्य-प्रदेशका थोड़ा ऊबड़खाबड़पन और पहाड़ी

धाराका वेग भी है। नेपालीकी शैलीमें ऐसा नहीं लगता कि कविने शब्दोंकी छान-बीन करके चुन चुनकर शब्द रखे हैं। ऐसा लगता है उसके शस्त्रागारमें जो शस्त्र हैं उन्हें निकाल-निकालकर प्रयोग करता है, वह चुनता नहीं, जो शस्त्र हाथ पड़ते हैं, उनका प्रयोग करता है। 'सारा जग दोलायमान है ज्यों सागरमें लहर उछाले' में वेग, तीव्रता है किन्तु उछाले' की सङ्गतिहीन सार्थकतामें उसके मस्त व्यक्तित्वकी झलक है। इसी प्रकार 'झूम रहे हैं पावस रसमें कुञ्ज-लता तरुवर मतवाले' में व्यञ्जना-शक्तिका अभाव नहीं। रस-मग्नताकी भावनाभिव्यक्ति इसमें होती है किन्तु 'रस' में कुञ्ज-लता तरुवर मतवाले हैं, इससे रसके भीतर बूड़नेकी भावना भी अभिव्यक्त हो जाती है।